दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना

[एम० ए० अन्त्य के चतुर्थ प्रश्नपत्र के लिए स्वीकृत प्रबन्ध]

सुनीति
एम० ए०, साहित्यरत्न, रिसर्च स्कॉलर
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद (आं० प्र०)

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
शिक्षा-साहित्य के प्रकाशक, आगरा-३

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना

[एम० ए० अन्त्य के चतुर्थ प्रश्नपत्र के लिए स्वीकृत प्रबन्ध]

सुनीति
एम०. ए०, साहित्यरत्न, रिसर्च स्कॉलर
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद (आं० प्र०)

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
शिक्षा-साहित्य के प्रकाशक, आगरा-३

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
अस्पताल मार्ग, आगरा-३ ।

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :
अग्रेशिया प्रिन्टर्स, आगरा ।

सश्रद्ध

नन्हे जीवन की प्रथम उषा में राष्ट्रीयता की रश्मियों से सिञ्चित करने वाले स्व० चाचा श्यामलालजी वकील (हाईकोर्ट) के अदृश्य चरणों में !

जो हैदराबाद की कारा में निजामशाही के हाथों हलाहल विष का प्याला पी राष्ट्र की बलिवेदी पर झूल गये !

प्रकाशकीय

दिनकर का राष्ट्रीय काव्य समाज का दर्पण ही नहीं वरन् पथ-प्रदर्शक भी है। प्रस्तुत प्रबन्ध में सुयोग्य लेखिका ने दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं को एक लड़ी में पिरो दिया है। दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं के अन्तर तक पहुँच कर उनके काव्य का जो सुन्दर विवेचन किया गया है, वह सर्वथा स्वतन्त्र एवं गम्भीर अनुशीलन को लेकर निखर उठा है।

कालचक्र का निर्माण दिनकर द्वारा ही सम्भाव्य है किन्तु लेखिका ने कालचक्र में 'दिनकर' के काव्य को गूँथ कर अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। लेखिका ने जिस अथक परिश्रम से दिनकर के काव्य का परिशीलन किया है, वह निश्चय ही हिन्दी-काव्य पर शोध-कार्य करने वालों के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

अद्यावधि इतने अधिक विस्तार से दिनकर के राष्ट्रीय काव्य पर किया जाने वाला यह प्रथम अनुशीलन है। इसमें लेखिका के मौलिक मनन व स्वतन्त्र चिन्तन ने एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया है, ऐसा हमारा विश्वास है।

पुस्तक का मूल्यांकन सुविज्ञ पाठक स्वयं ही करेंगे।

भूमिका

दिनकर आधुनिक भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय भावना के सजग प्रहरी हैं। इस शताब्दी का तीसरा दशक, जब कवि की काव्य साधना प्रारम्भ हुई, इस देश में सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण का युग था। गांधीजी के नेतृत्व में विदेशी शासन के विरुद्ध चलने वाले संघर्षों के कारण समूचे देश में नयी चेतना का स्पन्दन था। किन्तु उस युग में भारतीय काव्य की मंदाकिनी, आकाश-गंगा के रूप में यथार्थ के धरातल से दूर प्रकृति एवं नारी के सौन्दर्य और लौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेम परक भावनाओं की तारिकाओं से तरंगायित थी। उस युग का कवि यथार्थ से आँख मूँदकर कल्पना के लोक में विचर रहा था। उसमें देश और समाज की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व का मोह अधिक था। काव्य में व्यक्तिगत निराशा, वेदना आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति का स्वर मुखर था।

ऐसे युग में हिन्दी साहित्य के आकाश में दिनकर का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने हिन्दी काव्य धारा को छायावाद के कुहासे से बाहर निकाल कर नई चेतना एवं स्फूर्ति प्रदान की। उन्होंने काव्य को कल्पना के आकाश से उतार कर यथार्थ के धरातल पर खड़ा किया। गरीबी के बोझ से दबी हुई, धार्मिक एवं सामाजिक बन्धनों में बँधी हुई भारतीय जनता को उन्होंने समीप से देखा और उन बन्धनों पर पूरी शक्ति से प्रहार किया।

सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता दिनकर के काव्य की प्राण शक्ति है। सन् १९३९ में प्रकाशित 'हुंकार' को उन्होंने युगधर्म की हुंकार कहा है। किन्तु सच तो यह है कि दिनकर के समूचे काव्य में दिनकर का युग बोल रहा है। उनके कवि ने वर्तमान के कण्टकाकीर्ण धरातल पर खड़े होकर अतीत का स्मरण किया है और भविष्य का स्वप्न देखा है। कवि ने 'रेणुका' के मंगल आह्वान में अपने स्वर में तीनों कालों को ध्वनित करने का संकल्प लिया है क्योंकि उसे विश्वास है कि भूत की स्मृति और भविष्य की आशा वर्तमान को शक्ति प्रदान कर सकेगी :

गत विभूति भावी की आशा, ले युग धर्म पुकार उठे
सिंहों की घन अन्ध गुहा में जागृति की हुंकार उठे।

वह वर्तमान के चित्रपट पर अतीत गौरव को साकार करने के लिए इतिहास का सहारा लेता है। 'रेणुका', 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कविताओं में कवि राष्ट्रीय जीवन में जागृति का मंत्र फूँकने के लिए देश के अतीत का भाव विभोर होकर स्मरण करता है। वह हिमालय के शिखरों से देश की वर्तमान अधोगति का कारण पूछता है और गंगा की लहरों में स्वर्णिम अतीत का संगीत सुनता है। वह देश के

महान् व्यक्तियों, उनके शौर्य, साहस एवं त्याग के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है और नालंदा एवं वैशाली के खण्डहरों पर आँसू बहाता है। इन काव्य संग्रहों में देश की तत्कालीन परिस्थिति एवं समस्याओं का मार्मिक चित्रण है। कृषकों एवं श्रमिकों की दयनीय स्थिति एवं विवशता, सामाजिक विषमता, छुआछूत की भावना एवं विदेशी शासन से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का हृदयस्पर्शी चित्रण इन काव्य संग्रहों की विशेषता है। वह सभी प्रकार की विषमताओं के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान करता है। न केवल अपने देश में बल्कि धरती के प्रत्येक छोर में, प्रत्येक युग एवं काल में, अन्याय अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध क्रान्ति का स्वर ऊँचा करता है। दिनकर महात्मा गांधी के महान् व्यक्तित्व के प्रशंसक हैं किन्तु उन्हें गांधी जी की अहिंसा की नीति से संतोष नहीं है। 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कई कविताओं में उनकी यह भावना व्यक्त हुई है किन्तु फिर भी देश की अपनी समस्याओं का समाधान इस देश की मिट्टी से ही होगा। साम्यवाद के नाम पर मास्को की ओर देखने वाले लोगों को संबोधित करते हुए वे 'सामधेनी' की एक कविता में कहते हैं—

अर्जित करो समिध आओ हे ! समता के अभिमानी।
इसी कुण्ड से निकलेगी भारत की लाल भवानी॥

इन संग्रहों की अधिकांश कविताओं में राष्ट्र की तत्कालीन समस्याओं एवं उनके समाधान से सम्बन्ध रखने वाली भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु कवि की दृष्टि अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के प्रति बन्द नहीं है। प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात् विश्व की सबसे बड़ी समस्या अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की होड़ थी। संसार की सभ्य कही जाने वाली जातियाँ दूसरों के संहार के लिए अपने पूरे साधनों का उपयोग भयंकर अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में कर रही थीं। उनकी युद्धलिप्सा मानवता के संहार पर तुली हुई थी। कवि 'रेणुका' की कस्मै देवाय शीर्षक कविता में ऐसे लोगों की भर्त्सना करते हुए अस्त्र-शस्त्रों के होड़ की निन्दा करता है और उसके भयंकर परिणामों की ओर संकेत करता है।

युद्ध एवं उसकी समस्याओं का तर्कपूर्ण विवेचन 'कुरुक्षेत्र' में किया गया है। इतिहास के माध्यम से इस काव्य में आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्या युद्ध, उसके औचित्य-अनौचित्य एवं परिणामों पर विचार किया गया है। 'कुरुक्षेत्र' की रचना द्वितीय महायुद्ध की पृष्ठभूमि में हुई। कवि की दृष्टि एक ओर युद्ध के भयंकर परिणामों की ओर थी, दूसरी ओर नेता जी के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज द्वारा देश की स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयत्नों की ओर। स्वभावतः इस काव्य में युद्ध के दोनों पक्षों का तर्कपूर्ण विवेचन हुआ है। इस काव्य में भीष्म उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो युद्ध को आवश्यक एवं अनिवार्य मानते हैं और युधिष्ठिर उस वर्ग का जो युद्ध के भयंकर परिणामों से विरक्त और भयभीत हैं। कवि की

दृष्टि में युद्ध पाप-पुण्य से परे चिरशुद्ध है। युद्ध में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति समूह या राष्ट्र के उद्देश्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य के कारण उसे पुण्य अथवा पाप का रूप प्राप्त हो जाता है। युद्ध सम्बन्धी इसी भावना का विकास हमें परशुराम की प्रतीक्षा में दिखाई पड़ता है। चीनी आक्रमण के समय कवि युद्ध को धर्म समझकर राष्ट्र को युद्ध के लिए ललकारता है। वह अनुभव करता है कि पंचशील के शान्ति सिद्धान्तों को भी तभी सफलता मिलेगी जब देश में शक्ति होगी—

ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप से मिलती है,
जब पहरे पर धनुर्धर राम खड़े होते हैं।

कवि का विश्वास है कि आज का युद्ध केवल सरहद पर नहीं लड़ा जा सकता, युद्ध में सब का सहयोग अपेक्षित है। केवल सैनिकों का ही बलिदान पर्याप्त नहीं है, सभी को अपने-अपने कार्यक्षेत्र में बलिदान करना होगा—

सरहद पर ही नहीं मोरचे खुले हुए हैं,
खेतों में खलिहान बैठकों बाजारों में।

ब्राह्मण धर्म एवं क्षात्र धर्म की समन्विति में ही देश का कल्याण है। कवि का विश्वास है कि भावी भारत का निर्माण एक ऐसे आदर्श से होगा जिसके एक हाथ में शक्ति और दूसरे में त्याग है। वह भारत के भाग्य पुरुष को परशुराम के रूप में देखना चाहता है—

है एक हाथ में परशु एक में कुश है,
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है।

देश की स्वतंत्रता के बाद बहुत से प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवियों का भी ध्यान जनता की समस्याओं की ओर से हटा और उनकी साधना अन्तर्मुखी हो गयी। सम्भवतः उनकी धारणा थी कि स्वतन्त्रता की जादू की छड़ी से समस्याएँ अपने आप समाप्त हो जायेंगी। किन्तु दिनकर ने स्वातंत्र्योत्तरकालीन समस्याओं को अनुभव किया और एक विचारक के रूप में उनका समाधान भी प्रस्तुत किया। 'धूप और धुआँ', 'नील कुसुम' आदि काव्य संग्रहों में गत दो दशकों में देश की परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रिया का मार्मिक अंकन हुआ है। कवि ने देश की स्वतन्त्रता पर एक ओर प्रसन्नता व्यक्त की, दूसरी ओर भावी समस्याओं का अनुमान करके आजादी को देश के नेतृत्व के लिए एक चुनौती बताया—

आजादी नहीं चुनौती है यह बीड़ा कौन उठायेगा,
खुल गया द्वार पर कौन देश को मंदिर तक पहुँचाएगा।

स्वतन्त्रता के बाद देश के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये। गांधी जी की हत्या, चीन एवं पाकिस्तान के आक्रमण, राष्ट्रनेता पं० नेहरू एवं लाल बहादुर शास्त्री की

मृत्यु से समूचा देश मर्माहत हो उठा। इन सभी अवसरों पर दिनकर ने अपनी कविताओं में देश की जनता को वाणी दी। गांधी जी के अहिंसा के सिद्धान्तों को कभी उन्होंने पसंद नहीं किया। किन्तु गांधी जी की हत्या पर उन्होंने भाव विभोर होकर श्रद्धांजलि अर्पित की। उन्होंने गांधी जी को 'मानवता का आधार' और 'मनुजता का शृंगार' कहा और उनकी अरथी को 'भारत माता की अरथी' कहा। 'समर शेष है' और 'एनार्की' कविताओं में स्वतंत्रता के बाद देश में फैली दुर्व्यवस्था एवं अराजकता का यथातथ्य चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है। भ्रष्टाचार, अनुशासन हीनता, जातिवाद एवं आर्थिक शोषण के कारण किस प्रकार स्वतंत्रता की जड़ें खोखली हो गयी हैं, इसका मार्मिक चित्रण इन कविताओं में हुआ है। इस काल की अपनी कई कविताओं में कवि ने वर्तमान परिस्थितियों के प्रति जनता के असंतोष को व्यक्त किया है और शासकों को सावधान किया है। 'दिल्ली' शीर्षक कविता में दिनकर ने उस क्रान्ति की ओर संकेत किया है जिसका थोड़ा सा आभास हमें गत चुनाव में मिला है—

तो होश करो दिल्ली के देवो ! होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है।
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की साँसे,
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।

कवि के स्वर में दृढ़ता है। वह देश के भविष्य के प्रति आशावादी है। आशा एवं विश्वास का स्वर उसकी प्रारम्भिक कविताओं में भी है किन्तु 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उसमें और दृढ़ता आ गयी है। उसे विश्वास है कि मातृभूमि पर आने वाली प्रत्येक विपत्ति उसे शक्ति प्रदान करेगी। वह चीनी आक्रमण को अभिशाप नहीं वरदान समझता है और अनुभव करता है कि इससे देश की सोई हुई चेतना जगेगी। शिला पर यदि निरन्तर चोटें पड़ती रहीं तो निश्चय ही उसकी जड़ता समाप्त होगी और उससे शक्ति और ओज की धारा फूटेगी। कवि भविष्य में अपने राष्ट्र को एक महान् आदर्श राष्ट्र के रूप में देखना चाहता है। जहाँ ऊंच-नीच, जात पाँत, धनी-निर्धन का भेद नहीं होगा। जहाँ विज्ञान-धर्म का, समृद्धि और त्याग का सामंजस्य होगा। जिस के निवासियों में शैल की दृढ़ता, जलधि की गम्भीरता, सूर्य सी समदृष्टि, झंझा सा बल, काल सा क्रोध और निर्झर सी प्रगति होगी—

शैल शिखर सा प्रांशु गंभीर जलधि सा,
दिनमणिसा समदृष्टि विनीत विजय सा।
झंझा सा बलवान काल सा क्रोधी,
धीर अचल सा प्रगति शील निर्झर सा।

दिनकर की राष्ट्रीय भावना व्यापक धरातल पर स्थित है। उस में कहीं संकीर्णता नहीं है। उनकी राष्ट्रीय भावना की सरिता एक ओर भारतीयता का चुम्बन करती

है, दूसरी ओर विश्व बन्धुत्व की भावना का। उनकी राष्ट्रीय भावना अन्तरराष्ट्रीय भावना की एक सशक्त कड़ी है। उनका भारत कुछ विशेष सीमाओं से घिरी हुई भूमि विशेष नहीं है, वल्कि मानवीय गुणों का आदर्श है—

भारत नहीं स्थान का वाचक गुण विशेष नर का है।
एक देश का नहीं शील, यह भूमण्डल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखण्डता जहाँ प्रेम का स्वर है।
देश देश में वहीं खड़ा भारत जीवित भास्वर है।

प्रस्तुत पुस्तक में दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं के मूल्यांकन का सफल प्रयास किया गया है। यथासम्भव समस्त उपलब्ध सामग्री का उपयोग सुनियोजित ढंग से किया गया है। पुस्तक सात किरणों या अध्यायों में विभक्त है। प्रथम किरण में विश्व साहित्य में राष्ट्रीय भावना के रूपों और उसके विकास-क्रम पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय किरण दिनकर के जीवन, काव्य एवं उनके काव्य को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्त्वों का उद्घाटन करती है। तृतीय किरण कवि के काव्य के उन अंशों को आलोकित करती है जिन में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति अतीत के आधार पर हुई है। चतुर्थ एवं पंचम किरणें काव्य के उन अंशों को सँजोये हुए हैं जिन में दिनकर की राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति सामाजिक घटनाओं एवं समस्याओं के आधार पर हुई है। षष्ठ किरण में कवि की राष्ट्रीय भावना के आदर्शों का संकेत है एवं सप्तम किरण में राष्ट्रीय भावनाओं के परिप्रेक्ष्य में दिनकर का मूल्यांकन किया गया है।

शैली की सरसता, चिन्तन की मौलिकता एवं विचारों की स्पष्टता पुस्तक की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। आशा है पुस्तक दिनकर की राष्ट्रीय भावना के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

रीडर, हिन्दी विभाग,
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।
१२ मार्च, १९६७।

—राजकिशोर पाण्डेय

अनुक्रम

पृष्ठ

पृष्ठ

चतुर्थ किरण

पृष्ठ

अपनी बात

जीवन के सुनहले प्रभात में सरस्वती की अर्चना करते हुए, जब मैंने सर्वप्रथम मां भारती की काव्य-सुधा का पान किया, तभी से महाकवि दिनकर के प्रति श्रद्धा के भाव हृदय में अनायास ही उमड़ पड़े थे। नारी हृदय की स्वाभाविक गुनगुनाहट में प्रायः जो पंक्तियाँ बार-बार दुहरायी जाती थीं वह थीं—

उठ भूषण की भाव रंगिणी,
रूसो के दिल की चिनगारी।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला,
जाग जाग री क्रान्ति कुमारी।

समय के साथ-साथ दिनकर-काव्य के प्रति क्रमशः मोह बढ़ता ही गया। 'कुरुक्षेत्र' प्रारम्भ से ही मेरा प्रिय काव्य रहा है।

सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के पश्चात् 'परशुराम की प्रतीक्षा' के रूप में, देश की वर्तमान रीति-नीति पर निर्भयता से फूटे हुए कवि के हृदयोद्गार राष्ट्र को नई प्रेरणा देते से प्रतीत हो रहे थे। १९६५ में वही दुर्द्धर्ष कहानी पाकिस्तानी आक्रमण के रूप में दुहरायी जाने लगी, ऐसा प्रतीत हुआ मानो दिनकर की प्रतीक्षा सफल हुई। हमारी विजयिनी सेना के लाहौर की ओर बढ़ते कदम राष्ट्र के गौरव का नया इतिहास लिखने जा रहे थे। भारत के नौनिहालों ने अपने रक्त से फिर एक बार भारत माता के भाल पर टीका लगाया। ऐसे समय हृदय की अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर राष्ट्रीय भावना पर ही कुछ लिखने का दुस्साहसपूर्ण निश्चय कर लिया।

दिनकर हिन्दी राष्ट्रीय काव्य के दिनकर ही हैं। 'एक दीपक किरण कण' मैं राष्ट्रीय भावनाओं के उस तेजोपुंज दिनकर का मूल्यांकन किस विध कर पाती? गुरुजनों के आशीष तथा समय की पुकार ने ही मुझे सम्बल प्रदान किया। अपने इस लघु प्रयास में भावनाएँ दिनकर की हैं, अभिव्यक्ति की समग्र शक्ति गुरुजनों की है और जो कुछ दोष और त्रुटियाँ सहज सम्भाव्य हैं वही कुछ मेरा अपना है।

आदरणीय पूज्य गुरुवर्य श्री राजकिशोरजी पाण्डेय के कुशल पथ-प्रदर्शन तथा उपयोगी निर्देशन से ही यह लघु प्रयास पूर्ण हो पाया है। उनके ही द्वारा प्राप्त ज्ञान-राशि के किन भावों से मैं श्रद्धेय गुरुवर्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करूँ, यही एक प्रश्नवाचक चिन्ह है जिसका उत्तर जीवन भर नहीं दिया जा सकेगा!

अगाध ज्ञान-राशि के साधकों के संचयन से जो कुछ सहयोग लिया गया है उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

कवि दिनकर के विशाल काव्योद्यान से कुछ विविध प्रकार के मनमोहक, सुरभित सुमनों को संचित कर एक छोटा सा पुष्प संग्रह (गुलदस्ता) प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी साहित्य के लहलहाते नये अंकुरों में यह छोटा सा उपहार हिन्दी की रंचमात्र भी श्री वृद्धि करने में यदि सहायक सिद्ध हो सके तो वही कुछ हमारी सफलता मात्र समझी जायेगी। इसी मधुर आशा के साथ !

सुनीति·

जनवरी १९६६
ज्ञानगंगा
सुल्तान बाजार, हैदराबाद

प्रथम किरण

राष्ट्रीय भावना : उद्भव और विकास

(क) एक विवेचन

(ख) उद्भव और विकास

(ग) विदेशी काव्य की राष्ट्रीय धारा

(घ) स्वदेशी काव्य की राष्ट्रीय धारा

(ङ) हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय धारा

(क)

एक विवेचन

राष्ट्र

यह शब्द राजृ दीप्तौ धातु से बना है। 'राजते दीप्यते प्रकाशते इति राष्ट्रम्' अर्थात वह भूखण्ड जो स्वयं प्रकाशित हो जो विदेशियों के पादाक्रान्त न हो, सर्वतन्त्र स्वतंत्र हो, वह राष्ट्र कहलाता है। देश भी उसी अर्थ का वाचक है।

व्यक्ति के स्व के विस्तार की परिणति ही राष्ट्र के रूप में हुई। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज तथा समाज से ही राष्ट्र का निर्माण हुआ। आदि सृष्टि में धरती के गर्भ से उत्पन्न मानव, धात्री रूपिणी धरा के प्रेम में आबद्ध हो चुका था। शरीर का कण-कण धरती के ही कण-कण से निर्मित होता है। जिस प्रकार माता के रक्त से शिशु के रक्त का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार वसुंधरा रूपी माता से मानव शिशु का सम्बन्ध सदा से चला आया है।

धरा के जितने खण्ड से मनुष्य का राग जुड़ा उसमें उसकी स्व की भावना संयुक्त होती गयी। यह खण्ड उसकी निजी सम्पत्ति बन गया। जैसे-जैसे उसका पारिवारिक विकास होता गया वैसे-वैसे उसकी सम्पत्ति की सीमा भी बढ़ती चली गयी। परिवारों से जब समाज का संगठन हुआ तब स्व स्वयं पर्याप्त विस्तृत हो गया। माता-पिता-पुत्र इन तीनों में ही त्रै रक्षणे धातु की रक्षात्मक भावना संयुक्त है। धरती मानव की परम रक्षिका है, मानव अपनी भूमि का रक्षक है। रक्षा के इसी दायित्व को जब समाज ने ग्रहण किया तभी से राष्ट्र का अस्तित्व सामने आया तथा शनैः-शनैः उसका विकास भी हुआ। यह प्रगति तब तक आगे बढ़ती रही जब तक प्रकृति ने सामाजिक शक्ति का स्वाभाविक सहयोग किया। प्राकृतिक अनुबंधनों के कारण उसकी भौगौलिक सीमाएँ एक सुनिश्चित सीमा में आबद्ध हुई। अन्ततोगत्वा राष्ट्र की ऐसी ही परिधियों में एक समाज पुष्पित तथा पल्लवित होने लगा। यही राष्ट्र के स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया रही है।

राष्ट्र का मस्तिष्क उसका समाज है। राष्ट्र की सीमाएँ उसका कलेवर हैं। किन्तु केवल बुद्धि और शरीर से ही यह रचना कदापि पूर्ण नहीं कही जा सकती। इसकी पूर्णता के लिए आत्मा की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य की परम्परागत मान्यताओं तथा उसके द्वारा संचित अनुभव तथा ज्ञान का सम्मिलित विकास एक संस्कृति का निर्माण करता है। यही संस्कृति उस राष्ट्र की आत्मा कहाती है। संस्कृति

के इसी परम्परागत विकास ने स्व से पर की ओर देखने की क्षमता प्रदान की और संस्कृति के इसी विकास ने एक छोटे से धरा खण्ड को एक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार एक पूर्ण राष्ट्र के लिए एक जनसमुदाय, एक भौगोलिक सीमा तथा उसकी संस्कृति की नितान्त आवश्यकता होती है। किन्तु राष्ट्र एक सीमित शक्ति द्वारा रेखांकित होता है। उसकी रेखाएँ सदा से इसीलिए परिवर्तनशील रही हैं। प्रबल शक्तियाँ इन्हीं सीमाओं का विस्तार कर लेती हैं तथा अल्प शक्ति-सामर्थ्य-वान्, ह्रासोन्मुख समाज इन्हीं सीमाओं को घटा भी लेता है।

यहाँ पर राष्ट्र के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों की परिभाषाओं द्वारा राष्ट्र को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा। राष्ट्र के सम्बन्ध में प्रकट किये गये पूवोक्त भाव डॉ० सुधीन्द्र द्वारा की गयी राष्ट्र की परिभाषा से स्पष्टतः अनु-मोदित होते हैं—

"भूमि राष्ट्र का कलेवर है, जन उसका प्राण है, और संस्कृति उसका मानस है। भूमि, भूमिवासी जन और जन संस्कृति तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है। भूमि अर्थात् भौगोलिक एकता, जन अर्थात् जन गण की राजनीतिक एकता और जन संस्कृति अर्थात् सांस्कृतिक एकता तीनों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है। राष्ट्र में भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाइयाँ पुंजीभूत हैं। इन तीनों इकाइयों के संकोच और विस्तार के साथ राष्ट्र और राष्ट्रीयता का स्वरूप भी संकु-चित और विस्तृत होता रहा है।"[१]

अरस्तू के मत में राष्ट्र परिवारों और गांवों का ऐसा समुदाय है, जिसका लक्ष्य है पूर्ण और स्वावलम्बी जीवन, जबकि विल्सन के मत में राष्ट्र का अर्थ है एक निश्चित प्रदेश में निवास करने वाले लोगों की शासनादि के लिए व्यवस्थित की हुई संख्या। गार्नर का मत है कि राष्ट्र मनुष्यों का बड़ी संख्या में निर्मित एक ऐसा संगठन है जो एक निश्चित प्रदेश में हमेशा के लिए निवास करता है और जिसकी एक ऐसी व्यवस्थित सरकार है जो बाहर के किसी भी शासन से स्वतंत्र है और जिसके कानून को राज्य की अधिकांश जनता मानती है। राष्ट्र एक निश्चित प्रदेश में स्थित, व्यवस्थित और संगठित समाज है। आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक हितों की समानता रखने वाले मनुष्य-समाज से राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्र समाज का ही एक विशिष्ट रूप है।

इस तरह सम्पूर्ण विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

"राष्ट्र उस परिवर्तनशील परिधि का नाम है जिसका अपना एक धरा खण्ड हो, जिसकी अपनी परम्परागत संस्कृति हो तथा उसी संस्कृति में आबद्ध जनता उन्मुक्त वातावरण में, अपनी उन्नति में स्वतंत्र हो।"

---

[१] डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर।

परिवर्तनशीलता का सुन्दर व पूर्ण स्वरूप तथा स्व का पूर्ण व स्वस्थ विकास वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना में वास्तविक रूप से अन्तर्निहित है। वसुन्धरा की परिधि वास्तव में मानव समाज का एक पूर्ण राष्ट्र है किन्तु मानव की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों व अभिरुचियों के कारण मानव समाज सदा से विखण्डित ही रहा है। इसीलिए हम इस विखण्डित भौगोलिक परिधि को ही राष्ट्र कहने के लिए बाध्य हैं। इसी राष्ट्र की भावना को लेकर ही हमें तब तक आगे बढ़ना है जब तक हम सम्पूर्ण धरातल को स्वस्थ समाज के रूप में विकसित कर एक राष्ट्र नहीं बन जाते। विखण्डित राष्ट्र के इसी भावी स्वरूप और विकास को हम विश्व-राष्ट्र कहते हैं। स्व की भावना को समस्त विश्व की भावना में संयुक्त करना ही स्व की पूर्णता कही जा सकती है।

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "जब मनुष्य के राग वृत्त का विस्तार होता है तो वह अपने व्यक्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम, ग्राम से नगर, फिर प्रदेश, देश, इसके आगे विश्व तक व्यापक हो जाता है। यह वास्तव में स्व का विस्तार है, निषेध नहीं।"[1]

राष्ट्रीय भावना

प्रत्येक राष्ट्र के साथ उसके अपने समाज का एक तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इस तादात्म्य सम्बन्ध का मुख्य कारण, व्यक्ति या समाज की वे भावनाएँ होती हैं जिनका सम्बन्ध समाज और राष्ट्र से अविच्छिन्न होता है। व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों में अपनी सामूहिक उन्नति की भावना राष्ट्रीयता का विशुद्ध स्वरूप है। व्यक्ति का स्व से पर की ओर उन्मुख होना ही राष्ट्रीयता का प्रमुख सिद्धान्त है। व्यक्ति का परिवार के लिए, परिवार का समाज के लिए और समाज का राष्ट्र के हितों के लिए बलिदान करना क्रमशः राष्ट्रीयता के ही सोपान हैं। इस दृष्टि से पारिवारिक और सामाजिक हित की पवित्र भावना भी निश्चित रूप से राष्ट्रीयता का एक अंग मानी जा सकती है। विश्व बन्धुत्व या विश्व राष्ट्र की कल्पना राष्ट्रीयता की चरम सीमा है। पारिवारिक और सामाजिक विघटन से ही राष्ट्र का विघटन और इनकी उन्नति में ही राष्ट्र की उन्नति निहित है।

भाव या भावना कोई सरल विकार न होकर एक संकीर्ण मनोविकार है। संस्कृत में भाव का अर्थ है स्थिति। संक्षेप में, बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की राय है कि विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतंत्र विचारों द्वारा जाग्रत मनोदशा, ही भाव कहलाते हैं जिसके दो प्रधान गुण हैं—अनुभूति और प्रयत्न।

---

१ डॉ० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ।

रति के विभिन्न रूपों में दाम्पत्य, वात्सल्य और देश विषयक रूप मुख्य हैं। देश विषयक रति ही राष्ट्रीय भावना में परिणत होती है। सहयोग व सामाजिकता से ही राष्ट्रीयता का जन्म होता है। राष्ट्रीय भावना मनुष्य हृदय की एक चिरस्थायी भावना है। विश्व के इतिहास और काव्य में यह भावना विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न मोड़ लेती हुई बह रही है।[1]

राष्ट्रीय भावना में व्यक्तिगत हितों का प्रश्न नहीं उठता। सामाजिकता और सामुदायिकता इस भावना के कण-कण में समायी है। वल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि सामुदायिकता और सामाजिकता से ही राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व जव संकीर्णता की दीवारें तोड़कर सामुदायिकता में विकसित और विलीन हो जाता है तव राष्ट्रीय भावना का विकास होता है। जब इस भावना का उदय होता है तो एक का हित सब का हित बन जाता है। राष्ट्र के एक कोने में फोड़ा उटता है तो सबरा राष्ट्र इस वेदना से कराह उठता है। राष्ट्रीय भावना के उदय के साथ ही राष्ट्र के सभी हृदय एक ही तंत्री के तार में ग्रथित हो जाते हैं, वे रोते हैं एक साथ और खिलखिलाते हैं एक साथ।

श्री मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीयता में इन बातों को आवश्यक मानते हैं—प्राचीन गौरव पर विश्वास और अभिमान, देशप्रेम, संस्कृति का सुधार और स्वतंत्रता। श्री रामलाल बर्थौतिया के विचार में साहित्य, संस्कृति तथा सामाजिक विचारधारा का समन्वित रूप ही राष्ट्रीयता है।

जाति भाषा, सामान्य स्वार्थ, धर्म और भौगोलिक समीपता राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायक होते हैं परन्तु राष्ट्रीयता का जन्म इन सब से परे कुछ दूसरी ही परिस्थितियों में होता है; जैसे कि रेनान ने लिखा है, "राष्ट्र एक आत्मा या आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इस आत्मा या आध्यात्मिक सिद्धान्त का निर्माण दो वस्तुओं से होता है। इनमें से एक भूतकाल से सम्वन्ध रखती है, दूसरी वर्तमान से। एक तो प्राचीन काल के वैभव की सुखद स्मृति है और दूसरी वर्तमान में समझौते की भावना, साथ रहने की इच्छा और मिल-जुलकर अपने सामान्य वैभव को आगे बढ़ाने की आकांक्षा।"[2]

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "देशभक्ति में प्राधान्य तो निस्संदेह उत्साह का ही है। परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्तमान है। देशभक्ति व्यक्तिपरक न होकर एक समष्टिपरक भाव है अर्थात् यह राग मिश्रित उत्साह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति होता है। देशभक्ति में स्व का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक

---

[1] व्रजकिशोर मिश्र, निबन्ध निचय।
[2] शान्ति प्रसाद वर्मा, स्वाधीनता को चुनौती।

विस्तृत हो जाता है। इस विस्तार प्रक्रिया में राग के साथ उत्साह का भी मिश्रण हो जाता है क्योंकि देशवासियों के प्रति राग का अभिप्राय है उनके कष्टों का निवारण, उनकी सेवा-सहायता, उनके विकास का प्रयत्न, और ये सभी उत्साहमूलक प्रक्रियाएँ हैं। इस प्रकार देश भक्ति में राग उत्साह के साथ मिलकर उदात्त रूप धारण कर लेता है।"[1]

निष्कर्ष यह है कि स्व सत्ता सम्पन्न राज्य की सर्वांगीण उन्नति तथा सामूहिक विकास तथा सुरक्षा की वह भावना जो किसी भी रूप में राष्ट्र को गौरवान्वित करे, जिसमें समूचे राष्ट्र का उन्नयन व हित अन्तर्निहित हो, राष्ट्रीयता कहाती है।

इसका अभिप्राय स्पष्ट रूप में यह हो सकता है कि जन शक्ति, भमि तथा संस्कृति की रक्षा व उन्नति की भावना राष्ट्रीय भावना कही जायेगी। कभी-कभी इस भावना के अन्तर्गत जन, भूमि और संस्कृति तीनों ही की रक्षा की भावना संयुक्त रूप में उपस्थित हो सकती है। किन्तु कभी ऐसे भी अवसर आ जाते हैं जहाँ केवल सीमा की रक्षा का प्रश्न उठता ही नहीं किन्तु जन रक्षा या संस्कृति की रक्षा ही ऐसे भावों का मुख्य आधार होता है।

राष्ट्रीय कविता

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के इस विस्तृत विश्लेषण के उपरान्त एक ऐसे निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि चाहे जन शक्ति के विकास या रक्षा के उद्देश्य से, चाहे संस्कृति की रक्षा और उन्नति के उद्देश्य से, चाहे भौगोलिक रक्षा और उन्नति के उद्देश्य से लिखा गया कोई भी काव्य राष्ट्रीय काव्य ही कहा जायेगा। इस प्रकार हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय काव्य की धारा भारतेन्दु से ही प्रबुद्ध हुई ऐसा स्वीकार किया जाना कदापि न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। आज स्वतंत्रता के उपरान्त राष्ट्र की उन्नति के लिए जातीयता तथा साम्प्रदायिकता को विनष्ट करने की जो भावना उत्पन्न हुई है। इस भावना को राष्ट्रीय भावना के अन्तर्गत ही अंगीकृत किया जा रहा है तो भक्ति काल में इसी सन्दर्भ से लिखी गयी कबीर की बानी की उपेक्षा कैसे की जा सकती है? निश्चय ही कबीर की सामाजिक प्रताड़ना राष्ट्रीय भावना का ही एक अभिन्न अंग है। महाकवि तुलसी के रामचरितमानस को सांस्कृतिक सुरक्षा का राष्ट्रीय उद्घोष ही कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार वीर गाथा काल की भावना को भी किसी न किसी अंश में हमें राष्ट्रीयता के रूप में स्वीकार करना होगा। राष्ट्र की विखण्डित शक्तियाँ राष्ट्र को संयुक्त करने के उद्देश्य से यदि संघर्ष करें तो यह संघर्ष भी विशुद्ध राष्ट्रीय ही कहा जायेगा।

इसी धारणा को मानकर इस प्रबन्ध में विश्व की तथा भारत की प्रमुख भाषाओं के काव्य की राष्ट्रीय धारा पर विचार किया गया है।

---

[1] आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ।

डॉ० नगेन्द्र ने राष्ट्रीय कविता के सम्बन्ध में अपने विचार इस तरह व्यक्त किये हैं—"राष्ट्रीय कविता की मूल भावना देश भक्ति है। देश भक्ति में राग और उत्साह का सम्मिश्रण है। उत्साह उसके राष्ट्रीय स्वरूप का आधार है और राग उसके मानवीय सांस्कृतिक रूप का। रागात्मक सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमें देश जड़ प्रतीक न रहकर सजीव एवं मूर्तिमंत हो जाता है। ....भारत की दिव्य मातृ भूमि के शत-शत चित्र हमारी राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता की अमूल्य निधि हैं। भारत का यह दिव्य मूर्तिकरण अतीत गौरव की शत-शत स्वर्ण स्मृतियों को लपेटे है।"[१]

भारतेन्दु युग से एक ऐसी राष्ट्रीय कविता का उदय हुआ जिसमें जन, जन-संस्कृति तथा भारत की भौगोलिक परिधि को विदेशी शासन से मुक्त कराने की सर्वांगपूर्ण राष्ट्रीय काव्य धारा प्रस्फुटित हुई, जबकि इससे पूर्व की राष्ट्रीय कविता एकांगी कही जा सकती है।

भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीय विचारधारा का विकसित व परिष्कृत रूप ही राष्ट्रकवि दिनकर में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। दिनकर का राष्ट्रीय काव्य राष्ट्रीय भावों के समस्त मूल्यों को लेकर राष्ट्र की मौलिक आधारभूत समस्याओं को सुलझाता तथा भावनाओं को प्रबुद्ध करता हुआ एक सर्वांगपूर्ण राष्ट्रीय काव्य है।

---

१ 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता'—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ।

(ख)

उद्भव और विकास

आदि काव्य

तेजपुंज आदि कवि ने आदि पुरुष के साथ जब स्वर में स्वर मिलाया, उसी ध्वनि को विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद कहा जाता है। चारों वेदों की आदि कवि की यह वाणी मानव जीवन के विकास की पृष्ठभूमि है। इन्हीं भावों को वेद सुन्दर शब्दों में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः र्या थातथ्यतो र्थान्
व्यदद्याच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजुर्वेद)

कवि और मनीषी, स्वयंभू के दो सुन्दर रूप हैं। नरदेह ने उसी को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। पुरुष के कवि और मनीषी स्वरूप ने ही विश्व को व्यष्टि से उठाकर समष्टि के धरातल पर ला खड़ा किया है। वेद जीवन, जगत के सामंजस्य और इन दोनों के सर्वांगीण विकास का स्वस्थ व सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। समष्टि और प्रकृति के सुन्दर समन्वय का नाम ही राष्ट्र है। इस समष्टि की मूल भावना आदि स्रोत वेद ही हैं।

वैदिक काल

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" धरती मेरी माता है और मैं पृथिवी पुत्र हूँ। वेद की इस घोषणा के साथ-साथ पुरुष का मोह धरती माता से अनायास ही संयुक्त हो गया। जो मनुष्य जितनी भूमि पर श्रम कर लेता था, उतनी ही भूमि पर उसने आधिपत्य जमाया। इसी अधिकार की भावना ने जब सामाजिक रूप ग्रहण किया, तभी से राष्ट्र ने क्रियात्मक रूप धारण किया। वेदों की समष्टि की उन्नति की कल्पना राष्ट्र के रूप में साकार हुई।

इतिहास के धूमिल क्षितिज पर यदि सूक्ष्म दृष्टिक्षेप किया जाय तो निश्चय ही प्रथम राष्ट्र आर्यावर्त के रूप में बना। मनुष्य नागरिक बना। स्वायंभव मनु ऐतिहासिक आधार पर प्रथम नागरिक थे, जिन्होंने इस राष्ट्र को एक सुन्दर एवं सुसंस्कृत संविधान दिया।

पर वैदिक राष्ट्रवाद स्वराष्ट्रहित की कल्पना, विश्व-कल्याण की भावना से ही करता है। विश्व बंधुत्व ही उसका महान् उद्देश्य है। इस तरह विश्वपटल पर जिन अनेक राष्ट्रों का निर्माण हुआ उन सभी राष्ट्रों में भारत का दृष्टिकोण सदैव उदात्त और महान् रहा है। दृष्टिकोण की महानता के साथ-साथ राष्ट्रीय भावनाएँ सदैव वीर पुरुष की धमनियों में उष्ण रक्त का संचार करती रही हैं।

वैदिक काव्य में राष्ट्रीयता की सुन्दर कल्पना अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है। नीचे के मंत्र में जो भावना एक सुन्दर राष्ट्र के लिए वर्णित है, इतनी पूर्ण व परिमार्जित भावनाएँ अन्यत्र अनुपलब्ध हैं—

ओं आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्,
दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वा नाशुः सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्ताम्, योग क्षेमो नः कल्पताम्॥[1]

अर्थात्, हे सर्वमहान् भगवन्, हमारे राष्ट्र में ब्रह्म तेजयुक्त ब्राह्मण हों। बहादुर, शस्त्रास्त्र संचालन में चतुर, दुष्टदमन कर्त्ता, महारथी क्षत्रिय हों। दूध देने वाली गौएँ, भार उठाने वाले बैल एवं शीघ्रगामी घोड़े हों। इस यजमान का पुत्र जवान होकर सभाकार्य निपुण, जयशील एवं रथी वीर हो। अपेक्षित समय पर मेघ जल बरसावे। ओषधि वनस्पतियाँ फल वाली हों। हमारा योगक्षेम भली प्रकार चलता रहे।

सम्पूर्ण राष्ट्र के योग क्षेम का चित्र कितना मनोहर है! एक राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए जिन-जिन वस्तुओं की सहायता अपेक्षित है, उन सभी के उन्नयन के साथ राष्ट्र को लाभान्वित करने की सुन्दर आशाएँ इस मंत्र में अन्तर्निहित हैं। प्रकृति और समष्टि दोनों की ही सहायता से राष्ट्र के भव्य रूप का निर्माण होता है।

वेद में अनेक स्थल राष्ट्र से सम्बन्धित हैं। जैसे—"ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति"— महान् तप और शक्ति के द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। इसी तरह—

वयम् राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।

अर्थात्, राष्ट्रीय नेता सदैव जागरूक रहें। राष्ट्रीयता के ये भाव कितने ओजपूर्ण हैं! ऋग्वेद का स्वराज्य सूक्त राष्ट्र का एक सुन्दर व आदर्श चित्र प्रस्तुत करता है। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त स्वदेश भक्ति के भावों को जाग्रत करने वाला मंत्र समुदाय है। मातृभूमि के उपकारों से प्रेरित होकर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्वदेश प्रेम के भावों का जाग्रत होना स्वाभाविक है:

सानो भूमि स्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातुत्तमे।

अर्थात्, वह भूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल धारण करे।

---

[1] यजुर्वेद, अध्याय २२, मंत्र २२।

राष्ट्र को बलशाली बनाने की कितनी सुन्दर प्रार्थना है ! प्रकृति और समाज दोनों ही के सौन्दर्य व लाभकारी पक्ष का वर्णन वेद की अपनी विशेषता है ।

हमारे ऐतिहासिक पुरुष मनु का राष्ट्राभिमान इन सुन्दर शब्दों में प्रस्फुटित हुआ है—

> एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र-जन्मनः
> स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् प्रथिव्यां सर्व मानवाः ।

हमारे देश ने ही समस्त विश्व को सदाचार का पाठ पढ़ाया है । इस तरह निर्विवाद रूप से राष्ट्रीयता की प्रथम किरण भारतीय क्षितिज से ही विश्व भर में फैली । वैदिक काल की राष्ट्रीयता वास्तव में आज की अंतरराष्ट्रीयता ही है, जिसकी मूल भावना निम्न श्लोक में परिलक्षित होती है—

> सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
> सर्वे भद्राणि पश्चन्तु मा कश्चियद्दुःख भाग्भवेत् ।

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" की उदात्त भावना भारत को छोड़ विश्व के किसी भी साहित्य में दृष्टिगत नहीं होती ।

संस्कृत काल

धीरे-धीरे अनेक राष्ट्रों का उदय हुआ । व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावनाएँ उभरने लगीं । समाज, देव और असुर, दो भागों में विभक्त हो चुका था । पृथक-पृथक राष्ट्रीय परिधियों में आर्य और अनार्य शक्तियाँ संगठित हो चुकी थीं । रामायण और महाभारत इसी काल के राष्ट्रीय महाकाव्य हैं । राम की लंका-विजय अधर्म पर धर्म की विजय थी । वैभव और ऐश्वर्य की सुवर्णमयी लंका भी राम का आकर्षण नहीं बन सकी और राम को लक्ष्मण से इन शब्दों में अपना राष्ट्र प्रेम व्यक्त करना पड़ा—

> अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।
> जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।।

तत्कालीन राष्ट्रीय भावनाओं का सुन्दरतम उदाहरण वाल्मीकि ने कितने सरस व लालित्यपूर्ण शब्दों में हमारे सम्मुख रखा है ! रामायण और महाभारत जहाँ राष्ट्रीय भावना के प्रतीक हैं, वहाँ दोनों ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की समस्याओं को लेकर आगे बढ़े हैं । ये समस्याएँ चिरन्तन हैं । कुछ हेर-फेर के साथ प्रत्येक युग के सामने ये समस्याएँ खड़ी होती हैं । परिस्थिति, काल के आधार पर हर युग का कवि, इन समस्याओं पर दृष्टि डालता है । इतिहास इन समस्याओं से जूझने की शक्ति देता है । इस प्रकार समस्या और समाधान का चक्र सदा से ही चल रहा है ।

महाभारत, भारत-राष्ट्र की समस्याओं का एक ऐसा व्यूह था जिसे कृष्ण सरीखे राजनीतिज्ञ भी बिना युद्ध के न भेद सके। अंत में तत्कालीन राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान कुरुक्षेत्र के विशाल प्रांगण में गाण्डीव के तीरों से खोजा गया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को गीता के कर्मयोग ने राष्ट्र रक्षा की महान् प्रेरणा प्रदान की—"हतो व प्राप्यसे स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्"। यह घोषणा अनायास ही राष्ट्र के रक्षक क्षत्रिय के कर्त्तव्य की ओर इंगित करती है।

रामायण में जहाँ विदेशी शासक अन्य राष्ट्र के स्वत्व का हरण करता है वहाँ महाभारत आन्तरिक स्वत्व रक्षा के लिए रचा गया युद्ध है। परन्तु दोनों ही महाकाव्य पूर्ण राष्ट्रीय महाकाव्य हैं। वही महाकाव्य, राष्ट्रीय महाकाव्य कहा जायेगा जिसमें राष्ट्र के व्यक्ति से लेकर सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का पूर्ण समाधान प्रस्तुत किया गया हो।

महाकवि कालिदास के काव्य भी राष्ट्रीय भावना से अछूते नहीं हैं। मानव मन की रागात्मक भावनाओं के साथ-साथ राष्ट्र के सौन्दर्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन उनके अमर काव्य 'मेघदूत' की अनुपम विशेषता है। 'रघुवंश' में उन्होंने राष्ट्र के आदर्श नायक राजाओं के जिन गुणों का वर्णन किया है, वह किसी भी राष्ट्र को गौरवान्वित करने के लिए पर्याप्त हैं। भारतीय संस्कृति की आत्मा राष्ट्रीयता को साथ लेकर ही यत्र-तत्र प्रतिभासित हुई है।

(ग)

विदेशी काव्य की राष्ट्रीय धारा

महाभारत का युद्ध आर्यों के अभ्युदय और पतन के मध्य धरातल पर हुआ था। यह काल, अभ्युदय की, उत्कर्ष की अंतिम सीमा और पतन की प्रथम रेखा का संक्रांति काल था। अभ्युदय के इस उत्तरार्द्ध में ग्रीस की संस्कृति ने जन्म लिया। ग्रीस में एक नई सभ्यता का उदय हो रहा था। पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य का सा महत्त्व ग्रीस के इलियट और ओडेसी को प्राप्त है। पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में महान् अन्तर है। भारतीय संस्कृति का उदय तपोवनों में ज्ञान और विज्ञान के अक्षुण्ण कोष से हुआ है जबकि पाश्चात्य संस्कृति का प्रारम्भ नगर संस्कृति से हुआ। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का स्रोत अध्यात्म है जबकि पाश्चात्य संस्कृति भौतिकता के आधार पर विकसित हुई है। ग्रीस की संस्कृति के उदयकाल में ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अभाव था। संगठन अनेक शक्ति पुंजों में विभक्त था। प्रत्येक नगर अपने आप में एक राष्ट्र था। आर्थिक उन्नति ही इनका मूल लक्ष्य रहा। इसी भौतिक विकास के लक्ष्य को लेकर रोमन संस्कृति का उदय हुआ। अपनी जाति के गौरव का वर्णन करते हुए रोमन कवि ने कहा है—हे रोमन जाति! तेरा काम है सभी जातियों पर शासन करना। यही तेरी शिल्पकला है। तेरा गौरव इसी में है कि तू संसार में शांति का प्रचार करे, जो गर्व से उद्धत हैं उनको तू नत-मस्तक करे और जो पतित हैं, उन पर तू दया दिखा। रोम ने स्वाधीनता के लिए स्वतंत्रता और राष्ट्र के मंगल के लिए व्यक्ति की इच्छा और शक्ति का निर्दय होकर दमन किया। उसका फल यह हुआ कि प्रतिभा का फूल अधखिला ही झड़कर गिरा। परन्तु उसके बदले में रोम ने स्वाधीन राजतंत्र की नींव पर जातीय एकता की स्थापना की। इस एकता के परिणामस्वरूप उसने संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

"यदि यह कहा जाय कि मनुष्य का मन ज्ञान, हृदय और इच्छा शक्ति से गठित है तो ध्यानपरायण हिंदू ने ज्ञान का, सौन्दर्य-पिपासु ग्रीक ने हृदय का और कर्मवीर रोमन ने इच्छा-शक्ति का पूर्ण विकास किया है। इन तीन जातियों ने भगवान् के सत्यं, सुन्दर और शिव रूप को प्रदर्शित कर संसार में सत्य का पूर्ण रूप स्थापित किया।"[1]

---

१ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, विश्व साहित्य।

इस तरह जहाँ भारतीय संस्कृति से राष्ट्रीयता ने जन्म लिया, वहाँ पश्चिम की विस्तारवादी राष्ट्रीयता से वहाँ की संस्कृति का निर्माण हुआ।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति से आधुनिक विदेशी राष्ट्रीय काव्य का निर्झर प्रवाहित हुआ। तत्कालीन राष्ट्रीय कवियों के कण्ठ से सामन्तशाही, राजतन्त्र और धार्मिक गुरुडम के प्रति विद्रोही स्वर फूट पड़ा। मध्ययुगीन कवियों ने राष्ट्र और धर्म के पार्थक्य पर बल दिया। आहृत धर्म पर राष्ट्रीयता का विजय नाद गूँज उठा। ईसाई धर्म इसी विजय नाद की प्रतिक्रिया का गम्भीर स्वरूप है। परन्तु यीशु मसीह की मानव प्रेम की भावना यूरोप की विस्तारवादी राष्ट्रीयता पर अद्यावधि विजय प्राप्त न कर सकी। ईसा का मानवतावाद भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को लेकर खड़ा हुआ है। बाइबिल में गुंजित सत्य, अहिंसा के स्वर भारतीय संस्कृति की भावना के ही प्रतीक हैं। वीरता, शौर्य, विजय सदा से ही राष्ट्रीयता के आधार रहे हैं, परन्तु असत्य, अन्याय और अधर्म के लिए इन भावनाओं का आलम्बन कभी भी राष्ट्रीयता की परिभाषा में नहीं समा सकता। परन्तु इसी संकीर्ण राष्ट्रीयता की धुरी पर चलकर विस्तारवादी यूरोप सही राष्ट्रीयता की सीमाओं में आबद्ध होने जा रहा है।

इस पृष्ठभूमि की विवादास्पद स्थिति को ज्यों का त्यों रख हम केवल यथावत् विद्यमान राष्ट्रीयता के प्राप्य काव्यों पर विचार करेंगे। इस दृष्टि से होमर का काव्य पाश्चात्य राष्ट्रीयता का आदि स्रोत रहा है। होमर ही इस संस्कृति का राष्ट्रीय कवि था। रामायण और महाभारत की तरह इलियट और ओडेसी भी पाश्चात्य देशों के वीर काव्य हैं।

अंग्रेजी काव्य

अंग्रेजी काव्य का प्रारम्भ सन् १३४०-१४०० से होता है। इससे ६ शती पूर्व प्राचीन अंग्रेजी काव्य सैक्सन और जूटों की इंगलैण्ड-विजय के रूप में लिखा जा चुका था। तत्कालीन काव्य जर्मन अनुश्रुतियों पर अवलम्बित था। अनुश्रुति का कथानक, एंग्लों के आगमन के साथ-साथ इंगलण्ड में पहुँच चुका था। इसमें काल्पनिक कथा के रूप में वीरों के रहन-सहन तथा दरबार का सुन्दर वर्णन तथा सामाजिक स्थिति का तत्कालीन वास्तविक स्वरूप चित्रित है। बोवुल्फ तथा अग्नि दैत्य इसके मुख्य पात्र हैं। ओजपूर्ण भाषा, शक्ति-शालिनी काव्य-धारा की सुन्दर अनुभूति इस काव्य में परिलक्षित होती है जिससे राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिलता है। इसके बाद धर्म गुरू डल्फस्टेन ने निर्भीकता से अपने काव्य द्वारा जनता का सबल प्रतिनिधित्व किया। उसकी काव्याभिव्यंजना से शासक भी न बच सके, देश के शत्रुओं को निर्भीकता से धिक्कारा। भेड़िया प्रवचन द्वारा जनता में उसने नव जागरण का शंख फूंका।

१४ वीं शती से काव्य की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई, उसमें चौसर प्रथम कवि के रूप में उल्लेखनीय है। चौसर की तुलना चंद-वरदाई से की जा सकती है। वह भी एक साथ कवि, सैनिक और राजनीतिज्ञ था। सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय चेतना के उद्घोषक के रूप में विलियम लैंगलैण्ड का नाम भी सदा स्मरण किया जाता रहेगा। स्कॉच कवि हेनरी-सन् मध्यकालीन चारण के रूप में विख्यात है। स्पेन्सर ने राष्ट्र कवियों की परम्परा को आगे बढ़ाया। जॉन डॉन क्रान्तिकारी भावना को लेकर काव्य के क्षेत्र में आया। उसकी कविताओं में विप्लव का नाद गूंज उठा। मध्ययुगीन काव्य में शेक्सपियर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह प्रतिभावान् साहित्यकार राष्ट्रीय भावना से कैसे अछूता रह सकता था? उसने लिखा—

As a long mother with her child play fondly
with her tears and smiles in meetings. So
weeping smiling greet I thee my earth.

अर्थात्, अपने पुत्र से चिरकाल की बिछुड़ी हुई माता जिस प्रकार उससे भेंट होने पर रो-रोकर और हँस-हँसकर उसके साथ खेलती है, उसी प्रकार हे देश! मैं भी रोता और हँसता हुआ तेरा स्वागत करता हूँ।

शेक्सपियर का निम्नलिखित पद्य भी खूब प्रसिद्ध है—

Cowards die many times before their death,
The valient never taske of death but once.

इन शब्दों में देशप्रेम और वीरता की भावना स्पष्ट रूप से व्यंजित है। अंग्रेजी साहित्य का सूर, मिल्टन देशभक्ति और जन क्रान्ति के उद्घोष को लेकर आगे बढ़ा। उसके प्रसिद्ध काव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' और 'पैराडाइज रीगेण्ड' उच्चकोटि के वीर काव्य हैं।

एलेक्जेंडर पोप का प्रसिद्ध काव्य 'दी ऐसे ऑन मैन' चार भागों में लिखा गया है। इस काव्य में मुख्य रूप से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि संसार में एक ऐसा राष्ट्र हो जो आध्यात्मिक शक्ति पर आधारित हो। शारीरिक, आध्यात्मिक त्रुटियाँ कैसे उत्पन्न हो जाती हैं और राष्ट्र नेता उसे कैसे दूर कर सकते हैं, इत्यादि समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। इनकी राष्ट्रीयता, संकीर्णता से दूर है। लेडी ब्राउनिंग का लिखा हुआ 'द ब्यूटी ऑफ इंगलैण्ड' काव्य उनकी देशभक्ति का सुन्दर उदाहरण है। इटली की एकता के लिए जो संघर्ष हुआ उसकी प्रेरणास्वरूप ही उन्होंने इस काव्य की रचना की।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने यूरोप के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की भावना इस क्रान्ति की महान् उपलब्धियाँ हैं। फ्रांसीसी जन-क्रान्ति के अभिवादक के रूप में वर्ड्सवर्थ ने भी कुछ

राष्ट्र प्रेम की कविताएँ लिखी हैं। वर्ड्सवर्थ, रूसो की विचारधारा से भी पूर्ण प्रभावित था। इतिहास के धरातल पर स्कॉट ने वीर तथा रौद्र रस का वर्णन अपनी सशक्त वाणी में किया है। महान् व्यक्तित्व युक्त बायरन राजनीतिज्ञ के साथ महाकवि भी था। बायरन के राष्ट्रीय काव्य ने ही उसे जनप्रिय बनाया। बायरन इंगलैण्ड तक ही सीमित न रहा, शैली से दो कदम आगे बढ़कर उसने यूनान और इटली के स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय योग दिया। स्वतंत्रता का पुजारी बायरन स्वाधीनता का महान् उद्घोषक था—

हे स्वतंत्रते ! यद्यपि तव ध्वज शीर्ण हहरता तो भी
ज्यों प्रतिकूल पवन के बहती गर्जन झंझा-धारा !

बायरन के 'चाइल्ड हैरोल्ड डान जुआन' अपनी मूढ जाति के अवशेष राजाओं और सत्ताधीशों के ऊपर की गयी सीधी-सीधी व्यंग्य-बौछार से भरे पड़े हैं। अन्यत्र जनता को सम्बोधित करते हुए वह कहता है—

जब मनुष्य इन दुष्ट नृपों को नियम भंग करने देते हैं,
तो हेक्ला सोते सा मेरा खून खौल उठता है।

शासकों की भर्त्सना करते हुए कहे गये ये शब्द निर्भीकता व राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं। भविष्यदृष्टा बायरन के उद्गार जन आन्दोलन की राष्ट्रीय विचार धारा को लेकर कितने उभरे हैं—

पानी के समान खून बरसेगा और कुहासे के समान आँसू,
पर अन्त में जीत जनता की होगी। मैं नहीं रहूँगा यह
देखने के लिए, पर मैं इसे अपनी दूरदृष्टि से देखता हूँ।

राष्ट्रीय भावना को लेकर कॉलरिज कवि ने भी 'फ्रांस' नामक महाकाव्य लिखा। स्वतंत्रता की भावना को उत्तेजित करने में कॉलरिज का भी बहुत हाथ था। पश्चिम की इस राष्ट्रीय काव्यधारा में विद्रोही कवि शैली अत्यंत प्रसिद्ध व लोकप्रिय है। राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर उसने अपने काव्य में उदात्त राष्ट्रीय भावना को भरने का सफल प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"शैली विद्रोही कवि है। उसे आयरलैण्ड, फ्रांस, इटली, यूनान, ब्रिटेन आदि की पीड़ित जनता से हार्दिक सहानुभूति थी। यद्यपि उसके सामने यह स्पष्ट नहीं था कि जनता किन साधनों से मुक्त होगी, फिर भी उसकी मुक्ति में उसका दृढ़ विश्वास था। उस मुक्ति के गीत उसने गाये। अन्याय और अत्याचार के प्रति उसने तीव्र रोष प्रकट किया। वह नये युग का गायक बन गया—वह नया युग जिसे आज मजदूर वर्ग के नेतृत्व में श्रमिक जनता समग्र धरती पर ला रही है, इसलिए शैली संसार के सभी देश भक्तों और जनवादी साहित्य-प्रेमियों का प्रिय कवि है।"[1]

---

[1] विश्व काव्य शैली (भूमिका)।

सन् १८१९ में बाथ-ऑफ केराकेला के ध्वंसों के बीच शैली के अमर महाकाव्य 'प्रोमेथियस अनबाइण्ड' के तीन खण्डों की रचना हुई। यह अमर कवि की अमर रचना है और विश्व-काव्य-कानन का अन्यतम पुष्प है। शैली के विद्रोही काव्य में उसके युग का मूर्तिमान् स्वरूप अंकित है। उसके अंदर पुराने युग के ध्वंस की राख का ठंडापन है, नई चिनगारियों की गरमाई है। उसकी प्रखर दृष्टि ने समाज की इमारत का कोना-कोना छान मारा है। क्वीन मैब, सांग ऑफ मैन ऑफ इंगलैण्ड में तत्कालीन युग की परिस्थितियों का स्पष्ट चित्र मिलता है—

शासकों की ठोकरों से मस्त जन समूह को,
अन्न वस्त्र और अग्नि तू ही है स्वतंत्रता।
आज मेरा देश है अकाल शाप ग्रस्त,
किसी भी स्वतंत्र देश को हूँ मैं न देखता ॥

'मॉस्क ऑफ एनार्की' की रचना से समाजवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। पाश्चात्य प्रभंजन, स्वाधीनता के प्रति आदि प्रगीतों का प्रणयन शैली की राष्ट्रीय भावनाओं का द्योतक है।

कीट्स की कविता का प्रारम्भ भी शासन के प्रति विद्रोह से हुआ था। शैली, कीट्स और बायरन की त्रिमूर्ति अंग्रेजी भाषा के राष्ट्रीय काव्य की चमकती प्रतिभा हैं।

२०वीं शती के राष्ट्रकवि के रूप में जॉन मैस्फील्ड का नाम प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त रुपियार्ड किप्लिंग, विलियम ईट्स और रॉबर्ट ब्रिज्स की भी कविताएँ राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत हैं।

रूसी काव्य

आधुनिक युग में पूँजीवाद के विरुद्ध जो सशक्त स्वर धरती पर गूंजा उसका प्रथम सूत्रपात काव्य के रूप में रूसी साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। रूसी काव्य में राष्ट्रीय भावना का आधार वहाँ का किसान है जो सदियों से शोषण और अत्याचारों का शिकार रहा है। १२वीं शती में वीर-काव्य की अजस्र धारा बहाने वाला नेस्टर था। उसका 'क्रानिकल' वीर रस से ओतप्रोत है। १८वीं शती में क्रिलोव राष्ट्रीय भावना को लेकर काव्य के क्षेत्र में आया। क्रिलोव पहला कवि था जिसने कविता का माध्यम जनता को बनाया। उसने अनेक व्यंग्यात्मक कविताएँ भी लिखी हैं जिनकी पृष्ठभूमि में तत्कालीन राजनीतिक समस्याएँ थीं। इसी प्रकार रिलीव, ग्रिबोय दोव और जुकोव्स्की भी जन कवि के रूप में राष्ट्रीय भावना को लेकर आगे बढ़े। १९वीं शती का राष्ट्रीय कवि पुश्किन है। पुश्किन की काव्य धारा ने रूसी जनता के हृदय में जागृति के नये अंकुर बोये। पुश्किन की कविता को जब लेनिन पढ़ता था तो उसका हृदय उमड़ पड़ता था। प्रसिद्ध रूसी क्रान्ति की पृष्ठभूमि का

निर्माण पुश्किन की ओजस्वी कविताओं से ही हुआ है। काकेशस का कैदी, जिप्सी, पीतल का घुड़सवार, काजवेक का मठ पैगंबर आदि उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। १६ वर्ष की आयु से ही काव्य को यथार्थ के धरातल पर ले जाने वाला पुश्किन अद्भुत प्रतिभाशाली एवं रूसी काव्य को विदेशी प्रतिबंधों से मुक्त कराने वाला महान् कवि था।

इससे पूर्व टालस्टाय ने करोड़ों हृदयों से फूटने वाली जनता की वेदना को साकार रूप दिया था, परन्तु इसमें असन्तोष ही व्यक्त हुआ था, विद्रोह की आग नहीं धधकी थी। लिफशित्ज़ क्रेमेनाव ने वर्गवाद से ऊपर उठकर विशुद्ध राष्ट्रीय काव्य का उद्घोष किया। कोल्त्सोव भी किसानों का कवि था। उसने अपनी कविताओं में किसान के जीवन का यथार्थ चित्र खींच दिया है। किसान के हृदय के राग और जीवन के स्वप्न को साकार रूप देने का प्रयत्न किया है।

तुर्गनेव ने पद्य को नई शैली प्रदान की। देहात व किसान ही उसकी कविता के मुख्य आधार थे। गायक मृत्यु उसकी असाधारण कृतियाँ हैं। चश्मे के पानी में उसकी भावनाओं का सौंदर्य मुखरित हुआ है। समस्त यूरोप तुर्गनेव की लेखनी से प्रभावित हुआ।

साल्तिकोव ने अपनी रचनाओं में श्रीमानों के जीवन से लेकर कैदियों और किसानों के जीवन पर व्यंग्यात्मक ढंग से प्रकाश डाला है। नेक्रासोव जनकवि की उपाधि से विभूषित हुआ। जनता के हर्ष और विषाद को उसने अपने काव्य में अंकित किया। उसका जनपरक महाकाव्य रूप में 'सुखी कौन है ?' अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। असन्तोष से परिपूर्ण, कठोर यथार्थवादी उसकी रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। कवि निकितन ने भी क्रीमिया के युद्ध के समय देशभक्ति से पूरित अनेक कविताएँ लिखीं।

सन् १९०५ की क्रान्ति ने न केवल रूस का राजनीतिक स्वरूप ही बदला, बल्कि काव्य को भी नई स्फूर्ति प्रदान की। स्वतंत्र चिंतन को लेकर काव्य की धारा आगे बढ़ी। ब्लाक, जिसे उस युग का महानतम कवि कहा गया है, की कविता में नवयुग के स्वर प्रतिध्वनित होते हैं। उसने एक जगह अपनी कल्पना को सम्बोधित करते हुए लिखा है—तुम्हारे रहस्यमय स्वरों पर विध्वंस की कराहों की छाप है। ब्लाक की 'वे बारह कविता' क्रान्ति के स्वागत में लिखी गयी प्रथम भावुक रचना है। १९१८ में आन्द्रोवोली 'ने मसीहा फिर उठा है' गीत गाया।

मायकावस्की ने काव्य में प्रेम और श्रृंगार की भर्त्सना की। उसने लिखा— "मैं उसको कवि नहीं मानता जो बड़े-बड़े बाल रखकर चाय-घरों में प्रणय की कविताएँ मिमियाता फिरता है, कवि वह है जो श्रेणी संघर्ष के इस विप्लवी युग में सर्वहारा वर्ग के शस्त्रागार में अपनी कलम भी सौंप देता है।"

मायकावस्की एक बड़े ही सशक्त व्यक्तित्व का कलाकार था। वह मशीन युग की प्रतिनिधि भावना और शैली में भी फौलादी कठोरता लिये हुए था। विचारों में गरम समाजवादी कवि था। उसकी शैली में बंदूक से छूटी हुई गोली की सी तेजी थी और उसके स्वरों में फौलादी यंत्रों की खड़खड़ाहट थी।[1] धर्मवीर भारती के यह शब्द सत्य ही प्रतीत होते हैं। उसकी कविताओं की पंक्तियाँ इस बात का पुष्ट प्रमाण हैं—

अपने गीत को बम विस्फोटक बनाओ
क्योंकि हमें एक रेलवे गोदाम को उड़ाना है
मैं चाहता हूँ कलम बन्दूक बन जाय।

वह कितना जनप्रिय कवि था उसका एक उदाहरण इस घटना से मिलता है। एक बार वह सिपाहियों की परेड में एक कविता पढ़ रहा था—

आगे बढ़ो, हमारी पलकों में हैं लेनिन का सपना
हाथों में रूसी बन्दूक..........

कि भीड़ में से एक सिपाही चिल्ला उठा—

और दिल में है कविता तुम्हारी
ओ कामरेड मायकावस्की !

परन्तु मायकावस्की के विचार मार्क्स और लेनिन की विचारधारा से जनित रूसी क्रान्ति की प्रतिध्वनि मात्र थे। उसका मस्तिष्क मार्क्सवाद की श्रृंखलाओं से जकड़ चुका था फिर भी अपने राष्ट्र के प्रति उसकी भावना हृदय से निकली हुई थी। राष्ट्रीय भावनाओं की अजस्र धारा उसके काव्य से प्रवाहित हुई और उसने अपने राष्ट्र नेता के स्वप्नों को साकार करने का बीड़ा उठा लिया।

मायकावस्की का समकालीन येसेनिन भी साधारण जनता के बीच से ऊपर उठा था। उसका जन्म एक किसान के घर हुआ था। उसमें अद्वितीय प्रतिभा थी और हृदय को छू लेने की क्षमता थी। वह गाता था तो जैसे रूस का हृदय गा उठता था, रूस की धरती गा उठती थी। वह रूस के हरे-भरे-खेतों, खलिहानों का व उनकी छाया में पलने वाले किसानों की करुण अनुभूति का गायक था। उसने भी क्रान्ति का स्वागत बड़ी आशा भरी दृष्टि से किया था। रूस के भविष्य का एक उज्जवल चित्र उसकी आँखों के सम्मुख था—

एक नया किसान, खेतों में घूम रहा है,
नये बीज क्यारियों में डाल रहा है,

---

[1] प्रगतिवाद—एक समीक्षा।

नये घोड़ों के रथ पर, बादलों के पार से,
एक ज्योतिर्मय आगन्तुक आ रहा है।

मायकावस्की के साथी कवि श्री ब्रिक का नाम भी उल्लेखनीय है जिसने भविष्य-वादी कविताएँ लिखी हैं। मायकावस्की के बाद प्रसिद्ध कवि कॉन्स्टेन्टिन का नाम आता है। उसने दुश्मनों के विरुद्ध बंदूकें भी उठायी थीं और जोशीले युद्ध गीत भी लिखे। लेनिनग्राड की प्रसिद्ध कवयित्री वेरा इन्वर एक राष्ट्रीय कवयित्री हैं। उनका कहना है कि सोवियत साहित्य का विकास मेरे देश का विकास है, मेरा प्यारा देश, जो संसार भर का प्रथम समाजवादी देश है। अपने राष्ट्र, अपने प्यारे राष्ट्र के लिए बहुत सुलगती हुई भावनाएँ आज के रूसी कवियों के मन में हैं—

हाँ हम मानववादी हैं,
ऊँचे विचारों का प्रकाश हमारी आत्मा को लुभा लेता है,
महान् कार्यों का यश एक ज्योतिर्मय संदेश है,
जो चलता जाता है,
पीढ़ी से पीढ़ी को, युग से युग को,
बिना किसी अन्त के।

इसी मानववाद को लेकर आज का रूसी साहित्य आगे बढ़ रहा है जो राष्ट्रीयता का चरम व उदात्त रूप है। किसी भी अमरीकन कवि ने अमरीका के लिए वह नहीं लिखा, किसी भी इंगलैण्ड के कवि ने इंगलैण्ड के लिए वह नहीं लिखा, जैसा रूसी कवियों ने अपनी महान् रूसी जनता के पसीने में कलम डुबोकर अपना साहित्य लिखा है। यह ठीक है कि स्टालिन ने कुछ दिनों के लिए साहित्य पर कड़ा नियंत्रण रखा था, पर बाद में वह इस निष्कर्ण पर पहुँचा कि बिना साहित्य को आजाद किये उसके स्वाभिमान व स्वाधीन चिन्तन की रक्षा नहीं हो सकती और उसने उनकी आजाद कलम को पंख फैलाने के लिए विस्तृत आकाश दिया। आज वे अपने देश की महान् उन्नति का लक्ष्य लिये चल रहे हैं और सच्चे अर्थों में जनता के प्रतिनिधि बन कर अपनी लेखनी को सार्थक कर रहे हैं।

जर्मन काव्य

हिन्दी साहित्य के अनुरूप ही ११वीं सदी में जर्मन काव्य भी वीर बैलेडों के युग से प्रारम्भ होता है। गायकों की उपजीविका का साधन उनके ये वीर गीत ही थे। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर घूमकर ये गायक अपने वीर गीतों में राजाओं के पारस्प-रिक युद्ध तथा शौर्य की गाथाएँ सुना-सुनाकर जनता में शौर्य और पराक्रम की भावना को प्रोत्साहित किया करते थे। वीर बैलेडों के इस युग में अनेक काव्य रचे गये। मध्य युग में जिस लोक काव्य की परम्परा का श्रीगणेश हुआ उसमें 'निबुलुंगे

नलीड' अत्यन्त लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध काव्य माना जाता है। इसका रचना काल १३वीं शती का है।

१६ वीं शती में मार्टिन लूथर के जन आन्दोलन के कारण जर्मनी में एक नई राष्ट्रीयता का उदय हुआ। धर्म के नाम पर होने वाले पोप के अत्याचारों के विरुद्ध तत्कालीन कवियों ने भी आवाज उठायी। समाज में धर्म गौण, राष्ट्र प्रमुख माना जाने लगा। इसी राष्ट्रीय भावना ने जर्मनी को एक महान् राष्ट्र के रूप में विश्व रंगमंच पर ला खड़ा किया। राष्ट्रीय उत्थान की भावना जन-जन के हृदय का अभिन्न अंग बन गयी।

जन-जीवन पर सुन्दर व्यंग से भरी बैस्टियन ब्रैंट की पुस्तक 'नारेन्शिफ' (मूर्खों की नौका) जर्मन भाषा का प्रथम लोक काव्य कहा जा सकता है। इससे पूर्व जर्मन काव्य लैटिन भाषा में ही लिखा जाता रहा। जर्मनी के जीवन व साहित्य, दोनों पर फ्रेंच का अत्यधिक प्रभाव रहा। इस दासता से मुक्त होने के लिए अनेक आन्दोलन चलाये गये। इसी आन्दोलन के परिणामस्वरूप जर्मनी के काव्य में अपनी भाषा का प्रयोग शुरू किया गया।

१८वीं सदी में फ्रीडिख गांटलिब क्लाप स्टॉक ने अपना एपिक 'मेसिया' रचा। उसकी एक कृति 'ओडो' भी अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके काव्य रस से जन साधारण झूम उठता है। इसी शती में हर्डर राष्ट्रीय प्रेरणा का महान् प्रेरक रहा है। रूसो के समान हर्डर का नाम राष्ट्रीयता के प्रेरक के रूप में गौरव के साथ लिया जाता है। उसने जर्मन के महान् कवि गेटे का निर्माण किया। जर्मन के राष्ट्रीय काव्य में गेटे का स्थान सर्वोपरि है। राष्ट्रीय काव्य के इस देदीप्यमान नक्षत्र ने जन-जन के जीवन में काव्य सरिता की वह अद्भुत धारा प्रवाहित की कि उस जैसी धारा इसके पूर्व जर्मन काव्य में कदापि दृष्टिगत नहीं हुई। गेटे जन-जन का कवि था। उसका प्रसिद्ध लोकप्रिय गीत 'हाइडेन रोस्लाइन' प्रत्येक जर्मन का कण्ठहार बना हुआ है। गेटे के समकालीन कवियों में होल्डरलिन ने भी सुन्दर लिरिकों की रचना की थी।

जिस भावना को १८वीं शती में गेटे ने प्रस्तुत किया १९वीं शती में वही भावना राष्ट्रीयता के रूप में कहीं अधिक परिष्कृत होकर विकसित हुई। अपने राष्ट्र की सुन्दरता तथा राष्ट्र प्रेम का सुन्दर दर्शन हमें जोजेफ फान आइरवेन डोर्फ की रचना में मिलता है। जर्मन की प्रसिद्ध ऐतिहासिक वीर गाथाओं ने जर्मनी की जनता में वीरता व गौरव के नये भाव जगाये। उसका श्रेय लुडविग ओहलांड को दिया जा सकता है। विश्व विजेता नेपोलियन के विरुद्ध जर्मन शक्ति के प्रमुख प्रणेताओं में अर्नेस्ट मोरिट्स आर्न्ट तथा थियोडोर कोरनेर का नाम प्रसिद्ध है।

सन् १८३० में दूसरी फ्रान्सीसी राज्य क्रान्ति से प्रेरणा पाकर मध्य यूरोप को जनतांत्रिक बनाने का बीड़ा वहाँ के कवियों ने उठा लिया। भविष्य को बनाने

और वर्तमान को बदल देने की भावना कवियों को प्रोत्साहित करने लगी। जनतांत्रिक शासन, धार्मिक सहिष्णुता, क्षमता आदि भावनाओं को लेकर कवियों ने जो रचना की, उसे शासन द्वारा खतरनाक घोषित किया गया। उनकी रचनाएं जब्त की गयीं। हाइन्रिख हाइने उस समय का महान् राष्ट्रकवि था। उसका 'बुवडर लीडर' (गीत संग्रह) वहुत लोकप्रिय हुआ। वह पहला जर्मन कवि था, जिसने देश के कोने-कोने में झाँककर भावी विषमता को देखा। धनी और निर्धन के बीच की खाई उसे असह्य प्रतीत हुई। उसने अपने 'एंग्लिशे फ्रागमेण्टे' काव्य में धनी जीवन के विरुद्ध दरिद्र निर्धनों की दैनंदिनी आवश्यकताओं की ओर ध्यान देकर उनके दु:ख भरे जीवन का चित्र खींचा। अपने 'द्वायत्श्लैण्ड आइन विन्टर मार्खेन' काव्य में स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारने का महान् स्वप्न देखा। उसने जनसत्ता के समाज में मानव को देवता वनाकर प्रतिष्ठित करने की कल्पना की। उसके गीतों में भावी समाज का चित्र स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उसने जर्मन की उन्नति व समाजवादी क्रान्ति की भविष्यवाणी की। वह स्वयं अपने आप को मानवता के पक्ष में संघर्ष करने वाला सैनिक मानता था।

इनके साथी कवियों में कार्ल गुत्सको, थ्योडोर मुन्ट तथा लुइबिग बार्न आदि का नाम भी उल्लेखनीय है।

राष्ट्रकवि की वाणी संघर्षशील समाज की शक्ति सम्पदा बन गयी। कविताओं के माध्यम से कवि नये युग के सन्देश को जनता तक पहुँचाते थे। उस काल के कवियों में प्रधान जार्ज हर्वे, फर्डिनेण्ड फेलिग्राथ आदि कवि थे। होफमान की कविता उस समय जर्मनी में देशद्रोहपूर्ण समझी गयी। पर एक ही पीढ़ी बाद राष्ट्र गान के रूप में जन-जन की जिह्वा पर चढ़ गयी। इस कविता का नाम 'द्वायत्श्लैण्ड, द्वायत्श्लेण्ड ऊवेर अलेस' है।

सन् १९३३ में राष्ट्रीय समाजवाद की विजय हुई। यहीं से उग्र राष्ट्रवाद की भावना तीव्रता से जर्मनी में प्रवुद्ध हुई। हिटलर की भावनाओं के अनुरूप काव्य में भी इसी उग्र राष्ट्रवाद के दर्शन सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी की स्वतंत्रता का अपहरण हुआ। आज जर्मन काव्य की प्रगति दासता की श्रृंखलाओं में जकड़ी हुई विश्व की प्रमुख विचारधाराओं से ग्रथित है। एक सुप्त भावना जर्मनी के एकीकरण को लेकर पनपने का अवसर खोज रही है।

चीनी काव्य

चीन संसार का महान् देश है, उसकी जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का चौथाई भाग है। इतने विशाल देश में वोली जाने वाली चीनी भाषा का काव्य भी उतना ही विशाल है। चार सहस्र वर्षों से परम्परागत चीनी काव्य निरंतर वहाँ के

जनमानस को प्रभावित करता आ रहा है। चीनी हृदय बहुत पहले से ही अपने भावों को कविता का रूप देता आया है—

सुबह होती है और मैं काम में खो जाता हूँ,
सांझ होती है तो आराम से सो जाता हूँ।
खोदता हूँ मैं कुआँ प्यास बुझाने के लिए,
खेत मैं जोतता हूँ भूख मिटाने के लिए।
राज सत्ता को भला मुझसे सरोकार है क्या ?

चीनी काव्य का यह प्राचीन लोकगीत चीनी जन जीवन के काव्य की आत्मा है। इस गीत का शब्द-शब्द चीनी जीवन का रहस्य खोलता है। आज भी चीनी अपनी जमीन का आप स्वामी है। शोषण के अनवरत प्रयत्नों को लांघकर उसने अपना गान सार्थक किया है। आज उसे किसी राजसत्ता को चुनौती देने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक किसान स्वयं राज-सत्ता का अभिन्न अंग है।

प्रगति के बढ़ते हुए कदमों के साथ उनके गान ओड और बैलेडों के रूप में प्रकट होकर, मुरली और तंत्री के स्वरों में सधकर जनता के हृदय को झंकृत करने लगे। उनकी आवाज कभी दबायी नहीं जा सकती वरन् वह आवाज उनके जीवन की प्रेरणा बनकर चीनी आकाश में व्याप्त हो गयी। जनशक्ति का वास्तविक स्वरूप चीनी काव्य में बहुत पहले से प्रतिबिम्बित होता रहा है। ८७८-८४२ ई० पू० चाऊ वंश के दसवें राजा लिनवांग से शाऊ के अमीर ने कहा था—'नदियों की बाढ़ रोकने का अर्थ है उन्हें फैलाने को मजबूर करना और उसका परिणाम स्वाभाविक प्रवाह की अपेक्षा कहीं अधिक हानिप्रद सिद्ध होता है। आकाश के पुत्र (राजा) को ज्ञात है कि तब शासन किस प्रकार किया जाता है जब अफसर और पण्डित आजादी से कविता करते हैं। अन्ध गायक अपने बैलेड गाते हैं, इतिहासकार अपने इतिवृत्त लिखते हैं, जब संगीत के दीवाने सुर और ताल का विस्तार करते हैं और सैकड़ों कलावंत और अन्य जन यथा काम कथनीय व्यक्त करते हैं।' काश ! शाऊ का यह मंत्र आज की राजसत्ताओं की बुद्धि को छू पाता।

चाऊ काल से चली आयी वक्तव्य की स्वाधीनता चीनी इतिहास की बहुमूल्य प्रेरणा रही है। चीन में जनशक्ति का मूल्यांकन बहुत पहले किया जाने लगा है। चीनी काव्य में कवि और कलाकारों की एक बाढ़ सी (सातवीं, आठवी शती में) चली आयी। यह युग साहित्य में स्वर्ण युग के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में दो हजार कवि और उनके द्वारा रचित ४८ हजार कविताएँ चीनी काव्य के विपुल भण्डार की अनमोल निधि हैं। अनेक काव्यों में मानवतावादी राष्ट्रीय दृष्टिकोण स्पष्टतः परिलक्षित होता है। १८वीं सदी में इन्ही कविताओं को चुनकर एक संग्रह प्रकाशित किया गया जिसमें ७७ कवियों की ३११ कविताएँ संगृहीत हैं। ये कवि-ताएँ चीन में रामचरितमानस की तरह लोकप्रिय हैं।

इसके बाद साहित्य के महारथी टू फू काव्य के क्षेत्र में राष्ट्रीयता की भावना को लिये हुए लोक प्रसिद्ध कवि हुए। इनका काव्य स्वर छिन्न-भिन्न समाज के, निर्धन व दुःखी किसान के तथा युद्ध की चोटों से वेदम हुए देश के विषाद को लिये हुए है। इन्होंने अपनी कविताओं में साहस व निर्भीकता से तत्कालीन देश की परिस्थितियों पर प्रकाश डाला। चीनी जगत का विषाद पूरित बोझिल चित्र अपने काव्य में खींच कर रख दिया। इनके शब्द-शब्द से संवेदना टपकती है। टू फू की सहानुभूति भरी कविताओं ने चीनी हृदय को छू लिया। चीनी जनता ने कृतज्ञता भरे स्वर में इसे मनीषी कवि की उपाधि प्रदान की। उनके काव्य में आत्मावलम्वन, आत्मसंयम व आत्मानुभूति की प्रेरणा मुखरित हुई है। शांति उनके काव्य की शाश्वत चेतना है।

१२वीं सदी तक अनेक राजवंशों ने चीन में राज्य किया। १२वीं सदी का महान् कवि लू यौ असाधारण देशभक्त था। तातारों की चोट से कराहती पीली नदी की घाटी उसके तरल स्वरों में उतर पड़ी। तातारों के सामने आत्मसमर्पण करने वाले शासकों को उसने खूब धिक्कारा। इसी समय की एक कवयित्री लीयीयान ने भी राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कविताएँ लिखी हैं।

१९वीं सदी के अंत में चीन के एक छोर से दूसरे छोर तक नई क्रांति की लहर व्याप्त हो गयी। राजनीतिक व सामाजिक सभी क्षेत्रों में नई भावनाएँ उद्भूत हुईं। पश्चिमी राजशक्तियों ने चीन पर भी साम्राज्यवादी छापा मारा। १९१९ में साहित्यिक क्रांति का अग्रदूत लूहसन् था, जिसने जीवन के साथ काव्य का अविच्छिन्न सम्बंध स्थापित किया। सभी साहित्यकारों की काव्यशक्ति साम्राज्यवादी सामंतवादी शक्ति से संघर्ष करती रही। स्वदेश रक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण भार कवियों के कंधे पर ही था। १९३२ में जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तब कवि अपने कर्त्तव्य की ओर सजग हो गये। इससे पूर्व कवि रहस्यवाद व रोमांटिक काव्य के दल-दल में फंसे हुए थे। आक्रमण से उन्हें ऐसा लगा जैसे कोई निर्दय बहेलिया उनके कल्पना लोक के भव्य नीड़ों को नोचकर फेंक रहा है। जब उन्होंने पीकिंग, शंघाई और नैनकिंग में फासिस्टों के बर्बर कारनामे देखे तो वे सिहर उठे। नानकाई विश्वविद्यालय के खण्डहरों ने उनकी आत्मा को कचोट कर जगा दिया।

एक बर्बर साम्राज्यवाद उनकी सभ्यता और संस्कृति, कला और साहित्य पर आक्रमण कर बैठा था। १९३२ में एक तरुण कवि N. Y. I. Erh ने गीत लिखा 'मार्च ऑफ गुरिल्लास'। यह गीत चीन के करोड़ों लोगों की जबान पर आज भी मुखरित होता है। एक ईसाई निनलियांग को ने चीन के राष्ट्रीय गीतों को एक साथ मिलकर गाने की प्रथा प्रारम्भ की। जनता को स्वदेश-रक्षा की प्रेरणा देती, ये गायक मंडलियाँ सभी प्रान्तों में घूमतीं। उस समय के गीतों ने सारी जनता को राष्ट्र प्रेम की भावना में आबद्ध कर लिया तथा साथ ही राष्ट्र के

प्रति कर्तव्य का ध्यान दिलाकर अपनी अंतिम विजय पर अटूट विश्वास उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुए।

नीडर के गीत 'द मार्च ऑफ गुरिल्लास', 'फारवी कैनॉट डाइ', 'सांग ऑफ यंग वूमेन' में क्रान्तिकारी भावना प्रवल रूप में उद्भूत हुई है। चीन के पार्टीजन सांग जो उनकी उत्कट देशप्रेम की भावना का प्रतीक है, की पंक्तियाँ हृदय में उत्साह और प्रेरणा की एक झंकार पैदा करती हैं—

We are partisons ya hei
Defending our native land ya hei
We are country ruslics ya hei
Who wants to be a slave ya hei.

इटैलियन काव्य

१३वीं सदी में उत्तरी इटली में फ्रांस के वीर काव्यों की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। दान्ते की 'डिवाइन कॉमेडी' इटली का विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह एक असाधारण कृति है जो तत्कालीन इटली साहित्य के लिए सर्वथा अनूठा प्रयास माना गया। इटालियनों का साहित्यिक गौरव बढ़ाने में यह ग्रन्थ सक्षम सिद्ध हुआ।

१४वीं सदी के मध्य आंशिक जनतांत्रिक शासन के स्थान पर तानाशाही की स्थापना हुई फलतः काव्य में गतिरोध उत्पन्न हुआ। आण्टेनियो पुसी ने अपने सानेटों में तत्कालीन जीवन की समस्याओं को प्रतिबिम्बित किया हैं। १५वीं शती में लौकिक आधार पर खड़ा होकर लुइगी पुल्सी ने अपना प्रबन्ध काव्य मोर 'गान्टे माजिओरे' रचा। पुल्सी का यह वीर काव्य राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। इस युग में राजनीति और समाज दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगत होता है। युद्धों की परम्परा जारी थी। साहित्य में सामाजिक समस्याओं की परम्परा प्रारम्भ हुई। टोर क्वाटो टैस्सो की 'जेरूसेलेमे लिबराटा' उल्लेखनीय काव्य कृति है, जिसमें स्वतंत्रता की भावना को उद्बुद्ध किया गया है।

१७वीं शती के उत्तरार्द्ध में कार्लो मरिया भाज्जी ने इटेलियन में सुन्दर देशप्रेम से पूरित कविताएँ लिखीं। १८वीं सदी के मध्य और उत्तर काल में इटली के सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में क्रान्तिकारी जागरण हुआ। तत्कालीन काव्य में सामंतों और पादरियों की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह स्पष्टतः झलकता है। फ्रांस की अनेक क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों ने इटली को गढ़ बनाया। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति से उन्हें अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता और एकता की आशा हुई। पर नेपोलियन की स्वार्थभरी नीतियों ने इटली को निराश कर दिया। इन्हीं सब भावनाओं को लेकर जिन कवियों ने अपने काव्य की रचना की उसमें जियोवानी मेली, कार्लो पोर्टा, पिएट्रो वुराट्टी के नाम उल्लेखनीय हैं।

१९वीं सदी में नेपोलियन के पतन के साथ इटली, आस्ट्रिया का गुलाम बन गया। आधी सदी तक स्वतंत्रता का संघर्ष चला। तत्कालीन काव्य के उपास्य विषय थे—राजनीतिक स्वतंत्रता व देश की एकता। पेलिको व टोमासो ग्रोसी राष्ट्रीय चेतना के प्रसिद्ध कवि थे। जिउस्टा की कविताएँ भी राष्ट्र प्रेम व उज्जवल भविष्य की आशाओं से पूरित थीं। उसकी मानवतावादी जनसत्ता से भरी कविता ने देशप्रेम की प्रेरणा देकर स्वातंत्र्य संघर्ष को प्रोत्साहित किया। जिउसेपे जियोकीनो वेली जो १९वीं सदी का दूसरा उल्लेखनीय कवि है। उसने अपनी कविता से रोम का भ्रष्टाचार खोलकर रख दिया। अन्य राष्ट्रीय कवियों में प्रमुख हैं—अवि-एले रोसेट्री, पिएट्रो जिग्रानोने, ऐन्जलो ब्रोफेरियो, आलेसान्ट्रो पाएरियो, लुइजी मर्का-न्टीनी और गोफ्रेडो मामेली। इन सभी ने स्वतंत्रता के लिए कैद, निर्वासन तथा मृत्यु तक को गले लगाया। ये कवि के साथ-साथ स्वतंत्रता के अमर सेनानियों के रूप में भी इटली के इतिहास में अमर रहेंगे।

एक कैथोलिक दार्शनिक की रचना 'विन्से जोजियोवर्टी' है, जिसमें उसने पोप के तत्वावधान में व्यापक राष्ट्रीयता का स्वप्न देखा था। तत्कालीन राजनीति की प्रेरणा से युक्त व्यापक राष्ट्रीयता भरी रचनाएँ जिउसेपे माजिनी और मासिमो दय-जेलिओ की थीं। १८६०-७० के बीच देश का राष्ट्रीय स्वप्न साकार हुआ। क्रान्ति-कारी युग की भावनाएं लुप्त होकर एक सशक्त व आदर्श राष्ट्र बनाने की प्रेरणा काव्य का विषय बनी। बीसवीं शती में शान्ति और संघर्ष की साहित्यिक चेतना सर्वत्र व्याप्त है और इन दिनों सर्वहारा वर्ग की सहानुभूति से पगी रचनाएँ सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं।

विस्तार भय से विश्व की पाँच प्रमुख भाषाओं की राष्ट्रीय काव्य धारा पर ही हमने यहाँ प्रकाश डाला है। आशा है इससे राष्ट्रीय भावना की परम्परा व विकास को समझने की दिशा में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

(घ)

स्वदेशी काव्य की राष्ट्रीय धारा

विश्व-साहित्य की राष्ट्रीय काव्य धारा की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के साथ यहाँ भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्य पर भी दृष्टि डालना आवश्यक होगा। विश्व के मानचित्र में भारत का स्थान महानता एवं सांस्कृतिक विशालता के दृष्टिकोण से अग्रगण्य रहा है। यहाँ हम कृतज्ञतापूर्वक उदार अंतःकरण से यह भी स्वीकार करते हैं कि यूरोपीय राष्ट्रीयता की धारा ने भारत की बीसवीं शती की राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने में योग दिया है।

भारत की संस्कृति, सभ्यता, आदर्श ही महान् नहीं हैं अपितु भौगोलिक दृष्टि से भी भारत महान् विशाल देश है। एक ही संस्कृति के सूत्र में अनेक जातियाँ तथा अनेक सम्प्रदाय अनेकता में एकता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अपनी इस विशाल भौगोलिक स्थिति के कारण ही यहाँ पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न भाषाएं बोली जाती हैं। मुख्य रूप से भारत के संविधान में चौदह प्रान्तीय भाषाओं को मान्यता प्रदान की गयी है।

पूरब के झोंके (बंगला, असमिया, उड़िया)

कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनका साहित्य पर्याप्त सम्पन्न है। उनमें बंगला भी एक है। भारत के इतिहास को अपनी काव्य धारा से गौरवान्वित करने वाले विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला के ही प्रमुख कवि रहे हैं। बंगला की राष्ट्रीय भावना का सुन्दर उदाहरण भारत का लोकप्रिय राष्ट्र-गान "जन-गण-मन" है। राम मोहन राय की सामाजिक चेतना से अत्यन्त प्रभावित माइकेल मधुसूदन दत्त न केवल बंगला के कवि थे, अनेक यूरोपीय भाषाओं पर भी उनका अच्छा अधिकार था। दत्त ने बंगला साहित्य को तरुणाई दी। उन्नीसवीं शती के राष्ट्र कवि बंकिम चन्द्र चटर्जी का राष्ट्रवाद परिस्थितिजन्य जातीयवाद की राष्ट्रीय शृंखला का सुदृढ़ अंग है। बंकिम के 'वन्दे मातरम्' का स्वर भारत के कोटि-कोटि राष्ट्र पुत्रों के स्वर में फूट पड़ा। तत्कालीन भारत को बंकिम ने जो राष्ट्रीय चेतना दी, उससे भी कहीं अधिक राष्ट्रीय विचारधारा को, या यूँ कहें कि अन्तरराष्ट्रीय विचारधारा को लेकर बीसवीं शती के रवि और इन्द्र के रूप में रवीन्द्र विश्वविख्यात हो गये। रवीन्द्र ने विदेशी शासकों के प्रति विद्रोह का उद्घोष न कर, भारत की राष्ट्रीय शक्ति को सशक्त बनाने का महान् प्रयास किया है। उनकी बंग-लक्ष्मी, मातार-आह्वान, हिमालय, शान्ति, यात्रा-संगीत, भारत-लक्ष्मी देश-भक्ति के उच्छ्वास में आकर लिखी गयी रच-

नाएँ हैं। 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने' के स्वर में राष्ट्रीय गौरव की झलक दिखाई देती है। आगे चलकर काजी नजरुल इस्लाम राष्ट्रीयता के सशक्त स्वर बन गये। मन्मथनाथ गुप्त के शब्दों में "नजरुल की कविता ने एक जमाने में बंगला साहित्य में बड़ा तहलका मचाया था। वे सन् १८१४-१८ के महायुद्ध के बाद एक धूमकेतु की तरह हाथों में अग्नि वीणा लेकर आये थे" :[1]

विप्लव आनि विद्रोह कोरि नेचे-नेचे गोंफे दिइ ताव।

"मैं क्रान्ति को बुला लाता हूँ, मैं विद्रोह करता हूँ, मैं नाच-नाचकर मूछों पर ताव देता हूँ।"

महाविद्रोही रण क्लान्त आमि सेइ दिन हवो शान्त,
जबै उत्पीडि तेरे क्रन्दन रोल आकाशे वातासे ध्वनि बेना,
अत्याचारी खड्ग कृपाण भीम रणभूमे रणि बेना।

"मैं महाविद्रोही, रण-क्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूँगा, जिस दिन न तो उत्पीड़ित की क्रन्दन ध्वनि आकाश में गूँजेगी और न अत्याचारी का खड्ग कृपाण भयंकर होकर रण-भूमि में दिखाई देगा।"

जब एक ओर कुछ मुसलमान अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के बुरी तरह शिकार हो रहे थे, तब निश्चय ही नजरुल का विदेशी शासन के प्रति विद्रोही स्वर, विशेष श्रद्धा व स्नेह का पात्र बन गया। नजरुल की इस क्रान्तिकारी राष्ट्रीय विचारधारा का प्रभाव भी किशोर दिनकर पर पड़ा है। दिनकर ने रवीन्द्र और नजरुल की विचारधारा का सामंजस्य कर हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय चेतना को पूर्ण दृष्टिकोण प्रदान किया है। बंगला के कवि ईश्वरचन्द्र गुहा की कविताएँ भी देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हैं।

भारत के पूर्व की बंगला भाषा के साथ-साथ असमिया, उड़िया भाषाएं भी अपना कुछ विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। बीसवीं शती के कवि लक्ष्मीनाथ बेन बरुआ की देशभक्ति पूर्ण कविताओं व गीतों में 'अमोर जन्मभूमि मोर देश' आदि राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण हैं।

कमलाकान्त भट्टाचार्य पूर्णतः आधुनिक राष्ट्रीयता के तुमुल उद्घोषक हैं। इन के 'चिन्ता' और 'चिन्ता तरंग' नामक दो काव्य राष्ट्रीय लोकतंत्र के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। कवि हितेश्वर बड़ बरुआ राष्ट्रीय चिंतकों में प्रमुख स्थान रखते हैं। पाश्चात्य साहित्य का आलोड़न कर हितेश्वर ने असमिया काव्य को नया स्वरूप प्रदान किया है। बलिदान की भावना से ओतप्रोत काव्य-पंक्तियाँ देखिए—

---

[1] मन्मथनाथ गुप्त, प्रगतिवाद की रूपरेखा।

जो रणांगन में अपना जीवन अर्पित करता है,
अपने पितृ देश की मुक्ति के लिए समर रत,
उसे मृत्यु के बाद आनन्द मिलता है।

इन शब्दों में 'स्वर्ग द्वारमपावृतम्' की युगों-युगों की राष्ट्रीय भावना साकार हो रही है। ऐतिहासिक राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि पर लिखे गये काव्य 'कमतापुरध्वंस' और 'युद्ध क्षेत्रत आहोम रमणी' जन-जन में राष्ट्रीयता के तरुण भावों को सदैव सँवारते रहेंगे। इसके अतिरिक्त अम्बिकागिरि, डिम्बेश्वर नियोग, बिनन्दचन्द्र बरुआ के नाम उल्लेखनीय हैं।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि जिस समय बंगला का साहित्य यौवन के प्रथम चरण की ओर अग्रसर था, उस समय असमिया-उड़िया साहित्य रेंग-रेंगकर चलना सीख रहा था, परन्तु पिछले शतक में जिस तीव्रता से इन दोनों भाषाओं का विकास हुआ, वह एक चामत्कारिक सत्य है।

प्रमुख कवि फकीर मोहन सेनापति ने उड़िया काव्य को सँवारा। इनके साथ ही मधुसूदन ने देशभक्ति पूर्ण रचनाएँ की हैं। ये राष्ट्रीयता के सुदृढ़ अंग थे। इनके साथ ही साधानाथ 'महायात्रा' नामक महाकाव्य की रचना करते-करते महाप्रयाण कर गये। इस अधूरे काव्य में राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते हैं। अधूरा महाकाव्य भी राष्ट्र के लिए एक नई जागृति का महान् संकेतक है। गोप-बंधु की बंदीर-आत्म कथा, कारा-कविता आदि रचनाओं में स्वदेश प्रेम की ऊँची भावना दिखाई पड़ती है।

दक्षिण का मलयानिल (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम)

पूर्वांचल की इस राष्ट्रीय परम्परा के साथ-साथ हम दक्षिण की प्रमुख भाषाओं के राष्ट्रीय काव्य पर विचार करेंगे। तमिल दक्षिण की भाषाओं में अति प्राचीन है। इसे द्रविड़ परिवार की भाषाओं में प्रमुख माना गया है। इतिहास के धूमिल पृष्ठों में द्रविड़ शब्द अराष्ट्रीय विघटनात्मक शक्तियों की देन है। इसलिए हम उसे द्रविड़ परिवार न कह दाक्षिणात्य परिवार से सम्बोधित करेंगे। दाक्षिणात्य परिवार की समस्त भाषाएँ संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों से इतनी परिपूर्ण हैं कि यदि उत्तर की भाषाएँ संस्कृत की कनिष्ठ कन्याएँ हैं तो दाक्षिणात्य भाषाएँ उसकी ज्येष्ठ कन्याओं सी प्रतीत होती हैं।

भारत की प्रान्तीय भाषाओं का प्राचीन साहित्य महाभारत, रामायण तथा पुराण आदि के अनूदित ग्रन्थों से ही परिपूर्ण है। इन भाषाओं का प्राचीन पक्ष धर्मानुराग से ओतप्रोत है। यही अनुराग संस्कृति की रक्षा हेतु राष्ट्रीयता का जनक भी है। तमिल के प्राचीन काव्य में कम्बन राष्ट्रीय कविता के आदि जनक हैं। तमिल भाषा के राष्ट्रीय काव्य में आधुनिक तरुणाई के दर्शन उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण

में होते हैं जब अंग्रेजों के पैर मद्रास में जमे, नव-साहित्य का सृजन हुआ, काव्य ने भी नई धारा को अंगीकार किया।

अखिल भारतीय कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के समय से ही तमिल के काव्य में श्री सुब्रह्मण्यम भारती के राष्ट्रीय स्वर गूँज उठे। भारती का नाम तमिल के सर्व-श्रेष्ठ कवियों में लिया जाता है। उनकी कविता बहुमुखी थी। अधिकतर उनका काव्य राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण है। अल्पायु में भारती की ओजस्विनी वाणी में जनता-जनार्दन के हृदय में जागृति के जो भाव फूटे उनसे स्वतंत्रता आन्दोलन में नई शक्ति व स्फूर्ति का उदय हुआ। आपके देशीय गीत गान कुयिल पट्टु पांचालि शपदम् आदि काव्य प्रसिद्ध हैं। जो स्थान हिन्दी साहित्य में मैथिलीशरण गुप्त को है, वही स्थान तमिल में भारती को दिया जा सकता है। सुब्रह्मण्यम भारती की काव्य धारा में गांधीवादी आदर्शों की छाप अनेक स्थलों पर स्पष्ट देखी जा सकती है। दक्षिण के इतिहास में राष्ट्रीयता को नवजीवन प्रदान करने का श्रेय भारती को दिया जा सकता है। इनकी कविताओं में भावनाओं की उमड़ती धारा है। देश की आजादी के लिए कवि का हृदय तड़प उठा। कवि ने उस दिन का स्वप्न देखा था जबकि भारतमाता के करों से बेड़ियाँ टूटकर गिर पड़ेंगी और भारतवासी दासता के मोह से मुक्त होंगे। कवि की तीव्र आकांक्षा निम्न पंक्तियों में प्रकट हुई है—

एन्द्र तरिणयुम् इन्द सुदन्तिर ताहम् ?
एन्द्र मडियुम् एंकल अड़ि मैयिन मोहम् ?
एन्द्र मतन्ने के बिलंकुकल पोहुम् ?
एन्द्रि मतिन्नल कलतीन्दु पोटयाहुम् ?

"कब बुझेंगी हमारी स्वतंत्रता की प्यास ? कब मिटेगा हमारा यह दासता मोह ? कब गिर पड़ेंगी ये बेड़ियाँ मां के करों से ? कब दूर होंगी हमारी यातनाएँ ?" भारत की भावात्मक एकता चाहने वाले भारती की अन्तरात्मा से जो वाणी निकली, वह भी द्रष्टव्य है—

मुप्पठु कोड़ि मुख मुड़ैयाल उयिर
मोइम्पुर औन्टुडैयाल-इवल
चेधुम् मोष्ठी पदिनेट्टूडैयाल एनिर
चिन्तनै औन्टुडैयाल।

"हमारी भारतमाता तीस करोड़ मुख वाली है किन्तु उसकी जान तो एक ही है, वह अठारह भाषाएं बोलती है किन्तु उसका चिन्तन तो एक है।"

इनके साथी भारती दासन् भी क्रान्तिकारी विचारधारा के राष्ट्रीय कवि थे। आर्थिक समानता, विश्व-बंधुत्व तथा युद्ध के गम्भीर परिणामों पर आपकी कलम सशक्त बनकर उठी है। भाषा में ओज तथा प्रवाह है। इनके अतिरिक्त

देशि कवि नायकम् पिल्लै:, कंबदासन्, रार्मालिगम् पिल्लै, शुद्धानंद भारती आदि की रचनाएं भी तत्कालीन राष्ट्रीयता से अनुप्राणित हैं।

एक सहस्र वर्ष से साहित्य की अजस्र परम्परा को प्रवाहित रखनेवाली तेलुगु दाक्षिणात्य परिवार की भाषाओं में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती है। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की भरमार जितनी इस आन्ध्र भाषा में है, उतनी अन्य भाषा में शायद ही मिले। 'आन्ध्रमहाभरतम्' नाम से नन्नय्य की गिरा से राष्ट्रीयता का प्रथम अनूदित महाकाव्य आन्ध्र भाषा की अमर निधि बन चुका है। आन्ध्र भाषा के कई कवियों ने संस्कृत काव्य के ग्रन्थों का अनुवाद किया। इस प्रकार संस्कृत का प्रभाव इसमें स्पष्ट रूप से झलकता है। तिक्कन्ना नाम के कवि ने चंपू शैली में तीन पर्वों को छोड़, शेष महाभारत का अनुवाद किया। इनके अनूदित ग्रन्थ होने के कारण महाभारत को राष्ट्रीय काव्य के रूप में अंगीकार कर सकते हैं। चौदहवीं शती के प्रारम्भ में, जिसे कुछ साहित्यकार रेड्डी युग कहते हैं, महाकवि श्री नाथ ने 'पल्लाटि वीर चरित्रम्' की रचना की। इसमें जहाँ कवि की मौलिकता प्रस्फुटित हुई है, वहाँ वीर रस का ओजपूर्ण परिपाक भी हुआ है। इसी समय वेमन्ना अपनी प्राणशक्ति युक्त काव्य धारा को लेकर काव्य क्षेत्र में उतर आये। वेमन्ना तेलुगु के प्रख्यात कवि हैं। वेमन्ना में कबीर की सी स्पष्टवादिता व धार्मिक सामाजिक कुरीतियों तथा अंध-परम्पराओं के विरुद्ध तीखे व्यंग्य भरे भाव मिलते हैं। वेमन्ना सामाजिक जागरण के प्रथम कवि माने जा सकते हैं। इन्हीं के समकालीन बम्मेर पोतन्ना काव्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। परन्तु इनका काव्य धार्मिक काव्य के रूप में अधिक प्रसिद्ध है। पोतन्ना का भागवत, तुलसी के मानस के समान लोकप्रिय हुआ।

उन्नीसवीं शती के अन्त में तथा बीसवीं शती के प्रारम्भ में वीरेश लिंगम् पन्तुलु सामाजिक चेतना के अग्रदूत कहे जा सकते है। 'सत्यराव पूर्व देश यात्रलु' नाम के अपने काव्य में इन्होंने भारतीय सामाजिक दुर्बलताओं पर प्रबल प्रहार किया है। गुरुजाड़ अप्पाराव वीरेश लिंगम् पंतुलु की भावनाओं से न केवल प्रभावित हुए बल्कि उन्होंने भी अपने काव्य को सामाजिक व राष्ट्रीय चेतना का आधार बनाया और उस कोटि के कवियों में अग्रगण्य रहे। गीत काव्य आपकी विशेषता है। आपकी 'मुन्याल सरालु' बहुत ही प्रसिद्ध पुस्तक है जिसमें आपने देशभक्ति पूर्ण कविताएँ लिखी हैं। आपकी सबसे प्रसिद्ध कविता है—

देशमुनु प्रेंमिचु मन्ना, मंचि अनुनदि पेंचु मन्नाः
ओट्टि माटलु कट्टि पेट्टोय, गट्टि पेल तल पेट्टु ओय।

रायप्रोलु सुब्बराव इस काल के वैतालिक थे। आपकी कविता में बीते वैभव की झलक दिखाई देती है। आपने कहा है—

ए देश मेगिना एंडु कालिडिना,
ए पीठ मेक्किना एव्वरे मनिना ।
पोग रानी तल्लि भूमि भारतिनी
निन्नु परानी जाति निडु गोरवम्

अर्थात्, किसी भी देश को जायें और किसी भी पद को प्राप्त करें, पर अपने देश को न भूलें और जाति-गौरव को बढ़ाना चाहिए। 'तेलुगु तल्ली' नामक काव्य संग्रह में आपने भारत के वैभव को दर्शाया है। देश भक्ति की कविताएँ लिखने में 'विश्वनाथ सत्यनारायण' का नाम भी प्रसिद्ध है।

निम्न वर्ग में जन्म लेकर भी जाषुवा ने समसामयिक समस्याओं पर अपनी लेखनी उठायी। जाषुवा की कई कविताओं में व्यंग्य का आश्रय लेकर अछूतों की शोचनीय दशा का वर्णन है। बीसवीं शती के प्रथम दशक से ही आन्ध्रवासियों में पृथक आन्ध्र प्रांत के निर्माण की भावना जग चुकी थी। इस काल का साहित्य भी प्राचीन आन्ध्र राजाओं की गौरवपूर्ण यशोगाथाओं से परिपूर्ण रहा है। परन्तु संकीर्णता की यह भावना भी भारतीय राष्ट्रीयता से सदैव प्रेरित रही है। सन् १९२० से १९४० तक काव्य में भावात्मक एकता प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। इस काल में आन्ध्र भाषा पर अंग्रेजी साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

राष्ट्रीय कवि के रूप में तुम्मल सीताराम मूर्ति चौधरी का नाम उल्लेखनीय है। गांधीजी की आत्म कथा को सर्वप्रथम काव्य का रूप देने का श्रेय आपको ही है। राष्ट्रगान काव्य में आन्ध्र के अतीत गौरव का ध्यान दिला, नव जागृति का सन्देश दिया है। द्वितीय विश्व युद्ध के साथ-साथ आन्ध्र भाषा का काव्य जन-काव्य बन गया। सामयिक समस्याओं पर अनेक कविताएँ लिखी जाती रहीं, जिनमें अकाल, अन्न-संकट तथा जीवन की विषम परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हुआ है। सन् १९४० से आधुनिक युग प्रारम्भ हुआ। प्रगतिवादी काव्य इस काल की विशेषता है। श्री 'श्री' राष्ट्रीय काव्य के प्रमुख प्रवाह के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। 'महाप्रस्थान' इनका प्रमुख काव्य है। स्वाधीनता का स्वागत गान तथा आन्ध्र प्रान्त के निर्माण के सम्बन्ध में श्री 'श्री' की रचनाएँ राष्ट्रीय काव्य की सुरक्षित निधि बन गयी हैं। महात्मा गांधी की मृत्यु पर आपने जो भाव पुष्प बरसाये, उनका भी अपना महत्त्व है।

हैदराबाद के आन्ध्र कवि 'दाशरथी' की रचनाएँ भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। 'अग्निधारा' और 'रुद्रवीणा' के आपके ओजपूर्ण विचार बहुत लोकप्रिय हुए हैं। कालोजी नारायण राव तेलंगाना क्षेत्र के जनप्रिय कवि हैं। एथ्कूरि नरसय्य चौधरी के ओजपूर्ण काव्य में राष्ट्रीयता पूर्ण विकसित रूप में स्पष्ट झलकती है। चौधरी के काव्य में जिस विशाल राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं, वह परम्परागत राष्ट्रीयता का एक परिष्कृत स्वरूप ही कहा जा सकता है। 'वीरभारतमु' में वीर रस पद-पद

में प्रस्फुटित होता दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक राष्ट्रीय काव्यों में जहाँ गांधीवादी आदर्शों का पूरा-पूरा प्रभाव दृष्टिगत होता है वहाँ बहुत से कवियों पर साम्यवाद की स्पष्ट छाप भी दिखाई देती है। इस युग के अन्य कवि गडियारे वेनुरशास्त्री, दर्भा राजशेखर शतावधानी ने क्रमशः शिवाजी व महाराणा प्रताप जैसे वीर नायकों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इस तरह तेलुगु काव्य में परिष्कृत राष्ट्रीय भावना भी समुचित रूप से विकसित हो रही है।

कन्नड़ भाषा का साहित्य अति प्राचीन है। ईसवी सन् की छठी शताब्दी से इस का रूप निरन्तर प्रगति की ओर ही रहा है। कन्नड़ साहित्य पर भी संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। बीसवी शती में नव जागरण के फलस्वरूप जहाँ एक ओर प्राचीन गौरव के अभिमान का भाव जागा वहाँ दूसरी ओर विदेशी शासन के विरुद्ध प्रबल राष्ट्रवाद ने भी उग्र रूप धारण कर लिया। लोक कविता का पुनर्जागरण, जिसमें बेन्द्रे और मधुर चेन्न ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया, अपने आप में वीर गाथाओं के लिए एक नई प्रेरणा सिद्ध हुई।

सन् १९२० में कन्नड़ काव्य ने आधुनिक युग में प्रवेश किया। अनेक कवियों के कण्ठ से काव्य की नई धारा प्रस्फुटित हुई। बी० एम० श्री कंठय्य, मास्ति और डी० वी० गुण्डप्प, पंजे, गोविन्द पै तथा बेन्द्रे आदि की कविताओं में देशप्रेम की उद्बुद्ध भावना तथा बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावनाओं का पूर्ण उभार दृष्टिगोचर होता है। राष्ट्रीयता की नई चेतना कन्नड़ के प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीतों के संकलन 'रसऋषि' में है। भारत छोड़ो आन्दोलन ने राष्ट्रीय भावनाओं में घृत का कार्य किया। इस प्रकार भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन ने कन्नड़ के राष्ट्रीय काव्य में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। तत्कालीन राष्ट्र की समस्याओं का पूरा-पूरा प्रभाव कन्नड़ के काव्य पर विशेष रूप से पड़ा है। विनायक की 'बाल देगुलदल्लि' देश के नूतन जागरण का सुन्दर प्रतीक है। विनायक के स्वर—

> देश से दरिद्रता के दुख को बाहर करो
> समानता और समदृष्टि को सिंहासन पर आसीन करो।
> तब कहीं जाकर स्वतन्त्रता की यह शाख जिसे तुमने आज यहाँ बोया है,
> फिर स्वतन्त्रता का सही अर्थ देगी और प्रकाश पुष्पों में खिल उठेगी।

कर्नाटक के जन-मानस में आज भी गूँज रहे हैं।

बी० सीतारामय्य की सशक्त राष्ट्रीयता इन शब्दों में बोल उठी—

> यह जनता ! इसके आगे बढ़ने वाले अभियान को कौन रोक सकता है ?
> इसकी असीम आशाओं को कौन सीमा में बाँध सकता है ?

राव का आजाद हिन्द फौज की विजय का वर्णन राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण है। बंगाल के दुर्भिक्ष से प्रभावित गोविन्द पै ने एक कविता में लिखा—"समृद्ध

होने पर भी हम भूख से मर रहे हैं, जीवन होने पर भी हम लोग मुर्दा की तरह जी रहे हैं।"

स्वतन्त्रता के बाद 'उद्घोष' नामक काव्य संकलन में कन्नड़ के कवियों का राष्ट्रीय स्वर मानो स्वतन्त्रता देवी का अभिषेक कर रहा था। परन्तु इस अभिषेक के साथ ही भारत विभाजन पर विनायक के आँसू रुक न सके। उसने भारत माता को दुःख के साथ दो चेहरों वाली जीनस की उपमा देते हुए कहा—

> ओ दो रूपों की पीड़ा, ओ दो जीवन और प्रेम की
> यह एक उलझा हुआ रास्ता है
> यह रास्ता एक के दो बनने का है।

बेन्द्रे का तैंतीस करोड़ों का गीत, भोजन के एक कौर की झोली कविता में तैंतीस करोड़ भारतीयों की आत्मा बोलती हुई प्रतीत होती है। बेन्द्रे की राष्ट्रीयता कई स्थलों पर अन्तरराष्ट्रीयता का भी स्पर्श करती प्रतीत होती है। इस प्रकार कन्नड़ के काव्य में राष्ट्रीय भावनाओं का स्वर सर्वत्र प्रस्फुटित हुआ है। पूंजीवाद के विरुद्ध निर्धनता का अभिशाप भी इन कवियों की वाणी से मुखरित हुआ है। निश्चय ही कन्नड़ का काव्य साहित्य के क्षेत्र में स्वर्णिम आभा का परिचायक है।

राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र केरल मलयालम भाषा का केन्द्र है। कुछ लोग मलयालम को तमिल की मध्य शाखा के रूप में प्रदर्शित करना चाहते हैं परन्तु मलयालम भाषा का अपना विशिष्ट साहित्य और व्याकरण उस विचारधारा का अनुमोदन नहीं करता। १४ वीं शती में मलयालम भाषा का अभ्युदय हुआ। १५ वीं शती में मलयालम का साहित्यिक रूप चेरूसरी की कृष्ण गाथा के रूप में सामने आता है। मलयालम का महाकवि, महाभारत और रामायण का प्रणेता एजहुत्राचन मलयालम का तुलसीदास है। १०वीं शती का कुंजन नम्बियार मलयालम का प्रथम जन कवि है। राष्ट्रीय कविता का स्रोत १९वीं शती में और अधिक निखर आया। संस्कृत साहित्य के अनुवाद की बाढ़ मलयालम में आयी। अंग्रेजी का भी अनूदित साहित्य इसी काल में प्रकाशित हुआ।

सन् १९१५ में कवि वल्लतोल नई काव्य प्रतिभा को लेकर उपस्थित हुए। वाल्मीकि रामायण का अनुवाद संस्कृत के छन्दों में प्रस्तुत किया। द्वितीय महायुद्ध के समय वल्लतोल की काव्य धारा नये रूप को लेकर प्रस्तुत हुई जिसमें राष्ट्रीयता का तूर्यनाद स्पष्ट सुनाई पड़ता है। वल्लतोल की लेखनी सामाजिक विषमता, आर्थिक शोषण सभी आदि समस्याओं पर चली है। भूत की प्रेरणा, भविष्य की आशा वल्लतोल के वर्तमान में झाँकती है। राष्ट्रीय कवि वल्लतोल के साथ कुमारन् आशान् ने राष्ट्रीय काव्य धारा को तीव्र गति देकर नई चेतना प्रदान की। उनके 'दुरवस्था', 'चाण्डाल भिक्षुकी' और 'करुणा' प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं जिनमें तत्कालीन राष्ट्रीय सम-

स्याओं पर प्रकाश डाला गया है। जी० शंकर कुरूप्प नई पीढ़ी के तरुण कवि हैं। वे जहाँ भारतीय संस्कृति के पोषक हैं, वहाँ आर्थिक और सामाजिक प्रगतिशीलता भी इनकी कविता में व्यक्त हुई है। कुण्डूर नारायण मेनन ने सफलतापूर्वक एक नये ढंग की वीर गाथा जैसी कविता शुरू की, जिसका कथानक लोकप्रिय लोकगीतों से लिया गया था। राष्ट्रीय चेतना के इस युग में इन तीनों कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं—वैल्लोपल्ली श्रीधर मेनन, वेण्णिकुलम् गोपाल कुरूप्प, पालाई नारायणन् नायर। ये मलयालम कविता की सच्ची परम्परा में हैं और प्रगतिशील विचारों से अधिक प्रभावित हैं। पालाई का 'केरलम् वलरून्नु' (केरल बढ़ता है) मलयालम का प्रसिद्ध जनप्रिय महाकाव्य है। नये युग के प्रायः सभी कवि साम्यवाद की सामाजिक चेतना से पूर्णतः प्रभावित हैं, फिर भी भारतीय संस्कृति का उन्नयन ही उनका महान् आदर्श रहा है। साथ ही केरल की राजनीतिक जागृति का स्पष्ट प्रभाव वहाँ के कवियों पर परिलक्षित होता है।

इस प्रकार मलयालम का काव्य मलयानिल की तरह राष्ट्रीयता की सुगंध व प्रवाह को लिये हुए आगे बढ़ रहा है।

पश्चिम की लहरें (गुजराती, मराठी)

गुजराती भाषा का उद्गम संस्कृत ही है। १४वीं शती से काव्य की धारा वही। परन्तु चार शती तक गुजराती काव्य में धार्मिक रूढ़िता तथा प्रेम के स्रोत बहते रहे। यद्यपि चालुक्यों एवं वघेलों के समय में गुजराती में वीर काव्य की रचना अवश्य हुई है। आक्रमणकारियों से देश को बचाने के लिए गुजराती वीरों ने जो साहसपूर्ण कार्य किये, उन्हीं का वर्णन इस समय के काव्य में है। राष्ट्रीय काव्य धारा का स्रोत कवि दलपत राम के कण्ठ से सर्वप्रथम फूटा। उनकी कविता लोक कल्याण-कारिणी थी। जनता का उत्थान एवं कुरीतियों का विनाश इनका मुख्य लक्ष्य था। कविता में स्वतन्त्रता का मान एवं अत्याचार के प्रति विद्रोह यत्र-तत्र झलकता है। राष्ट्रीय प्रेम से अनुप्राणित काव्य की रचना भी इनके द्वारा हुई है—

स्वदेशनुं सर्व प्रकार सारूं। लमे करो ते गणिने तमारूं॥
जरूर एमां जन धर्म जांणों। अरे स्वदेशी अभिमान आणो॥

नर्मद कवि ने गुजराती काव्य को प्रथम बार काव्यगत स्वरूप प्रदान किया। नर्मद का स्थान गुजराती काव्य में वही है जो हिन्दी में भारतेन्दु का है। इन्होंने स्व-देशाभिमान तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी राष्ट्रीय कविताएँ लिखी हैं। गुजरात की प्रशस्ति में लिखा हुआ उनका गीत 'जय-जय गरवी' गुजरात-प्रसिद्ध है। स्वदेशाभिमान की कविता देखिए—

बिना देश अभिमान देश उत्कर्ष न थाये,
देश रान सम शान जेहवो रवाना थाये।

इसी तरह १६वीं शती के मुख्य कवि गोवर्द्धन राम तथा हरिलाल ध्रुव, खबरदार, मणिशंकर, रतन जी भट्ट तथा नाना लाल के नाम उल्लेखनीय हैं। कवि गोवर्द्धन के काल में गुजराती काव्य नये धरातल पर सामाजिक जागृति को लेकर आगे बढ़ा। रूढ़िवाद की गहरी जड़ों पर प्रबल प्रहार हुआ। हरिलाल ध्रुव ने गुजराती कविता को पाश्चात्य शैली में ढाला। स्वदेश प्रेम व स्वदेशाभिमान इनकी कविता की मुख्य विशेषताएँ हैं। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत इनकी पंक्तियाँ देखिए—

> शरम शानि स्वदेश सेवा मां मुखतत्या कामनीशी
> म्हेल पेलो करे प्हेल बांजो करे श्रे आश काननीशी
> शूरा सामद हो एक बार
> श्रे स्वदेश माटे को रणयज्ञे प्राण आहुति देऊं सर्जनि
> न चाहुं उगरवा।

देशभक्ति में नर्मद के बाद खबरदार का नाम आता है। भट्टजी ने 'उतारो जी अम देशे ईश्वर आशीर्वाद' कहकर भारत-दुर्दशा पर आँसू बहाये हैं। नानालाल ने 'कुरुक्षेत्र' नाम से एक वृहत्काव्य की रचना की है। इनकी कई कविताएँ देशप्रेम से परिपूर्ण हैं। इनकी 'अमारो गुणियल गुर्जर देश' कविता आज भी गुजराती जनता का कण्ठ-हार बनी हुई है। इनकी ओज भरी वाणी 'धर्मना वीर ओ आर्यपुत्र उठजो' के रूप में प्रस्फुटित हुई है। नानालाल आधुनिक गुजराती कवियों के मुकुट मणि माने जाते हैं। राष्ट्रीय उत्थान ही नये काव्य की प्रेरणा का मूल स्रोत रहा है। दलितोद्धार, ग्राम सुधार, आर्थिक समानता आदि के रचनात्मक आदर्शों को लेकर गुजराती काव्य, जन काव्य के रूप में आगे बढ़ रहा है। गुजरात के कण-कण में राष्ट्रीय चेतना जगी थी। स्वतन्त्रता से पूर्व कवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा को राष्ट्रीय जागरण के स्वर में अर्पित किया। सम्पूर्ण काव्य शक्ति भारतीय स्वतन्त्रता के लिए जूझ रही थी। अब वह अपने राष्ट्र को सुराष्ट्र या सौ-राष्ट्रों की तरह तेजस्वी बनाने को तत्पर है।

मराठी भाषा का उद्भव लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व का है, दो शती के उपरान्त ही मराठी ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया। मराठी काव्य में प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय चेतना सन्तों की वाणी से प्रस्फुटित हुई है। सामाजिक उत्थान एवं राष्ट्रप्रेम के प्रतीक सन्त ज्ञानेश्वर व नामदेव सदा अमर रहेंगे। १३वीं शती में सन्त ज्ञानेश्वर और नामदेव का जो स्वर फूटा वह आज भी अपने प्रभावपूर्ण ओज और तेज से जन-जन के हृदय में नई चेतना का आधार बना हुआ है। प्रो० फाटक ज्ञानदेव को एक राष्ट्रीय नेता मानते हुए कहते हैं—उत्तरी भारत में इस्लाम के आने से जो राजकीय आक्रमण और धार्मिक संक्रमण हुआ था, उसके कारण साधारण जनता

किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी, पर गीता का आधार लेते हुए ज्ञानदेव ने जनता में आत्म विश्वास का निर्माण किया।[1] ज्ञानदेव की अन्तिम प्रार्थना आशादायी—

दुरिताचे तिमिर जावो, विश्व स्वधर्म सूर्य पाहो।

ज्ञानेश्वरी में गीता का अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस ८० वर्ष के काल में महाराष्ट्र में एक महान् क्रान्ति हो रही थी। ज्ञानदेव के काल में उत्तरी क्षितिज पर यावनी कृष्ण मेघ कहीं-कहीं दिखाई दे रहे थे। किन्तु थोड़े ही समय के वाद पूरा नभोमण्डल घनघोर घटाओं से आच्छादित हो गया। नामदेव ने इस परिस्थिति का वर्णन करते हुए एक अभंग में लिखा है—

दैत्याबेनी भारे दाटली अवनी।

१६वीं व १७वीं शती में इसी परम्परा में एकनाथ, तुकाराम व रामदास के नाम उल्लेखनीय हैं। एकनाथ का विशेष ग्रन्थ भागवत है। उद्धव और श्रीकृष्ण के संवाद का आधार लेते हुए एकनाथ ने तत्कालीन यवन पीड़ित जनता में धर्म के प्रति श्रद्धा का संचार किया। हिन्दू-तुर्क संवाद पढ़ने से दक्षिण में इस्लाम प्रचारक व राज्याधिकारियों के अत्याचार का बोध पाठकों को होता है—

शूद्राहुनि अति कनिष्ठ ते राजे होती अति श्रेष्ठ
वर्ण वर्णी करिती भ्रष्ट अति पापिष्ठ अधर्मी।

तुकाराम तो मराठी के तुलसीदास हैं। वे जनता के कवि थे। स्वामी रामदास ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। 'सर्वत्र स्वानुभव', 'दिनकर परूचक्र निरूपण' आदि ग्रन्थों में स्वामी रामदास ने तत्कालीन परिस्थिति का यथार्थ वर्णन किया है—

राजा देवद्रोही झाला, देवस्थलांचा उच्छेद केला,
अथवा
स्वधर्माचा लोप झाला, अधर्मीजन प्रवर्तला।
स्व इच्छा गोंधक घातला। कली ने सावकाश॥

हिन्दुओं को जागृति का सन्देश देकर शिवाजी को स्वराज्य-स्थापना की प्रेरणा समर्थ रामदास ने ही प्रदान की। उनका उपदेश था—

म्लेच्छ दुर्जन उद्दंड-बहुता दिवसांचे माजले बंड
या कारणे अखंड सावधान असावे।

इन कवियों ने राष्ट्रीय भावना को और अधिक शक्ति प्रदान की। समर्थ की वाणी ने शिवाजी जैसे राष्ट्रीय नेता को जन्म दिया। १८वीं शती में मराठी का साहित्य

---

[1] प्रो० न० न० फाटक, ज्ञानेश्वर आणि ज्ञानेश्वरी।

परम्परागत राष्ट्रीयता से उपेक्षित हो विद्वत्ता एवं प्रतिभा प्रदर्शन की होड़ में जूझ पड़ा। परन्तु यह काव्य अपनी जटिलता के कारण जन साधारण को प्रभावित न कर सका। वामन रघुनाथ, मोरोपंत विद्वान् कवि अवश्य थे, पर जनप्रिय न हो सके। महाराष्ट्र की राष्ट्रवादी जनता ने इस युग के वीररस पूर्ण पोवाड़ों से अपनी प्यास बुझायी। आधुनिक काव्य धारा १९वीं शती में कवि केशवसुत से प्रवाहित हुई। अतीत का गौरव तथा पश्चिम की राष्ट्रीयता से प्रभावित केशवसुत की वाणी के स्वर आज भी मराठी काव्य के लिए दिशा-बोधक हैं। एक उच्चतम शान्ति की इच्छा से प्रेरित हो, जीवन के व्यक्तिगत विकास के उद्देश्य से केशवसुत का काव्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जीवन की यही श्रेष्ठता, राष्ट्रीयता का चिर आलम्बन बन जाती है।

केशवसुत के समकालीन विख्यात कवि विनायक जनार्दन करंदीकर को अर्वाचीन मराठी चारण कहा गया है। वीर गीतों के स्रोत को नई परिस्थिति के अनुसार कवि ने महाराष्ट्र में नये रंग के राष्ट्रीय गीतों की परम्परा प्रचलित की—

मी निज देश यशोगानी वाहिली असे सदा वाणी,
स्फुरती वीरांचे बाहु-म्हणती स्त्रियाँ रणी जाऊँ।

देशभक्ति का गान करना ही कवि के जीवन का लक्ष्य था। पद्मिनी, दुर्गा, पन्ना जैसी वीर रमणियों की वीरता के आख्यान लिखते हुए देश के अतीत गौरव की ओर ध्यान आकर्षित किया। साथ ही फुटकर गीतों में देश की वर्तमान अवनति के लिए दुःख व्यक्त करते हुए नवयुवकों को सेवाकार्य की चेतावनी भी दी। राजनीतिक क्षेत्र में तिलक की भावनाओं ने क्रान्तिकारियों को नई प्रेरणा प्रदान की। विनायक दामोदर सावरकर क्रान्तिकारी श्रेणी के प्रसिद्ध कवि हैं। वीर सावरकर ने काले पानी में अंडमान की दीवारों पर अपने ओजस्वी काव्य का श्रीगणेश किया। 'सिंह गढाच्या', 'पोवाड़ा' आदि कई गीतों पर ब्रिटिश सरकार ने प्रतिबन्ध लगाया। इसी से उनकी राष्ट्रीय क्रान्तिकारी भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। आपके 'कमला' और 'गोमान्तक' काव्य अत्यन्त ओजपूर्ण व प्रसिद्ध हैं। एक ओर वीर सावरकर देशभक्त क्रान्तिकारी के रूप में सक्रिय हो जूझ रहे थे और दूसरी ओर देशवासियों के हृदय में काव्य के द्वारा जागृति का मंत्र फूंक रहे थे। उनका समस्त राष्ट्रीय काव्य हृदय-स्पर्शी है और अनायास ही नवयुवकों के हृदय में राष्ट्रीय भावनाओं को नव-स्फूर्ति प्रदान करता है। दूसरी ओर दुर्गा प्रसाद, आत्माराम तिवारी जैसे हिन्दी भाषी नर पुंगवों ने मराठी काव्य को भी अपने राष्ट्रीय गीतों द्वारा सुशोभित किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के कारण प्रायः सभी कवि राष्ट्रीयता के भावों को किसी न किसी रूप में अपनी रचनाओं में स्थान देते रहे। उनमें टेकाड़े, साने गुरुजी, ना० के० बेहरे, खाडिलकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीयता की दृष्टि से मराठी काव्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वतंत्रता से पूर्व तक मराठी काव्य में सर्वत्र राष्ट्रीयता का ही उद्घोष दिखाई देता है। आज भी वे अपने देश में राष्ट्र को महाराष्ट्र बनाने की योजना में लगे हुए हैं।

उत्तर का ओज (कश्मीरी, पंजाबी, उर्दू)

कश्मीर भारत का ताज है। कश्मीरी भाषा के काव्य को सदा से राष्ट्रीय भावनाओं की स्फूर्ति प्राप्त होती रही है। १५ वीं शती में कश्मीरी भाषा अपने विशेष स्वरूप में आयी, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इसका विशेष विकास न हो सका। जो थोड़ा बहुत अनूदित साहित्य लिखा गया था, वह भी काल-कवलित हो गया। विगत तीन दशक में कश्मीरी ने एक नवीन ओजस्वी रूप धारण कर लिया है। इतनी अल्पावधि में विश्व की किसी भी भाषा का साहित्य इतनी तीव्रता से विकसित नहीं हुआ है। काश्मीरी साहित्य के प्राण उसकी राष्ट्रीयता में ही अन्तर्निहित हैं। कश्मीरी काव्य में सामाजिक, राजनीतिक जागरण का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से झलकता है। जनता की आवाज कवि महजूर की सशक्त वाणी में प्रस्फुटित हुई। देश भक्ति पूर्ण राष्ट्रीय कविता ने कश्मीरी कविता को नया स्वर ही नहीं, नया दृष्टिकोण भी दिया।

कवि अब्दुल अहमद आजाद की उत्साहपूर्ण वाणी में देशप्रेम कूट-कूटकर भरा था। उन्होंने राष्ट्रीय संकीर्णता के विरुद्ध एक जबर्दस्त विद्रोह किया। कश्मीरी साहित्य का सारा वातावरण क्रान्तिकारी उत्साह से भरा हुआ है। सन् १९४५ के शिशिर में न केवल कश्मीर की राजनीतिक जिन्दगी ने नया मोड़ लिया, अपितु देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा में भी नवजीवन छा गया। नादिम पूरी तरुणाई के और चैतन्य आशावाद के उदीयमान कश्मीरी कवि हैं। नादिम के सशक्त स्वर में निर्धनता तथा श्रमिक कृषक का क्रान्तिस्वर गूंज उठा—

> **हल लेकर, हर साल नया नसीब लिखते हैं, धरती माता की पेशानी पर,**
> **किसलिए ? जख्मी धरती को सुखी बनाने, उसके ललाट पर**
> **गुस्से की सलवटें दूर करने, उसके चेहरे पर की शिकनें,**
> **उसकी आँख का मोतियाबिन्द दूर करने के लिए।**

तथा इसी तरह—

> **मैंने गुलाब की आँखों को देखा,**
> **गुस्से से लाल थीं, इन्कलाब ने नई जान फूंक दी है झरनों में।**

रोशन की 'भ्रम' कविता में कवि ने कश्मीरियों के अपरिवर्तनीय इस निश्चय को वाणी दी है कि वे भारतमाता के अखण्ड एवं अविभाज्य अंग हैं और विश्व के विघटनकारी, उन समस्त कूटनीतिज्ञ देशों की विभाजन सम्बन्धी चाल कभी भी सफल

नहीं हो सकती। सुरक्षा परिषद के मंच पर खेले जाने वाले कश्मीर के नाटक की पृष्ठ-भूमियों ने कश्मीरी कवियों को कविता के अनेक विषय प्रदान किये हैं। पाकिस्तान के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए जहाँ जनता में साहस का संचार किया जा रहा है, वहाँ डाकू दुश्मन से प्रतिकार की भावना किन ओजस्वी शब्दों में व्यक्त की है। वह कश्मीर की सुषमा का गान न गाकर आज कश्मीर पर आयी आपत्ति रूपी पतझड़ के गीत गाता है—

आज मैं नहीं गाऊँगा कोई गीत गुल-ओ-बुलबुल का,
न झरने का न फूलों के कुंजों का न शबनम का न बहार का
क्योंकि आज पतझड़ की विषैली साँस
बसंत की हवा को दूर भगा देना चाहती हैं।

मनुष्य बड़ी तैयारी कर रहा है, मनुष्य का फिर से शिकार करने के लिए। वह निश्चय व प्रतिज्ञा के स्वर में कह रहा है—

मैं दुश्मन डाकू से मुकाबला करूँगा,
और चिल्लाकर कहूँगा हाथ ऊपर उठा लो।
दृढ़ निश्चय के साथ, मैं बराबर पहरा देता रहूँगा,
एक चौकी से दूसरी चौकी तक।

दूसरी ओर नादिम, रोशन, राही, कामिल की कविताओं में शान्ति के वे भी स्वर प्रस्फुटित हुए हैं, जिनमें रचनात्मक भावनाएँ तथा कश्मीर को गौरवान्वित करने वाली एकता की सजग राष्ट्रीयता भी विद्यमान है। राही के इन शब्दों में सुन्दर भविष्य की कल्पना भी की गयी है—

अंधेरा, बिजली और तूफान कैसे रह सकेंगे,
जबकि सूरज उगेगा और सवेरे की किरणें फूटेंगी।
पतझड़ का पीलापन काँपता हुआ भाग जाएगा,
जबकि सुन्दर वासन्तिक संगीत गूँज उठेगा।

'सम्पूर्ण कश्मीर की स्वाधीनता की कल्पना में जब भारत का लोकतांत्रिक सूर्य उगेगा' की सुन्दर भावना विशुद्ध राष्ट्रीयता से परिपूर्ण है।

पंजाबी भाषा का प्रारम्भिक काल सन्दिग्ध है। पंजाबी साहित्य का विकास स्पष्ट रूप से १५वीं शती से प्रारम्भ होता है। जिस प्रकार पंजाब पाँच नदियों का संगम स्थल है, उसी तरह पंजाबी भाषा भी कुछ भाषाओं के मेल का एक सुन्दर गुलदस्ता है, जिसकी अपनी निराली ही सुषमा है। सूफी सन्त तथा सिख गुरु पंजाबी काव्य धारा के आदि स्रोत रहे हैं। काव्य की भक्ति भावना दसवें गुरु गोविन्दसिंह में आकर राष्ट्रीय रूप धारण कर लेती है। सभी गुरुओं की वाणी काव्यमय है।

गुरु गोविन्दसिंह अपेक्षाकृत सुशिक्षित थे। औरंगजेब के अत्याचारों से कराहती उत्तर भारत की जनता के हृदय की भावना को गुरु गोविन्दसिंह ने अपने ओजस्वी काव्य में व्यक्त किया। गुरुओं की तरह यह वाणी उनके शिष्यों द्वारा संकलित आज भी सुलभ है। आर्य जाति के प्रतिनिधि देशरक्षक क्षत्रिय (सिख) वर्ग को सम्बोधित कर गोविन्दसिंह कहते हैं—

न डरों अरि सों जब जाय लरों निसचय कर अपनी जीत करौं,
जब आव की आउध निदान बनें अति ही रण में तब जूझ मरौं।

पंजाब की राजनीतिक अस्थिरता ही पंजाबी साहित्य के विकास में बाधक रही है। १९वीं शती के अन्तिम चरणों में वीरसिंह ने पंजाबी साहित्य को सँवारा और उसे समृद्ध किया। ८५ वर्ष के वयोवृद्ध ने अपनी लेखनी से जितने पृष्ठ रँगे हैं, सम्भवतः विश्व का कोई भी लेखक अपने पृष्ठ न रँग सका होगा। शाह मुहम्मद भी इसी शती में देशप्रेम की भावनाओं के साथ काव्य क्षेत्र में उतरे। ये रणजीतसिंह के दरबारी कवि थे। वीरसिंह का भाव-जगत् प्रधानतः शान्ति प्रधान शृंगार को लिये हुए था, परन्तु इसके साथ उन्होंने नैतिक उपदेशात्मकता तथा देशप्रेम को भी कलात्मक रूप से व्यक्त किया। इसके बाद धनीराम चात्रिक ने पंजाबी कविता में पंजाबी संस्कृति, देशप्रेम की भावना को व्यापक ढंग से प्रस्तुत किया। पंजाब में उन दिनों लाला लाजपतराय, सरदार अजीतसिंह जैसे नर केसरी देशभक्ति पूर्ण आन्दोलन चला रहे थे जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पंजाबी साहित्य पर भी पड़ा। इन्हीं आन्दोलन के बीच प्रा० पूर्णसिंह का सशक्त स्वर पंजाबी कविता के क्षेत्र में गूँज उठा।

आज के पंजाबी काव्य के प्रमुख कवि है मोहनसिंह, बाबा बलवन्त, अमृता प्रीतम और सफीर। साम्यवादी भावना से अनुप्राणित हो, कवि मोहनसिंह कहता है—

चलो इस धरती के बालों को चूमें,
चलो कुछ नजदीकी चीजों के बारे में बात करें।

देश के विभाजन पर अमृता प्रीतम के नयनों से शोकाश्रु इन शब्दों में प्रवाहित हो रहे हैं—वारिस शाह के प्रति वह कहती हैं—

ओ दुख को शान्त करने वाले, उठ और अपना पंजाब देख,
उसके खेतों में लाशें फैली हैं चिनाव में खून बह रहा है,
हमारी पाँचों नदियाँ उसी हाथ ने जहरीली बना दी हैं,
जो कि इस जहरीले पानी को जमीन की सिंचाई के
लिए काम में लाता है।

फिर से आज एक बार सीमा पर यही कुछ दिखाई दे रहा है, परन्तु पंजाब आज भाषा के नये प्रेमोन्माद से जाग उठा है। क्षितिज में उसकी ओजस्विनी धारा

दृष्टिगोचर हो रही है, अपने सुनहरे भविष्य के साथ राष्ट्रीय चेतना से आप्लावित पंजाबी साहित्य राष्ट्रीय काव्य का प्रतिनिधित्व करेगा, ऐसी आशा है।

उर्दू काव्य की दृष्टि से अत्यन्त ओजपूर्ण सशक्त भाषा है। उर्दू के शब्दों में परम्परागत वह तेज है, जो सभी को प्रभावित करता है। मुगल साम्राज्य के समय उर्दू इस देश के राजकाज की भाषा भी बनी थी। उर्दू काव्य का प्रारम्भ १३वीं शती में मुहम्मद कुली कुतुबशाह से माना जा सकता है। आधुनिक युग की वास्तविकता और राष्ट्रीय चेतना का उद्भव नजीर अकबराबादी की काव्य रचना में देखा जा सकता है। उनकी कविताओं में देश भक्ति व मानव जाति का प्रेम स्पष्ट झलकता है। इससे पूर्व के कवियों पर सूफी मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, उनके काव्य का सम्बन्ध जन-जीवन से अधिक न था। जो दीप दिल्ली में सौदा, दर्द और मीर ने जलाया था, उसे १९वीं शती के कवियों ने और दिव्य कर दिया, विशेषकर गालिब ने जीवन की बुझती हुई राख को कुरेद कर ऐसी चिंगारियाँ निकालीं जिसमें ज्वाला की गरमी और प्रकाश देखा जा सकता है।[1]

नई कविता के निर्माता मौलाना मुहम्मद आजाद माने जाते हैं। मौलाना शिबली मुसलमानों को जगाते हुए, उन्हें दासता के बन्धन तोड़ने का उपदेश देते हैं। अंग्रेजों को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—

समझकर यह कि धुंधले से निशाने रफ्तगाँ हम हैं,
मिटाओगे हमारा इस तरह नामो निशाँ कब तक ?

अकबर इलाहाबादी हास्य की ओट में अंग्रेजी राज्य पर विष भरे तीर चलाते थे। सुरूर की कविताओं में पूरी देशभक्ति के दर्शन होते हैं। स्वतंत्रता की लड़ाई जिस मंजिल पर थी, चकबस्त की कविता उसका प्रतीक कही जा सकती है। हिन्दू-मुस्लिम एकता और देशभक्ति से उनकी कविताएँ भरी हुई हैं—

अकबर ने जामे उल्फत बख्शा इस अंजुमन को,
सींचा लहू से अपने राना ने इस चमन को।
इसके भरे खजाने बरबाद हो रहे हैं,
जिल्लत नसीब खावे गफलत में सो रहे हैं।

हाली भी इस काव्य धारा के अपने ही ढंग के शायर हैं। भक्ति काल की हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना ने हिमालय और गंगा-यमुना में आत्मीयता के दर्शन किये। मुसलमानों में राष्ट्रीयता के जो भाव जागे, वे किसी से भी कम नहीं कहे जा सकते। हाली का 'मुसद्दस' जातीय गौरव का वर्णनात्मक काव्य है जिसने जाति में राष्ट्रीयता के भाव भरे। सर सैयद अहमद खाँ, भारत के राष्ट्रीय नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए,

---

[1] सैयद एहति शाम हुसैन, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० १५४।

उन्हीं की प्रेरणा से हाली ने अपने काव्य का सृजन किया । भारत की दुर्दशा के बारे में सबसे पहले दु:ख व्यक्त करते हुए राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ काव्य में लाने का श्रेय हाली को ही है ।

२०वीं शती के महान् प्रतिभाशाली कवि इकबाल थे । उन्होंने समकालीन समस्याओं और सांस्कृतिक संघर्ष तथा सामाजिक उत्थान-पतन के सभी भावों को अपने जादू भरे शब्दों में व्यक्त किया है ।

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" का स्वर भारतीय गौरव का अमर उद्घोष है । इकबाल का 'खिज्रे राह' उर्दू काव्य के लिए मील के पत्थर की तरह दिशाद्योतक है । अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इकबाल ने भारतीय समाज को दूर-दूर तक देखा और उसकी सूक्ष्म भावनाओं को परख कर अपने अनुभव की चट्टानों पर राष्ट्रीय जीवन की जो आधारशिला रखी थी वह इतिहास की स्वर्णिम निधि है ।

सन् १९२१ का असहयोग आन्दोलन, आर्थिक विषमता, श्रम और पूंजी के मध्य संघर्ष तथा समाजवाद के बढ़ते हुए प्रभाव पर जोश मलीहाबादी ने क्रान्ति का नया स्वर फूंका है । जोश की कविताओं में राष्ट्रीयता के वे सभी स्वर गूँजते हैं, जिससे भारत ने परतंत्रता के जुए को उतार फेंका । जोश को शायरे इन्कलाब (क्रान्ति का कवि) की पदवी मिली है । वे राष्ट्रीयता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, देश-प्रेम, जनतन्त्र और शांति के उपासक हैं । उनके शब्दों में आग की गर्मी और विचारों में ज्वालामुखी की शक्ति मिलती है—

> क्या हिन्द का जिन्दा काँप रहा है, गूँज रही तकबीरें,
> उकताये हैं शायद कुछ कैंनी और तोड़ रहे हैं जंजीरें ।

सागर निजामी ने भी देशप्रेम, हिन्दू-मुस्लिम एकता और स्वतंत्रता-संघर्ष के सम्बन्ध में कई बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं—

> सोने वालों को इक दिन जगा देंगे हम,
> रस्मो राहे गुलामी मिटा देंगे हम ।

मखदूम मोहिमुद्दीन आधुनिक साम्यवादी धारा के क्रान्तिकारी कवि हैं । वे 'एक नई दुनिया, नया आदम बनाया जायेगा' के स्वप्न लेते हैं । जाँ निसार अख्तर की घोषणा है—

> वतन के नौजवानों में नये जज्बे जगाऊँगा,
> मैं उनके गीत गाऊँगा, मैं उनके गीत गाऊँगा ।

अली सरदार जाफरी वर्तमान युग के सबसे महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी कवि हैं—

> जाग हिन्दोस्तां अपने ख्वाबे गिरां से
> देख आजादी की सुबह का नूर फैला हुआ है ।

इस तरह उर्दू का काव्य सदा सशक्त प्रेरणादायक तथा ओजपूर्ण रहा है। देश को नये साँचे में ढालने के प्रयत्न में उर्दू काव्य भी पूर्ण सहयोगी है। भारत में नये स्वर की समाजवादी कल्पना आज के उर्दू काव्य की राष्ट्रीयता का आधार है।

इस प्रकार विशाल भारत खंड में अनेक भाषाओं की काव्य धारा, विभिन्न दिशाओं से प्रस्फुटित हो एक ही भावात्मक दिशा में आकर सम्मिलित होती हुई राष्ट्रीयता के विशाल नद में परिणत हो चुकी है। विगत एक सहस्राब्द के इतिहास में भारत राजनीतिक दृष्टि से बिखर चुका था। परन्तु काव्य की अजस्र धारा ही किसी न किसी रूप में आज भी हमें उस काल के विघटित भारत की एक रूपता के सहज ही दर्शन कराती है। जहाँ विदेशी शक्तियों ने हमें अनेक दृष्टियों से अशक्त बनाया है, वहाँ विदेशी आक्रमण का जो सुन्दर परिणाम निकला, वह है भारत की राजनीतिक एकता। इस विदेशी जुए को उतार फेंकने में सभी भाषाओं ने स्वतन्त्रता के एक ही स्वर में अपनी अशक्त भायना सँजो दी। इसी के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद भारत की एकता के रूप में सदियों से बिखरी हुई राजनीतिक सीमाएँ आज फिर से एक ही शक्तिपुंज में संगठित हो चुकी हैं। भारतीय भाषाओं का राष्ट्रीय काव्य शत-प्रतिशत रूप से अपने सदुद्देश्य में पूर्ण सफल दृष्टिगोचर होता है।

काव्यगत राष्ट्रीयता जन जीवन का अविभाज्य अंग बन चुकी है। आज देश की उत्तरी सीमाओं पर विपदा के घनघोर बादल छाये हुए हैं, ऐसे समय में हमें काव्य के सुन्दर परिणाम देश की एकता के रूप में सहज ही दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार भारतीय जनता अपने आँचल में एक ही प्रवृत्ति को लेकर बहने वाली उन समस्त राष्ट्रीय काव्य धाराओं की चिर-ऋणी रहेगी, जिन्होंने जन-जन के मानस में एक ही राष्ट्रीयता के सुन्दर भाव जगाये हैं।

(ङ)

हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय धारा

राष्ट्रीयता के आधार

राष्ट्रीय भावों के पुष्पों से वीर रस की सुगन्ध प्रस्फुटित होती है। वीरता और शौर्य से ही राष्ट्रीय पादप फूलता और फलता है। प्रायः विश्व के अनेक साहित्य तलवारों की चमचमाहट और युद्ध के गर्जन में ही सर्जित हुए हैं। शौर्य और वीरता के अंचल में ही उनका शैशव बीता है, यद्यपि अपवाद स्वरूप संसार के कुछ साहित्य राजमहलों में भी पनपे हैं और कुछ साहित्य मनोरंजक वातावरण में भी फूले-फले, शान्त कानन कुंजों में स्वान्तःसुखाय भी कुछ भाषाओं के साहित्य का सृजन हुआ पर हिन्दी साहित्य का प्रादुर्भाव युद्ध क्षेत्र में ही हुआ है।

विदेशी चरण—राष्ट्रीय चारण

हर्ष का महान् साम्राज्य हर्ष के उपरान्त छिन्न-भिन्न हो गया था। देश अनेक सत्ता-सम्पन्न राज्य खण्डों में विभक्त हो गया था। शक्तिशाली राष्ट्र बिखर चुका था। इस अवसर का लाभ उठाकर गौरी ने भारत पर आक्रमण कर दिया। उसे पृथ्वीराज के हाथों अनेक बार परास्त होना पड़ा। अन्त में जयचन्द के सहयोग से गौरी ने विजय प्राप्त की। पृथ्वीराज और चन्द वरदाई ने साहसपूर्ण प्रतिशोध लिया। जहाँ चन्द वरदाई कुशल सेनापति था, वहाँ भावों का कुशल चितेरा भी था। पृथ्वीराज की वीरता और शौर्य का वर्णन किसी भी व्यक्ति के हृदय में अनायास ही वीरता के भावों को संचारित कर देते हैं। स्वत्व की रक्षा के लिए प्राणों से खेलना, विदेशी आक्रान्ता को मार भगाने की भावना राष्ट्रीयता की चरम इति नहीं तो क्या है? उस समय राष्ट्र राज्यों के रूप में संकुचित हो गया था अतः तत्कालीन चारण अपने राजाओं का गुण-गान व उसी राज्य की रक्षा करना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे।

एक ओर चारण, राजाओं का स्तुति-गान करते थे तो दूसरी ओर युद्ध के समय सैनिकों में वीरता और शौर्य की भावना को जगाते थे। इस तरह 'पृथ्वीराज रासो' की राष्ट्रीयता की किसी भी अंश में उपेक्षा नहीं की जा सकती। रासो की निम्न पंक्तियों में राष्ट्र के लिए बलिदान की भावना का सुन्दर उभार है—

मरना जाना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्लां।
सां पुरसां का जीवना थोड़ाई है भल्लां॥

जींव तह की रति सुलभ मरन अपच्छर हुर ।
दो हत्थान लड्डू मिले न्याय करैं बरसूर ।।

रासो में भारत पर विदेशी आक्रमण तथा उसके विरुद्ध भारतीयों के संघर्ष की कथा अत्यन्त ओजस्वी ढंग से कही गयी है। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन में प्राण संचार कर उसमें स्वातन्त्र्य और बलिदान का मंत्र फूँकना है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह के शब्दों में, "स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर हँसते-हँसते बलि हो जाने और देश, जाति और अपने व्यक्तित्व के गौरव और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिक्षण मरने-मिटने के लिए तैयार रहने का अमर सन्देश देना ही इस महाकाव्य का महत् उद्देश्य है।"[1]

आल्ह-खण्ड आज भी उत्तर भारत के ग्राम-ग्राम में मुखरित हो रहा है। आल्हा और ऊदल की शूरता और वीरता का वर्णन आज भी लोगों में शौर्य, वीरता और साहस की भावना को जगाकर राष्ट्रीय शक्ति के संवर्द्धन का कार्य करता है। जगनिक का आल्ह-खण्ड किसी भी रूप में राष्ट्रीयता से कम परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिकता से परिपूर्ण वीर और आदर्श पात्र राष्ट्रीयता के मुख्य आधार होते हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को छोड़कर राष्ट्रीयता की भावना को पूर्ण रूप से जगाना दुष्कर है। पूर्वजों के आदर्शों का, शक्ति और शौर्य का वर्णन सुन कायरों के हृदय में भी अनायास ही शक्ति का संचार होता है। तत्कालीन युग की यह उक्ति राष्ट्रीयता की चरम सीमा का स्पर्श करती है कि राष्ट्र रक्षक क्षत्रिय जब तक स्वत्व रक्षा में प्राणोत्सर्ग नहीं कर देता, तब तक वह सफल क्षत्रिय नहीं कहाता—

बारह बरस ले कूकर जियें और तेरह लौं जियें सियार,
बरिस अठारह क्षत्रिय जियें आगे जीवन को धिक्कार ।

इसके आगे वीरों को उद्बोधित करते हुए कवि कहता है—

खटिया परिकै जो मरि जैहो कोऊ न लैहै नाम अगार ।
चढ़ी आनि पै जो मरि जैहो तोऊ जस रहै देस में छाय ।।
जो मरि जैहो खटिया परि के कागा गिद्धन खैहें मांस ।
जो मरि जैहो रन खेतन में तुम्हरो नाम अमर होइ जाइ ।।

तत्कालीन युग की समस्या विदेशी आक्रान्ताओं से राष्ट्ररक्षा की थी, अतः तत्कालीन युग की समस्या का समाधान वीरोचित आदर्श को लेकर प्रस्फुटित हुआ है। हिन्दी में संकलनात्मक महाकाव्यों का आरम्भ भी युग वाणी के अनुसार युग वाणी से होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य, महाभारत की परम्परा में हैं।[2]

राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्रीय भावनाएँ निश्चित रूप से विद्यमान रहती हैं। वैभव और ऐश्वर्य के पूर्ण विकास के कारण कभी-कभी ये भावनाएं सुप्त तो हो

---

[1] डॉ० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास ।
[2] जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध ।

जाती हैं, किन्तु विनष्ट नहीं। समय और परिस्थिति के अनुसार ये भावनाएँ बढ़ती और घटती हैं। राष्ट्रीय भावनाओं का विनाश तो राष्ट्र विनाश के रूप में ही सम्भव है। राष्ट्रीय भावनाओं में पूर्ण उत्साह विशेष रूप से तब देखा जाता है, जब राष्ट्र विदेशियों से आक्रान्त होता है। इतिहास स्वयं इस बात का अनुमोदन करता रहा है। राष्ट्रीय भाव, राष्ट्र-दीप में तेल का कार्य करते हैं। राष्ट्रीय भावनाएं जितनी उभरेंगी, राष्ट्र उतना ही उन्नत होगा।

संघर्ष से विरति

हिन्दी साहित्य में दूसरा काल, भक्ति काल के रूप में सामने आता है। भक्ति काल संघर्ष का विरति काल है। भारतीय जनता ने विदेशी आक्रान्ताओं के सामने हथियार डाल दिये थे। उसकी संगठन शक्ति जर्जरित हो कराह रही थी। सामाजिक पतन व रूढ़ि से आक्रान्त संस्कृति विवशता का अनुभव कर रही थी। राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण पराजित भारतीयता अब स्व धर्म और संस्कृति की रक्षा के उपाय खोज रही थी। धार्मिक दृष्टि से वह पूर्व की अपेक्षा अधिक सतर्क व सजग थी। राजनीतिक मोर्चा वह हार चुकी थी, पर संस्कृति और धर्म के दूसरे मोर्चे पर वह प्राण पण से सामना करने के लिए उद्यत थी। इन्हीं परिस्थितियों में राष्ट्रीयता का स्वरूप कुछ बदल गया। प्रत्येक युग में साहित्य, राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान खोजता रहा है और अराष्ट्रीय भावनाओं से साहित्य ने संघर्ष किया है। वीर गाथा काल में वैदेशिक आक्रमण की समस्या को लेकर हमारा साहित्य आगे बढ़ा परन्तु जर्जरित जाति इस साहित्यिक चेतना से पूरी तरह जाग न सकी। युगद्रष्टा कवियों को राष्ट्रीय जागरण के लिए नये मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा। अब वे राजनीतिक सीमाओं की सुरक्षा छोड़ संस्कृति और धर्म की सुरक्षा में जुट गये। वे भलीभाँति समझ चुके थे कि सामाजिक नव-निर्माण के बिना संकट के ये बादल छँट नहीं सकते। इसके लिए नये सिरे से सामाजिक संगठन का बिगुल कवियों के कण्ठ से मुखरित हो उठा। सामाजिक भेद-भाव, ऊँच-नीच, जात-पाँत और धार्मिक रुढ़ियों की प्रतिक्रियावादी परिस्थितियों में कबीर कवि के रूप में आ खड़े हुए।

राष्ट्रीय सन्त वाणी

वे समस्त सामाजिक पतन के धरातल से जन्मे थे और उन्होंने सामाजिक चेतना की दिशा में एक नई राष्ट्रीयता को जन्म दिया। उनकी राष्ट्रीयता का बिगुल बाह्य युद्ध से सम्बन्धित न होकर आन्तरिक युद्ध का उद्घोष था। धर्म, जाति के समस्त भेदों को नष्ट कर एक नये राष्ट्रीय संगठन की पृष्ठभूमि का निर्माण कबीर ने अपनी सधुक्कड़ी वानी में किया। राष्ट्रीयता का यह सामाजिक पहलू था। कबीर इस बात का अनुभव कर रहे थे कि राष्ट्रीय संगठन के मूल में हिन्दू-मुस्लिम एकता आवश्यक है। अन्त में महात्मा गांधी ने इस उद्देश्य को भलीभाँति ग्रहण किया।

कबीर ने राष्ट्रीय समस्याओं के हल में जो सिद्धान्त अपनी अटपटी वाणी में दिये, समय पाकर उन्हीं सिद्धान्तों को अपनाकर कांग्रेस ने धर्म निरपेक्षिता के मार्ग का अवलम्बन कर राष्ट्रीय एकता के सूत्र का निर्माण किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर कबीर के ये विचार कितने भावपूर्ण हैं—

कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहे रहिमाना।
आपस में दोऊ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना॥
कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावैं एक जमी पर रहिये।

इसी प्रकार जातीय वाद के विषैले तत्त्वों के सम्बन्ध में कबीर की उक्तियाँ फटकार से भी भरी हुई हैं।[१] ऊँच-नीच, छूत-छात सभी समस्याओं पर कबीर ने राष्ट्रीयता के सुन्दर सूत्र का निर्माण किया है।[२] धर्मान्धता, रूढ़िवादिता तथा ईश्वर पूजा के थोथे स्वरूपों का भण्डा-फोड़ करते हुए कबीर जरा न हिचकिचाये।[3]

इस तरह कबीर ने भारतीय समाज के आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन में राष्ट्रीय चेतना का जो मंत्र फूंका है, निश्चय ही कबीर के राष्ट्रीय रूप के सुन्दर दर्शन के लिए वह पर्याप्त से भी अधिक है। कबीर ने राष्ट्रीय जीवन-पथ पर पड़े हुए काँटों, विषैले कीटाणुओं तथा कुरीति के कंकड़ों को हटाकर एक सुन्दर राष्ट्रीय जीवन की भूमिका तैयार की।

राष्ट्रीयता के आदर्श उद्गाता

तदुपरान्त महाकवि तुलसी आयें, जिन्होंने भारतीय मानस में ऐसे सुन्दर राष्ट्रीय बीज का वपन किया जो नव जागृति के सुन्दर पादप के रूप में फूलता-फलता बट वृक्ष के समान विशाल रूप धारण कर चुका है। महाकवि तुलसी की राष्ट्रीय चेतना से समाज ने अँगड़ाई ली और आदर्श के प्रतीक मर्यादा पुरुषोत्तम राम की यशोगाथा से एक सुन्दर लक्ष्य का निर्माण किया। महात्मा गांधी उसी लक्ष्य की प्राप्ति में जूझते रहे। उनकी कल्पना का भारत शताब्दियों पूर्व कल्पित वही तुलसी का भारत था, जिसे हम राम-राज्य कहते हैं। तुलसी के आदर्शों में वह शक्ति है, जो राष्ट्रीय जीवन के कण-कण को नव चेतना प्रदान करती है। युगद्रष्टा

---

[१] जो तू बाम्हन, बाम्हनी जाया तो आन बाटहुवे क्यों नहीं आया ?
जो तू तुरक तुरकनी जाया तो भीतर खतना क्यों न कराया ?

[२] जात-पाँत पूछो न कोई, हरिको भजे सो हरि का होई।

[3] बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल,
जे नर बकरी खात हैं ताको कौन हवाल ?
पाथर पूजें हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार,
ताते यह चक्की भली, पीस खाय ससार।

तुलसी ने भारत के दोनों स्वरूपों को सामने रखा। देश के पतन की चरम सीमा का चित्र इसलिए खींचा था[१] कि राष्ट्र पुरुष जाग्रत हों और अभी से आगे आने वाली आपदाओं से जूझने के लिए सामर्थ्यवान बनें। तुलसी के राम केवल अलौकिक आनन्द के दाता नहीं हैं बल्कि वे धरती पर आदर्शों की स्थापना करने वाले पुरुषोत्तम भी हैं।

जहाँ कबीर ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया, वहाँ तुलसी ने पारिवारिक और सामाजिक जीवन में पुराने ऐतिहासिक आदर्शों की स्थापना का सुन्दर चित्र भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। रामचरितमानस की प्रजा राष्ट्रीय आदर्शों का सुन्दर उदाहरण है।[२] व्यक्तिगत जीवन से लेकर राष्ट्र के कर्णधार राजा तक के कर्त्तव्य[3] तुलसी ने प्रस्तुत किये। पारिवारिक जीवन, आश्रम मर्यादा, सामाजिक जीवन, वर्ण-व्यवस्था, राजा और प्रजा के सम्बन्ध आदि सभी विषयों पर कवि ने अपना स्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित किया है।[४] भारतीय जीवन को एक सधा हुआ पथ मिला।

सच तो यह है कि युगों-युगों से उसी साहित्य का अर्चन हुआ है, जो राष्ट्रीयता को लेकर आगे बढ़ा है। राष्ट्रीय सुख-दुःख का चिन्तक ही युगद्रष्टा कवि बन सकता है। जिसने युग के दर्शन न किये और जो मानस की वेदना को छोड़ क्षणिक आनन्द के लिए चलचित्र के गानों के समान काव्य का निर्माण करता है, वह कविता नये चलचित्रों के आते ही पुरानी हो जाती है, और देखते-देखते ऐसा साहित्य स्वयं लुप्त हो जाता है। तुलसी की वाणी अमर है, उसके आदर्श अमर हैं, उसके राम अमर हैं, और अमर है उसका दिया हुआ दिव्य सन्देश, जो आज भी राष्ट्रीय समस्याओं का एक सुन्दर समाधान प्रस्तुत करता है। राम के हृदय में अहिंसा के वे पुनीत भाव उपस्थित हैं, जिन्हें जंगल में रहने वाले पशु और पक्षी भी अनुभव करते हैं और वे भी राम के नयनों से स्नेहसिक्त होते हैं। हनुमान तथा अंगद द्वारा बार-बार समझाये जाने और विभीषण द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी जब रावण मानवोचित मर्यादाओं का तिरस्कार करता है, तब वही अहिंसक राम हाथ में धनुष की प्रत्यंचा लिये अधर्म और अन्याय के विनाशार्थ प्रलयंकारी युद्ध करते हैं। तुलसी के

---

१ खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

२ सब नर करहिं परस्पर प्रीति, चलहिं स्व धर्म निरत श्रुत रीति।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।

3 जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी।

४ बरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहीं भय, सोक न रोग॥

आदर्श कोरे शास्त्रीय आदर्श नहीं, शस्त्रीय आदर्श भी हैं। तुलसी को भगवान का शस्त्रधारी रूप ही पसन्द है, रास बिहारी रूप नहीं।[1] उनके भगवान दलितोद्धारक हैं। तुलसी ब्रह्म-शक्ति और क्षत्र-शक्ति के संयुक्त रूप के पुजारी थे और राष्ट्र को उनका यही अमर सन्देश मिला था। "पराधीन सपनेहु सुख नाहिं" कहकर उन्होंने जनता का ध्यान राष्ट्र की पराधीनता की ओर आकृष्ट किया था। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में, उत्तर काण्ड में एक ओर रामराज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलियुग की यथार्थता द्वारा तुलसी ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी भी दूसरे कवि के चित्रों में ऐसी तीव्र विषमता नहीं है। किसी के चित्रण में यह कान्ट्रास्ट नहीं मिलता। उन्होंने भविष्यवाणी की कि रावण और कौरवों के समान इन शासकों का भी अन्त होगा—

राज करत बिनु काजहिं, करें कुचालि कुसाज,
तुलसी से दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज।

अन्न कष्ट, महामारी आदि के वर्णन से वे युग के प्रति जागरूक व सतर्क दिखाई देते हैं। किसान दुःखी, प्रजा पीड़ित और राजा उत्तरदायित्व-शून्य है। रामराज्य की कल्पना द्वारा सुन्दर मार्ग की ओर इंगित किया—

राम राज्य बैठे त्रैलोका, हरसित भए, गए सब सोका।

राष्ट्रीय चेतना के नये स्रोत

तुलसी की अमृत वर्षा के उपरान्त हिन्दी साहित्य ने एक नये काल में प्रवेश किया जिसे हम रीतिकाल कहते हैं।। रीतिकाल में राष्ट्रीय भावना का वैसा उभार दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि अन्य कालों में। स्पष्ट है, देश में संघर्ष समाप्तप्राय थे। लोगों के जीवन में स्थिरता थी और उनका ध्यान वैभव और विलास में आलिप्त था, परन्तु जैसे ही देश की धरती ने छत्रपति शिवाजी, छत्रसाल जैसे वीर योद्धाओं को जन्म दिया, वैसे ही राष्ट्रवादी भूषण कविता के अभूषण के रूप में प्रकट हुए।

इससे पूर्व युद्ध-त्रस्त महाराणा प्रताप की देशभक्ति की भावना पर जब अगाध संकट के बादल मँडरा रहे थे और महाराणा प्रताप विवश होकर अकबर से संधि करने लगे, तब राष्ट्रीय भावना से पूरित पृथ्वीराज राठौर के इन शब्दों ने इतिहास को नया आधार दिया था—

पटकूँ मूँछा पाण के पटकूँ निज तन करद,
दीजे लिख दीवाण इण दो महली बात इक।

अर्थात्, हिन्दू गौरव अकबर के आगे नतमस्तक हो गया है, यह सोचकर अपनी मूँछें नीची कर लूँ या अपने तन में कटारी भोंक लूँ हे दीवान! इन दोनों में

[1] डॉ० रामविलास शर्मा, साहित्य और संस्कृति।

से एक बात लिख दो। राष्ट्रीयता के रक्षक महाराणा प्रताप का नाम भारतीय इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

मध्यकाल में महाराष्ट्र के रक्षक छत्रपति शिवाजी के उज्जवल चरित्र को महाकवि भूषण ने अपनी ओजस्वी लेखनी से गौरवान्वित किया। कुछ आलोचक भूषण को राष्ट्र कवि के गौरव से वंचित कर जातीयवाद के भाव उन पर थोपना चाहते हैं परन्तु इस प्रकार की भावना स्वयं में संकुचित व जातीयवाद से परिपूर्ण है। इतिहास स्वयं साक्षी है कि औरंगजेब का शासन अन्याय एवं अत्याचारों की करुण किन्तु वर्बर कहानी है। शासक हिन्दू हो या मुस्लिम, परन्तु निरीह जनता पर किये जा रहे अत्याचारों के निराकरण के लिए लिखा गया काव्य पूर्णतः राष्ट्रीय ही होगा। जनता की भावनाएँ भूषण की भाव भंगिमा से प्रतिध्वनित हो रही थीं। उनकी वाणी मुस्लिम धर्म के नाम पर किये जाने वाले अत्याचारों की प्रतिक्रिया ही है। धर्म और जाति के नाम पर किये जाने वाले अत्याचारों का वर्णन यदि उसी रूप में कवि करे तो दोष कवि का नहीं है। दोष का दायित्व तत्कालीन शासकों पर ही होगा। कवि तो केवल जनता की भावना को वाणी देता है। महाकवि भूषण, शिवाजी की प्रसंसा उनके व्यक्तिगत वैभव के आधार पर नहीं करते, अपितु अपने काव्य में उन्होंने शिवाजी को राष्ट्र-रक्षक के रूप में चित्रित किया है—

राखी हिन्दुआनी हिन्दुआन को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, राख्यो गुन गुनी में॥

भूषण ने पारस्परिक फूट को घातक बताते हुए हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पर भी बल दिया है। औरंगजेब के पूर्वजों की प्रशंसा करते हुए उसी मार्ग पर चलने की सलाह दी है—

वब्बर अकब्बर हुमाऊँ हद्द बाँधि गए,
हिन्दु औ तुरक की कुरान वेद ढब की।
और बादशाहन में हुती चाह हिन्दुन की,
जहाँगीर साहजहाँ साखि पूरें तब की।[1]

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए आपसी विवाह सम्बन्धी राय देने वाले भूषण की राष्ट्रीयता में किसे सन्देह हो सकता है?

भेजें लिखि लगन शुभ गनिक निजाम बेग,
इतैं गुजरात उतैं गंग ज्यों पतारा की।

---

[1] शिवा बावनी, छंद ४३।

ऐसे ब्याह करत विकट साहू साहन सों,
हद्द हिन्दुम्रान जैसे तुरुक ततारा की।

भूषण ने राष्ट्र को नवजीवन देकर, अपने साहसपूर्ण प्रयत्न द्वारा स्वराज्य की सृष्टि कर औरंगजेब के शासन को ध्वस्त करने में अपना योगदान दिया है। राष्ट्र में उत्साह के संचार के साथ-साथ महाराष्ट्र का नवोत्थान करने में भूषण का नाम अग्रगण्य है। भूषण की हुंकार ने राष्ट्र की धमनियों में नव रक्त का संचार कर दिया था। वास्तव में भूषण का काव्य राष्ट्रीय काव्य का भूषण है। किसी भी काल के साहित्य का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों एवं वातावरण को ध्यान में रख किया जाना आवश्यक है। आज की मान्यताओं के आधार पर विगत राष्ट्रीय भावनाओं का मूल्यांकन वास्तविक नहीं कहा जा सकता। भूषण के साथ-साथ सूदन लाल, जोधा तथा गोविन्द सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने तत्कालीन राष्ट्रीयता को अपने काव्य का प्रमुख आधार बनाया।

राष्ट्रीय जन-क्रान्ति

युग बदला। धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य का अन्त हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य भारत में पैर जमा रहा था। सन् १८५७ के स्वाधीनता आन्दोलन के बाद हिन्दी साहित्य ने आधुनिक काल में प्रवेश किया। जैसे-जैसे अंग्रेजों का दमन चक्र चला, वैसे वैसे राष्ट्रीय चेतना उभरने लगी और परम्परागत राष्ट्रीय भावनाओं ने विशाल रूप धारण किया। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि झाँसी से उठी १८५७ की जन-क्रान्ति की ज्वालाएँ देश भर में अंगारों के रूप में बिखर चुकी थीं। अंगारों के रूप में ज्वाला का यह परिवर्तन भले ही बर्बर अंग्रेज की दृष्टि में क्रान्ति का शमन था, परन्तु यह रूप झाँसी की क्रान्ति से भी अधिक विशाल और गम्भीर रूप धारण कर रहा था। स्वतंत्रता के उद्बोधक महर्षि स्वामी दयानन्द की पुरानी किन्तु परिष्कृत भावना ने जन-जन के हृदय में एक नई सामाजिकता और राजनीतिकता को जन्म दिया। महर्षि द्वारा प्रदीप्त राष्ट्रीय चेतना आधुनिक काल की राष्ट्रीयता का रूप लेकर भारतेन्दु के रूप में चमक उठी।

दुर्दशा और आँसू

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अश्रुपूर्ण नयनों से राष्ट्रीयता को नया जीवन दिया और राष्ट्रीयता की प्रेरणा के नये स्रोत प्रस्फुटित होने लगे। उनके दुःखी हृदय से निकले हुए ये उद्‌गार कितने मर्मस्पर्शी हैं—

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

इस उच्छ्वास के साथ ही हमारी ऐतिहासिक भूलों को सामने रखकर भारतीय जनता को कुम्भकर्णी निद्रा से जगाते हुए जागरण के स्वर में कहते हैं—

पृथ्वीराज जयचन्द कलह करि यवन बुलायो,
तिमिर लंग, चंगेज आदि बहुनरन कटायो।
अलादीन, औरंगजेब मिलि धरम नसायो,
विषय वासना दुसह मुहम्मद सा फैलायो।
तब लौं बहु सोये वत्स तुम आगे नहिं कोऊ जतन।

इतिहास के सुनहरे पृष्ठों का स्मरण कराते हुए उन्होंने राष्ट्रीय वीर पुरुषों का आह्वान किया है और सुप्त जनता को अँगड़ाई ले खड़े होने की प्रेरणा प्रदान की है—

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर,
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करके थिर।
जागो अब तो खल बल दलन रक्षो अपनो आर्य मग।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सारा साहित्य राष्ट्रीय भावनाओं की धुरी पर ही घूम रहा है। उनके साहित्य में यद्यपि शासकों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से विद्रोहिनी भावनाएँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं परन्तु क्रान्ति को जन्म देने वाली देश भक्ति की भावनाएँ भारतेन्दु ने जन-जन के हृदय में भर दीं। भारत के प्राचीन गौरव को स्मरण कर 'सोई भारत की आज यह भई दुर्दशा हाय' उनके क्षोभ, निराशा और उद्विग्नता का सूचक है। 'कहाँ करुणानिधि केशव सोए' में उनकी आत्मा का बड़ा ही मार्मिक रुदन है। विदेशी सत्ता के फौलादी पंजों से कसा हुआ भारत जिन-जिन कठिनाइयों का अनुभव कर रहा था, उसका चित्रण उनके साहित्य में भली प्रकार हुआ है। एक आलोचक के शब्दों में—

"भारत के नभ का सांस्कृतिक सूर्य शीतलप्राय हो रहा था। इस म्लान गोधूलि बेला में आशा-सुधा का सिंचन करता हुआ भारत का इन्दु मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ उदित हुआ। भारतेन्दु की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने देश की समस्त प्रसुप्त भावनाओं को प्रकम्पित कर दिया। ऐसा लगा जैसे सोये समुद्र में ज्वार आ गया हो। समाज-सुधार, देशभक्ति, भगवत-प्रेम, स्त्री शिक्षा, राष्ट्रभाषा की समस्या आदि अनेक बातें एक साथ उठ खड़ी हुईं। भारत ने अपनी अनुकूलता को भारतेन्दु की वाणी में व्यक्त किया"[१] भारतेन्दु के समकालीन कवि श्री प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमधन आदि सभी की कविताओं में राष्ट्रीयता का पुट स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

अतीत, वर्तमान और भविष्य

देखते-देखते ब्रज भाषा की उपत्यकाओं में अठखेलियाँ करता हुआ राष्ट्रीय

---

[१] प्रो० शिवबालक राय, दिनकर, पृ० १४।

भावना का यह निर्झर गुप्त के आँचल में आ महानद का रूप धारण कर लेता है। इस ऐतिहासिक पृष्ठ के नूतन अध्याय पर खड़े होकर मैथिलीशरण गुप्त ने एक क्रान्तिकारी राष्ट्रीयता का उद्घोष गम्भीर किन्तु सशक्त शब्दों में किया। राष्ट्रीयता के इस महान चिंतक ने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों पर दृष्टि डाली और वे कह उठे—

> हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
> आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी।

गुप्त की गिरा निर्बाध रूप से प्रवाहित होती है। स्वच्छंद विचारधारा का यह कवि सर्वप्रथम पराधीन वातावरण से ऊपर उठकर अपनी लेखनी से कहता है—

> स्वच्छंदता से कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो,
> जग जायें तेरी नोक से सोये हुए हैं भाव जो।

विचार स्वातन्त्र्य की माँग सर्वप्रथम गुप्त की वाणी से झंकृत हुई है। खड़ी बोली की कविता का बहुत बड़ा इतिहास गुप्तजी की कृतियों का इतिहास है। उन्होंने खड़ी बोली को उँगली पकड़कर चलना सिखाया, उसकी जिह्वा को शुद्ध किया तथा उसके हृदय में प्रेम एवं मस्तिष्क में अभिनव विचारों का संचार किया। भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी कविता में सामयिक प्रश्नों से उलझने की प्रवृत्ति का जन्म हो रहा था, लेकिन इस दिशा में भी उसके स्वर को अधिक स्पष्ट एवं सुदृढ़ बनाकर सुनाने का सारा श्रेय गुप्तजी को है। इतना ही नहीं वरन् निद्रा की जड़ता से राष्ट्र को जगाने के लिए जब साहित्य ने शंख फूँकना प्रारम्भ किया तब भी पांचजन्य की भारती श्री मैथिलीशरण गुप्त के ही कंठ से फूटी। आज हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का जयघोष गूँज रहा है। स्मरण रहे कि हिन्दी कविता को अपने सामाजिक लक्ष्य का ध्यान सबसे पहले गुप्तजी ने ही दिलाया था।[१] भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, अनघ आदि रचनाएँ आपके देशप्रेम की द्योतक हैं। गुप्तजी की प्रतिभा इतिवृत्तात्मक शैली की शुष्क नीरस सीमाओं का अतिक्रमण करके युग जीवन की व्यापक समस्याओं का काव्योचित चित्रण करने की ओर उन्मुख हुई। इस बीच राष्ट्रीय आन्दोलन में जो उतार-चढ़ाव आये, राष्ट्रीय चेतना में जितनी विचारधाराएँ आकर मिलीं उन सबका अनुगुंजन इनकी कविताओं में मिलता है। साम्प्रदायिक संकीर्णता और समाज सुधार की भावना से आगे बढ़कर इनका मानव-प्रेमी हृदय दलित-पीड़ित किसान मजदूरों के आर्त्तनाद को सुनने में समर्थ हुआ है। अतीत के गौरव का गान गाकर इन्होंने जनता में स्वाभिमान जगाया है।[२] किसान

---

१ दिनकर, मिट्टी की ओर, पृ० १६९।
२ शिवदानसिंह चौहान, काव्य धारा।

उनकी उत्कृष्ट रचना है जो कृषि प्रधान देश भारत की अधिकांश जनता की संकटापन्न परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी कृतियों द्वारा भारतीय राष्ट्र की शुष्क नसों में नवजीवन का पुनीत स्रोत प्रवाहित किया है। उनके काव्य में राष्ट्रीय विचारों का सौंदर्य, परिवर्तन की पुकार, परपदाक्रान्त राष्ट्र का पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जागरण का महान उद्घोष है। युग की समस्याएँ, अछूतोद्धार, विधवा विवाह, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य आदि पर उनकी लेखनी अबाध रूप से चली है।

राष्ट्रीयता के पथिक

इस युग के दूसरे राष्ट्रीय कवि राम नरेश त्रिपाठी हैं। युग की चेतना को अत्यन्त कलात्मक रूप में आपने प्रस्तुत किया है। युग चेतना ने आपके काव्य को अपने समय का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति प्रदान की है। त्रिपाठीजी के काव्य में क्रान्ति की चिनगारियाँ नहीं, राष्ट्रीयता की भावना सरस रूप में प्रवाहित होती है, अहिंसात्मक गांधीवादी शान्ति की मनोहर उर्मियाँ उठती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी कविता में न कल्पना की किल्लोल है और न अतीत की पुकार। उनका आसन समसामयिक युग है जिसमें कवि साँस लेता रहा है। त्रिपाठीजी के लिए भूत निष्प्राण है, भविष्य अनिश्चित और वर्तमान स्पष्ट है। उन्होंने मुखरित वर्तमान को ही अपने काव्य का आधार बनाया है, अपने युग के भारतवर्ष की ही जीती-जागती तस्वीर खींचने की सफल चेष्टा की है।[1] उनके काव्य में गांधीवाद की सुन्दर और समुचित अभिव्यक्ति हुई है। 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न' में भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की स्पष्ट झाँकी चित्रित की गयी है। इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय उनके काव्य में मिलेगा। भारत के राजनीतिक भाग्योदय के भविष्य की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—

शासन का सब भार लिया जनता ने अपने कर में।[2]

आज हमारे गणतन्त्र शासन ने उस धूमिल स्वप्न को साकार कर लिया है। 'पथिक' अपने अन्तर में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की कहानी छिपाये बैठा है जो आने वाले युग को तत्कालीन त्याग व बलिदान का परिचय देगा। पथिक देश के नौजवानों का प्रतीक है। मुनि, महात्मा गांधी तथा राजा, ब्रिटिश सरकार का प्रतीक है। राष्ट्रीयता का प्राण स्वदेश के सौन्दर्य से संयुक्त है—'वह देश कौनसा है ?' गीत उनके राष्ट्रप्रेम का प्रतीक है—

---

[1] वासुदेव एम० ए०, विचार और निष्कर्ष।
[2] पथिक, सर्ग ५-३०।

मन मोहिनी प्रकृति की जो गोद में बसा है,
सुख स्वर्ग सा जहाँ है, वह देश कौनसा है ?
जिसका चरण निरन्तर रतनेश धो रहा है,
जिसका मुकुट हिमालय, वह देश कौनसा है ?

जलती दीप-शिखा

पराधीन राष्ट्र की काल कोठरी में बैठकर काव्य साधना करने वाले कवियों में से माखनलाल चतुर्वेदी भी एक हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान की इतिवृत्तात्मकता ने जिस भारतीय आत्मा को राष्ट्रीयता की चरम साधना से आप्लावित किया उसका जाज्वल्यमान रूप चतुर्वेदीजी में दृष्टिगोचर होता है। भूत और भविष्य से आँखे मींच कर चतुर्वेदीजी ने अपने आप को वर्तमान में केन्द्रित कर लिया। उनके सम्मुख एक समस्या थी देश की पराधीनता की और उसके लिए एक ही समाधान था आत्मोत्सर्ग का। उनकी पूरी रचनाएँ बलिदान की भावना से ओतप्रोत हैं। उनका आराध्य राष्ट्र है। हँसते-हँसते शूली पर चढ़ जाना ही श्रेष्ठ भक्ति है। राष्ट्र की मुक्ति में मानव मुक्ति का दर्शन करने वाले चतुर्वेदी में राष्ट्र भक्ति की समस्त भावनाएँ एकाकार हो, केन्द्रीभूत हो गयी हैं। चतुर्वेदी की कविता उनके कर्मठ राष्ट्रसेवी जीवन के समतल पर चलती है, उनके व्यक्तिवाद की परिणति देश के स्वतंत्रता-संग्राम में बलिदान होने की भावना में हुई।[1] आज देश की स्वतंत्रता का उपहार चतुर्वेदी सरीखे कवियों की राष्ट्रीय योग-साधना का ही सुन्दर फल है। रम्य वाटिकाओं में खिलने वाले फूल अब मन्दिरों के भगवान की शोभा बढ़ाना नहीं चाहते हैं, न ही वे राजमहलों का शृंगार ही करना चाहते हैं। उनके हृदय में यदि कोई चाह है तो वह एकमात्र उस पथ को विभूषित करने की है, जिसे फूल स्वयं ही प्रकट कर रहा है—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जायें वीर अनेक।

चर-अचर जगत का कण-कण राष्ट्रीय भावना को लेकर आगे बढ़ रहा है। राष्ट्र-मुक्ति ही उनका लक्ष्य है। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जेल जाना ही उनका तीर्थ है। पराधीनता के अन्धकार को कब स्वाधीनता का सूर्य हर लेगा ? उस उषा की प्रतीक्षा में कवि कोकिल से पूछता है—

क्यूँ हूक पड़ी विकल वेदना, बोझ वाली सी कोकिल बोली तो
क्या लुटा मृदुल वैभव की, रखवाली सी कोकिल बोलो तो !
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जुआ, खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कुआँ,
चुपचाप मधुर विद्रोह बीज इस भाँति बो रही क्यों हो कोकिल बोलो तो !

---

[1] शिवदानसिंह चौहान, काव्य धारा।

उन्हें अपने चारों ओर कालिमा छायी हुई दिखाई देती है—

काली तू रजनी तू काली, शासन की करनी भी काली,
काली लहर कल्पना काली, मेरी काल-कोठरी काली।

वे अपना बलिदान देकर भी भारत माता को स्वतंत्र देखना चाहते हैं—

बलि होने की परवाह नहीं मैं हूँ कष्टों का राज्य रहे,
में जीता जीता जाता हूँ माता के हाथ स्वराज्य रहे।

दिनकर के शब्दों में, "माखनलाल की कुछ कविताओं को मैं विस्मय की दृष्टि से देखता हूँ और यह मानता हूँ कि भारत की यह आत्मा, यज्ञ की वह शिखा है जो जलते-जलते गाती और गाते-गाते जला करती है। वे शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी हैं, किन्तु साहित्य में उनके व्यक्तित्व के ये चार गुण अलग-अलग प्रतिबिम्बित नहीं होते। साधना की आग में पिघलकर सभी एकाकार हो जाते हैं। उनकी कविताएँ इन चार रूपों की मिश्रित व्यंजना हैं।"[1]

विप्लव के गायक

इसी कोटि के दूसरे कवि हैं स्व० बालकृष्ण शर्मा नवीन, जिनके कंठ के प्रत्येक कम्पन से राष्ट्रीय विप्लव की गूँज सुनाई देती है। देश मुक्ति का जो लक्ष्य चतुर्वेदी ने प्रस्तुत किया, नवीन उस लक्ष्य की ओर दो पग आगे बढ़ते हैं, मानो चतुर्वेदी ने आदेश दिया और नवीन क्विक मार्च करने लगे—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये !

राष्ट्र के आह्वान पर बी०ए० की पढ़ाई छोड़ दी और स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े। यद्यपि साहित्य को उन्होंने देश-सेवा के सामने गौण माना तो भी उनकी वाणी में जाग्रत राष्ट्र का हृदय धड़कने लगा और उनके देशभक्ति विह्वल स्वर एक अनिर्वचनीय विदग्धता के साथ समग्र हिन्दी आकाश में गूँजने लगे। भारतीय आत्मा, नवीन और सुभद्राकुमारी कुछ ऐसे कवि हैं, जिनकी वाणी ने आरम्भ में हिन्दी जनता के हृदय में सबसे बड़ी आकुलता उत्पन्न की और जिनकी आवाजों को सुनकर वह और भी नई आवाजें सुनने को उत्कंठित हुई।[2] उनकी निम्न पंक्तियाँ हृदय को दहला देने वाली हैं—

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,

---

[1] दिनकर, मिट्टी की ओर, पृ० १७६।
[2] वही।

कण्ठ रुका जाता है महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं इस ज्वलंत गायन के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अंतरतम से।

नारी के सशक्त स्वर

इस विप्लव गान के साथ-साथ एक और शक्तिशाली स्वर भारत के साहित्याकाश में गूँजा और वह स्वर था भारतीय नारी का। झाँसी की रानी की तलवार की धार से जो स्वर फूटे थे, उन्हीं स्वरों को सुभद्रा कुमारी ने वाणी दी और एक बार भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक "खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी" का गौरव गान गूँज उठा। भारत के राष्ट्रीय जीवन में लक्ष्मीबाई की तलवार ने जो तेज और स्फूर्ति प्रदान की, हिन्दी काव्य को सुभद्राकुमारी ने उसी प्रकार का स्फूर्तिदायक उद्घोष एवं ओजस्वी गीत प्रदान किये। इतिहास के पृष्ठों में मीरा के भक्ति पदों के बाद सुभद्राकुमारी के देश-भक्ति के गीत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मातृभूमि के इस स्वर ने नारी जाति को पुरुषों के कंधे से कंधा लगाकर राष्ट्रीय रंगमंच पर कार्य करने की प्रेरणा दी। आधुनिक काल के हिन्दी उपवन की यह प्रथम कोकिला थी, जिसके स्वर जन-जन के अन्तर में गूँज उठे और जिसने नर और नारी को राष्ट्रीय जीवन में समता प्रदान की। सुभद्राकुमारी ने भारतीय नारी के परम्परागत गौरव को अक्षुण्ण रखा।

जाओ रानी याद रखेंगे, ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास भले ही सच्चाई को चाहे फाँसी,
दे मदमाती विजय मिटा दें गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी तू खुद अमिट निशानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी,
चमक उठी सन सतावन में वह तलवार पुरानी थी।

राष्ट्रीय भैरव गायन

गांधीवादी आदर्शों की प्रेरणा लेकर राष्ट्रीय कविताओं का सृजन करने वाले कवियों में सोहनलाल द्विवेदी का नाम भी उल्लेखनीय है—

बन्दिनी माँ को न भूलो, राग में जब मत्त झूलो,
हों जहाँ बलि शीश अगणित, एक सिर मेरा मिला लो।

उन्हें विश्वास है कि खादी ही भारत की रूठी आजादी को घर-घर लायेगी। इसके अतिरिक्त श्री सियाराम शरण गुप्त, श्याम नारायण पाण्डेय, हरिकृष्ण प्रेमी भी

राष्ट्रीय कविता के गायक रहे हैं। 'हल्दीघाटी' पाण्डेयजी की वीर रस की उत्कृष्ट रचना है। 'वन्दना के बोल' और 'अग्नि-गान' में प्रेमीजी का राष्ट्र-प्रेम उत्कर्ष पर है।

राष्ट्रीयता के बिखरे स्वर

बीसवीं शती में राष्ट्रीयता की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई, उससे सम्भवतः कोई भी प्रमुख कवि अछूता न रह सका, चाहे फिर वह छायावाद की श्रेणी का हो या रहस्यवाद की। प्रसाद का हृदय भी "हिमाद्रि तुंग शृंग" से स्वतंत्रता का उद्-घोष कर रहा है। उनकी 'प्रबुद्ध शुद्ध भारती' चिरंतन राष्ट्रीय साहित्य की एक अवि-च्छिन्न शृंखला है। मधुमय देश और हिमालय के आंचल से मिलने वाला किरणों का प्रथम उपहार राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत है। 'जागो फिर एक बार' में निराला का सजग राष्ट्रीय रूप ओज और तेज से परिपूर्ण है। 'भारती जय विजय करे' में निराला की राष्ट्रीय विजयिनी भावनाएँ प्रस्फुटित हो रही हैं। पंत की ग्रामवासिनी भारत माता का रूप इसी शृंखला की अटूट कड़ी है। महादेवी भी 'कह दे माँ अब क्या देखूं ?' में आकर राष्ट्र के जर्जर जीवन के दर्शन कराती हैं।

अविकल रूप से राष्ट्रीयता की ये उद्दाम भावनाएँ दो धाराओं के रूप में अविरल गति से प्रवाहित हुई हैं। एक धारा सामयिक समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती है, दूसरी धारा राष्ट्रीयता की उस चिरंतन भावना को लेकर बही है, जो देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना के लिए सदैव स्फूर्ति प्रदान करती रहेगी। राष्ट्रीयता के उभय रूप सदा ही दृष्टिगोचर होते रहे हैं। एक ही कवि के हृदय से दोनों प्रकार की धाराए भी प्रवाहित हो सकती हैं। श्री रामधारी सिंह दिनकर ऐसे कवियों में अग्रगण्य हैं। सामयिक राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखे गये साहित्य का अपने काल में उतना ही महत्त्व होता है, जितना कि चिरंतन साहित्य का। तुलनात्मक दृष्टि से हम किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते।

चुनौती के स्वर

आधुनिक काल की राष्ट्रीय धारा में यद्यपि पर्याप्त ओज, तेज और शौर्य बोलता है, परन्तु निर्विवाद रूप से इस युग पर गांधीवाद की छाप थी। कवि भले ही आत्मोत्सर्ग की भावना से अभिभूत है, परन्तु उसका आदर्श अहिंसा के मूल्यों पर ही आधारित है। गांधी का अहिंसावाद तत्कालीन परिस्थितियों के लिए कितना ही अनु-कूल क्यों न रहा हो, अहिंसा की यह भावना धीरे-धीरे राष्ट्रीयता के शौर्य और तेज को मंद करने में सहायक सिद्ध हुई। यदि किसी युगद्रष्टा कवि ने इस विनाशकारी वृत्ति को अपने सजग नयनों से देखा है तो वह है एक मात्र रामधारी सिंह दिनकर। दिनकर का कवि हिंस्र नहीं है बल्कि वीरता और शौर्य की जीती जागती तस्वीर है। वह स्वत्व को मिटाकर अहिंसा की राह पर चलने वाला धर्मभीरु नहीं है। वह अहिंसा पर उस सीमा तक ही चलना पसन्द करता है जहाँ तक अहिंसा उसके स्वत्व

की रक्षिका बन सकती है। दिनकर की यह भावना तत्कालीन युग की भावना के लिए एक चुनौती थी। उसने अपनी सशक्त लेखनी से गांधीवाद की थोथी अहिंसा से भारतीय जनमानस की रक्षा करने का संतुलित प्रयत्न किया हैं। शौर्य और वीरता जैसी क्षत्रियोचित भावनाओं की आहत धारा पर वह स्वराज्य का भवन खड़ा करना नहीं चाहता क्योंकि ये ही भाव राष्ट्रीयता के आधार-स्तम्भ हैं। वह अहिंसा का मूक पुजारी नहीं है, पर सशक्त अहिंसा उसका आधार अवश्य है। उसका राष्ट्र आध्यात्मिक और भौतिक शक्ति के आधार पर ही स्वाभिमान से जी सकता है। १९४६ में उसके अंतरतम से कुरुक्षेत्र का जो स्वर फूटा वह तत्कालीन युगधारा के प्रतिकूल सा था, परन्तु आज का भारतीय जन-मानस कुरुक्षेत्र की भावना का हृदय से अभिनन्दन कर रहा है। परिस्थितियाँ स्वयं दिनकर के स्वर का अनुमोदन कर रही हैं। इस तरह आधुनिक कवियों में दिनकर की राष्ट्रीय भावना अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है।

हमें हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता का एक अविच्छिन्न प्रवाह प्रारम्भ से ही दृष्टि-गोचर होता है और आज की राष्ट्रीयता का स्वरूप परम्परागत राष्ट्रीयता का परि-ष्कृत रूप ही है। इस प्रकार हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय भावना की धारा भी युग और परिस्थिति के साथ अपना स्वरूप बदलती हुई निरंतर बहती रही है। कभी गिरिवर के क्रोड से निकलकर मचलते हुए निर्झर की भाँति वह अठखेलियाँ करती चली है, कभी धीर गम्भीर रूप में और कभी अत्यन्त रौद्र रूप में फूत्कार करती हुई कगारों को भी ढहाती हुई, आगे और आगे की ओर बढ़ती रही है। इसका पाट निरन्तर विस्तृत होता रहा है और आज विश्व-भावना के सागर में परिवर्तित होने जा रहा है।

द्वितीय किरण

कवि दिनकर : एक परिचय

कवि दिनकर : एक परिचय

कवि दिनकर : एक परिचय

नील गगन में

सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का तिमिर राष्ट्रीय व्योम में छाया हुआ था। गहन अन्धकार के आवरण को दीप और तारे दूर करने में संलग्न थे पर आवश्यकता थी एक दिनकर की। दिनकर का निर्माण नहीं होता, उदय होता है। युग की प्रतिध्वनियाँ ऐसी शक्ति को जन्म देती हैं, इन सब शक्तियों में कवि, परम शक्ति का पुंज होता है। परिस्थितियों से उपज कर परिस्थितियों को ही जर्जरित कर कवि, नव-निर्माण करता है। भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में दिनकर का इतिहास कुछ ऐसा ही इतिहास है।

सन् १९०८ के पूर्व भारत में राजनीतिक चेतना उग्र रूप धारण कर चुकी थी। खुदीराम बोस फाँसी के फन्दे पर लटकाये गये थे। लोकमान्य तिलक की भावनाओं से राष्ट्र करवट बदल रहा था। १९०५ के पूर्व बंग-भंग आन्दोलन की ज्वाला अभी तेजी पर थी। तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन के नेतृत्व में अंग्रेज गहरी कूटनीतिक चालें चल रहे थे। जन-जन के कण्ठ से उद्घोषित राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' पर प्रतिबंध लगा दिया गया था।

राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ हिन्दी साहित्य ने आधुनिक काल में प्रवेश किया। हिन्दी साहित्याकाश में भारतेन्दु उग चुका था पर प्रतीक्षा थी दिनकर की। भारतेन्दु में जिस राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हुआ, मैथिलीशरण गुप्त ने उसी को कल-कल निनादिनी भारत-भारती के रूप में प्रवाहित किया। हिन्दी साहित्य द्विवेदी युग में मुखरित हो रहा था। भारतीय जनता का जागरण भारत के किसान का जागरण था। साहित्यिक चेतना तथा राजनीतिक चेतना क्षितिज में अपनी रक्तिम आभा का प्रसारण कर चुकी थी। उसी उथल-पुथल और झकझोर देने वाले वातावरण में एक साधारण किसान परिवार में उषा की सुनहरी किरण चमकी।

बाल किरण

बंगाल और बिहार, बंग-भंग आन्दोलन के फलस्वरूप जनता की विद्रोहिनी भावना का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वैसे तो हिन्दी साहित्य में बिहार मैथिली-कोकिल विद्यापति के रूप में अपना सरस योगदान दे ही चुका था, पर युग के साथ साहित्य की भावनाएँ भी बदलती हैं। कल का शृंगारी बिहार २०वीं शती

में अपने आँचल में क्रान्ति की ज्वालाएँ धधका रहा था। पावनी गंगा, श्रुतिगान के कल-कल निनाद का विरार्जन कर क्रान्ति के स्वर में गान करने को आतुर थी। इसी पावनी गंगा के उत्तरांचल में एवं भारत के पूर्व क्षितिज विहार में ३० सितम्बर, १६०८ को मुंगेर क्षेत्र के सिमरिया गाँव की पावन धरा को दिनकर की बाल किरणों ने आलोकित किया। पिता ने अपनी भावना के अनुरूप बालक का नाम रामधारीसिंह रखा। भारतीय अरण्य का यह सिंह दो ही वर्ष में अपने वीर पिता के आधार से वंचित हो गया। माता का रूप वही था जो अनाथ भारत माता का था।

यथार्थ के धरातल पर

इसी छोटे से गाँव में भारतीय संस्कृति के अध्याय का सूक्ष्म दर्शन, बाल दिनकर की बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखों ने अपनी विशाल दृष्टि से किया था। भारतीय समाज का यथार्थ चित्र छोटे-छोटे ग्रामों में अनायास ही दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक विभीषिका, धार्मिक रूढ़िचक्र, आर्थिक उत्पीड़न और शोषण के चल-चित्र दिनकर ने सहज ही देखे थे। अंग्रेजी शासन के आधार जमींदारों का शोषण चक्र दिनकर ने ग्राम के कगार पर खड़े हो निकट से देखा ही नहीं, पढ़ा है। एक आलोचक के सुन्दर शब्दों में—

"दिनकर का बाल्य काल घोर देहात में बीता है जिसकी भूमि को न जाने कब से गंगा अपने पावन जल से सींचती आ रही है। हरी-भरी भूमि, धान और गेहूँ के लहलहाते पौधे, सरसों के फूल, उन्मुक्त पावन और मौजों में लहराती हुई गंगा— दिनकर के बाल नयनों ने इसे हर्ष और उल्लास से देखा था। उजड़ते खलिहान, क्षीणकाय किसान, जमींदारों के शोषण व भूख से तड़पते हुए बच्चे, रोदन और उत्पीड़न का साम्राज्य—दिनकर के किशोर नयनों ने इन्हें विस्मय और प्रश्न की नजरों से देखा था। मनों गल्ला पैदा करने वाले किसान को इसने भूख से तड़पते देखा था। घड़ों पसीना बहाते देखा था और फिर उदासी भरी सन्ध्या के बाद लोटा भर पानी पीकर संतोष करते देखा था। मुट्ठी भर शोषक किस प्रकार अपने शोषितों को भेड़ों की तरह बेगार में हाँककर ले जाता है, पीटता है। जबरदस्ती भूखे काम करवाकर छूछे हाथ घर भेज देता है—दिनकर के अर्द्ध चेतन नयनों ने इन्हें भौंहों पर चढ़कर देखा था।"[1]

इन्हीं अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में दिनकर का बाल्यकाल व्यतीत हुआ। स्थानीय ग्रामीण पाठशाला के टूटे-फूटे खण्डहर से निकलकर मोकामाघाट विद्यालय में प्रवेश पाया। मोकामाघाट के विद्यालय को जाते हुए स्टीमर द्वारा गंगा पार करने की घटना ने दिनकर को सहज ही संघर्ष से जूझने वाला योद्धा

---

[1] कामेश्वर शर्मा, दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि।

बना दिया। तप्त बालुकाओं में चल-चलकर तथा उफनाती गंगा में स्टीमर की डगमगाती स्थिति में भी कवि ने दृढ़ता से आगे बढ़ने का पाठ सीखा। नालंदा और तक्षशिला की सुप्त संस्कृति के दर्शन अपनी पैनी दृष्टि से छोटी सी अवस्था में ही आपने किये। इसी आयु में भारत का गौरव, गिरा से प्रवाहित होने लगा। माता की स्नेहमयी गोद ने तथा गंगा के मधुर गान ने दिनकर के हृदय को कवि का रूप दे डाला। १९२४ में ही बाल हृदय अज्ञात स्वर में कुछ गा उठा।

प्रेरणा के स्रोत

कविता लिखने की प्रेरणा उनमें नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई। उन दिनों जबलपुर से 'छात्र-सहोदर' नाम का मासिक पत्र निकलता था। वह नियमित रूप से इनके घर आता था। स्वयं कवि के शब्दों में, "मैं हर महीने इस पत्र की राह बड़ी आतुरता से देखता और महीने का अंक मिलते ही उसमें प्रकाशित सब पद्यों को चाट जाता। संयोग ऐसा कि इस पत्र की भी सारी कविताएँ राष्ट्रीयता से ही ओत-प्रोत होती थीं।"

समकालीन काव्यों में 'भारत भारती' तथा रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' का भी इन पर बहुत प्रभाव पड़ा। "स्कूल में कभी-कभी 'सरस्वती सुधा' और 'माधुरी' के अंक मिल जाते थे किन्तु 'मतवाला' मैं नियमित रूप से पढ़ता था। छायावाद की कविताएँ मेरी समझ में कम आती थीं और अक्सर काव्य प्रेमी मित्रों से बात करते समय मैं इन कविताओं का विरोध ही करता था।"[1]

उनके प्रिय कवि मैथिलीशरण, माखनलाल, सुभद्रा, नवीन और रामनरेश त्रिपाठी जैसे राष्ट्रीय कवि ही थे। आज से पच्चीस वर्ष पूर्व जब 'प्रताप' में भारतीय आत्मा की 'तिलक' शीर्षक कविता छपी थी तब मैं कोई १०-१२ साल का था किन्तु मुझे भलीभाँति याद है कि वह कविता मुझे अत्यन्त पसन्द आयी थी और मैंने उसे कण्ठस्थ कर बहुत लोगों को सुनाया भी था। आगे चलकर मेरी मनोदशा के निर्माण में उस तथा भारतीय आत्मा की अन्य कविताओं ने बहुत प्रभाव डाला।"[2]

दिनकर के जीवन पर रामचरितमानस की छाया तो पड़ी ही थी किन्तु क्रमशः १८७५ में स्थापित आर्य समाज और १८८५ में स्थापित कांग्रेस की दोनों धाराओं का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से झलकता है। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द की गहरी छाप दिनकर के सच्चरित्र जीवन पर आज भी ज्यों की त्यों परिलक्षित होती है। तिलक और उनके 'गीता रहस्य' ने उन्हें छायावाद से ऊपर उठा राष्ट्रवाद की ओर प्रेरित किया है। कवीन्द्र रवीन्द्र व इकबाल के प्रभाव को कवि

---

[1] चक्रवाल, भूमिका, पृ० २५।
[2] मिट्टी की ओर, दिनकर पृ० १८५।

ने स्वयं स्वीकार किया है, "जिस प्रकार मैं हिमालय और हिन्द महासागर का ऋणी हूँ उसी प्रकार रवीन्द्र, इकबाल और दूसरे कवियों का ऋण भी मुझ पर है।"[1]

सन् १९२८ में उच्च विद्यालय के द्वार से निकले ही थे कि महाविद्यालय के द्वार पर पहुँचते बारदोली आन्दोलन की भावनाओं से अभिभूत किशोर दिनकर बोल उठा। कवि के रूप में काव्य साधना की यह प्रथम रेखा थी। भविष्य में यह लघु गर्जन विश्व क्रान्ति के निनाद के रूप में प्रस्फुटित हो, भारतीय जन-मन की आत्मा को झकझोर देगा, प्रभात में यह सहज कल्पना न हो सकी।

भारतीय जीवन की प्रलयंकारिणी नदी के दो तट हैं—एक तो सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण की दिशा में किये जाने वाले क्रान्तिकारी किन्तु सामयिक प्रयत्न, और दूसरा तट है काव्य की अमर साधना से स्पंदित करने वाले कविगण। इतिहास और साहित्य इन्हीं दो तटों की कहानी है जो सदा से एक ही दिशा में बहते हुए युग की भावना को प्रभावित करती है तथा प्रेरित करती है—सत्य, शिव और सुन्दरता की सृष्टि करने के लिए।

सन् १९२८ से १९३२ तक का काल दिनकर को पूर्ण कवि के रूप में परिवर्तित करने वाला काल है। पटना की प्राचीन संस्कृति और खण्डहरों में बोलता हुआ इतिहास कवि दिनकर के हृदय से मुखरित होता है। किसे पता था कि इस प्राचीन संस्कृति के केन्द्र के धूलि-कणों में आज भी वह शक्ति छिपी पड़ी है जो एक कृषक बालक को राष्ट्रीय कवि का बाना पहनाने का सामर्थ्य रखती है?

प्रतिभावान् दिनकर ने पटना विश्वविद्यालय में अध्ययन प्रारम्भ किया मानो देश की सीमाओं में बँधी हुई भावनाओं रूपी नदी ने विशाल सागर में प्रवेश किया। इतिहास प्रेमी युवक ने विश्व इतिहास की ओर दृष्टिपात किया। यहाँ पर उसका परिचय विश्व की अनेक विचारधाराओं से हुआ। मार्क्स की विद्रोहिणी ज्वाला, फ्रांस की राजनीतिक चेतना, अमरीका की स्वाधीनता, जार की जर्जरित क्रूर कहानी कवि ने पढ़ी। गम्भीर अध्ययन कर उसने एक ओर विश्व की प्रगति को देखा और दूसरी ओर पराधीन भारत माता की करुण दुर्गति पर आँखें फेरीं। वह एक ही छलांग में विश्व की प्रगति को पकड़ना चाहता था परन्तु अपनी क्रोड़ में चालीस कोटि जन के भाग्य के साथ। इसीलिए पूरी शक्ति के साथ उसका हृदय क्रान्ति का उद्घोष करता है—

> उठ भूषण की भाव रंगिणी, रूसो के दिल की चिनगारी,
> युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग जाग री क्रान्ति कुमारी।

---

1. रेणुका, भूमिका।

अनेक विषम परिस्थितियों से जूझते हुए इस किशोर योद्धा ने पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया। जिस आर्थिक निर्भरता एवं सम्पन्नता की आशा के साथ परिवार के सदस्यों ने अपना पेट काटकर दिनकर को आगे बढ़ने की शक्ति दी, उनकी वह आशा धूमिल हो गयी। अन्तरतम से निकलने वाले भावों का धनपति बन बैठा। कुछ काल तक प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य करने के बाद १९३४ में वे बिहार सरकार के सब रजिस्ट्रार पद पर नियुक्त हुए।

इन दिनों भी दिनकर का कार्य-क्षेत्र छोटे-छोटे ग्रामों में ही रहा। अपने ग्राम में रामचरितमानस का पाठ करते-करते कवि में तुलसीदास बनने की भावना तो न जगी किन्तु राम के आदर्श उनके हृदय पर गहरी छाप छोड़ गये और वे दैत्य रावण से पीड़ित ऋषि-मुनियों के समान भारतीय कृषकों की दुर्दशा को अत्यधिक सहानुभूति से देखते रहे। कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का एक ही उपाय क्रान्ति का मार्ग था और कवि ने अपनी कविता से कहा—

> क्रान्ति धात्रि कविते ! जाग उठ आडंबर में आग लगा दे,
> पतन पाप पाखण्ड जलें जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

कर्तव्य के पथ

इन दिनों गृहस्थी के दायित्व बढ़ चुके थे। जीवन को वास्तविक मोड़ देने वाली माता ने दिनकर को एक परिष्कृत मार्ग दिया। रोटी ले निश्चिन्त रहने के लिए नौकरी भी आवश्यक थी। स्वाभिमानी, क्रान्तिकारी कवि कैसे किसी के सामने हाथ पसारता ? राष्ट्र को क्रान्ति का सन्देश देने वाला कवि पेट की व्यथा में ही उलझ कर कैसे रह जाता ? इसीलिए एक ही कलम से काव्य और दफ्तर में फाइलों की साधना चलती रही। कवि के अपने शब्दों में—

"दिन तो नौकरी में बीतता था। जिस समय अफसर बैडमिंटन तथा ताश खेलते उस समय घर में बन्द होकर मैं पंक्तियाँ जोड़ता। साहित्य समझने और लिखने का मुझे समय कब मिला ? ऐसी अधूरी कविताएँ बहुत हैं जो दफ्तर का टाइम निकट आने से कभी पूरी नहीं हुईं।"

पराधीन भारत की राजधुरी का अंग बन काव्य द्वारा राष्ट्रीय चेतना को जगाने का संकल्प पानी में आग लगाने का सा काम था। अनेक बार शासन से चेतावनी प्राप्त करके भी राष्ट्रीय चेतना का काम बन्द न हो सका। हृदय और पेट दोनों की समता ही जीवन है। पेट-साधना राज्य सेवा से सहज हो गयी थी पर हृदय का सन्तोष बिना काव्य के सम्भव न था।

अन्तर के स्वर

सन् १९३५ में बिहार प्रदेश कवि सम्मेलन का सभापतित्व राजकीय सेवा-

निरत, निर्भीक दिनकर ने किया। उनके सभापतित्व में अनेक कवियों ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कवितायों का पाठ किया। गोलमेज कांफ्रेंस के विरुद्ध भी कविता पढ़ी गयी, जो शासकों के हृदय में चुभने वाली थी। शासन ने दिनकर से बिना आज्ञा ऐसे कार्यक्रमों में भाग लेने तथा अपने सभापतित्व में विद्रोहिनी कविताओं के पाठ कराने के सम्बन्ध में जब स्पष्टीकरण माँगा, तो दिनकर के स्पष्टीकरण में भी उनकी प्रतिभा का दर्शन अनायास ही हो जाता है। स्पष्टीकरण में दिनकर ने कवि सम्मेलन में भाग लेना अपना सांस्कृतिक अधिकार बताया तथा शासन-विरोधिनी कविताओं को रोकने से उन भावनाओं को और अधिक उतेजना मिलने का तर्क उपस्थित किया। इस स्पष्टीकरण से शासक व्यग्र तो हुए ही, साथ में निरुत्तर भी। सम्भवतः दिनकर के इस सूत्र को शासन ने दिनकर के सम्बन्ध में ही क्रियान्वित किया और उनकी रचनाओं पर इसीलिए उपेक्षा भाव दिखाया कि कहीं कवि के भावों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्राप्त न हो।

गगन की ओर

सन् १९२९ में दिनकर ने प्रथम पौराणिक खण्डकाव्य 'प्रण भंग' लिखा। इस खण्डकाव्य पर आचार्य शुक्ल की भी नजर पड़ी। वे अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिनकर की इस लघु किरण का वर्णन करने का लोभ सँवरण न कर सके। १९३५ में आपकी दूसरी रचना 'रेणुका' प्रकाश में आयी। 'रेणुका' भी शासन की कुदृष्टि से न बच सकी। 'रेणुका' के सम्बन्ध में निर्भीक दिनकर को सरकार से यह कहना पड़ा था कि मेरे जीवन का लक्ष्य नौकरी नहीं, काव्य साधना है। देशभक्ति को अपना मौलिक अधिकार बताते हुए आपने कहा था कि देशप्रेम देशद्रोह का प्रतीक नहीं बन सकता। इस तरह एक ही पटरी पर परस्पर विरोधी किन्तु पूरक दुर्वह कर्त्तव्य का भार वहन करना दिनकर की ही अपनी साहसिक विशेषता है।

एक बार डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने श्री बनारसी दासजी से कहा था कि दिनकर को या तो शासन सेवा का दक्षिणायन चुनना पड़ेगा या राष्ट्र सेवा के उत्तरायण का मार्ग, इन दोनों मार्गों पर एक साथ दिनकर का निर्वाह होना कठिन है। किन्तु कर्त्तव्य और अधिकार दोनों के मध्य विशुद्ध सन्तुलन का अनुपम उदाहरण कवि ने प्रस्तुत कर दिखाया। राजकीय सेवा के साथ-साथ राष्ट्रीय कविता की धारा अजस्र रूप से प्रवाहित होती रही जिसमें देशभक्ति के नाम पर विद्रोह और क्रान्ति की स्फुलिंगें यत्र-तत्र पूर्ण रूप से प्रतिभासित होती हैं। 'रेणुका' कवि की फुटकर रचनाओं का संग्रह है। इसमें अस्तंगत भारत की महिमा का चित्र है। भारत के अतीत गौरव का गायक कवि 'हिमालय' कविता लिखकर स्वयं गौरवान्वित हो उठा है। 'रेणुका' की कविताएँ दिनकर की भावनाओं और विचारों की तरलावस्था का प्रदर्शन करती हैं। पहाड़ियों की चोटियों के बीच से कुहासे के परदे चीरते हुए बालारुण

का उदय, आसपास स्वर्णिम आभा, नन्हीं-नन्हीं किरणों की आँख मिचौनी—यह है 'रेणुका' का दिनकर।[1]

अनल गान

सन् १९३९ में दिनकर हुंकार उठे। इसी हुंकार ने उनके तेज को और प्रखर कर दिया। विश्व में द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका के बादल छा रहे थे। सुभाष की आज़ाद हिन्द सेना सज्जित हो रही थी। माहत्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाला आन्दोलन पूरे यौवन पर था। स्वायत्त शासन की नीति विफल हो चुकी थी। ऐसे समय रामधारीसिंह ने एक जवर्दस्त हुंकार भरी—

सुनूँ क्या सिंधु मैं गर्जन तुम्हारा,
स्वयं युग धर्म की हुंकार हूँ मैं।
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का,
प्रलय-गाण्डीव की टंकार हूँ मैं॥

'हुंकार' का कवि अपने को स्पष्ट कहता भी है। वह सूर्य के तेज का, सम्पूर्ण जगत को आलोकित करने वाले उस आलोक का परतंत्रता के विरुद्ध व्यापक क्रान्ति का कवि है—

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का,
मेरा शिखंड अरुणाभ किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे,
किरणों में उज्जवल गीत गुँथे हैं मेरे।

'हुंकार' भरी दोपहरी का दिनकर है। इसके बाद १९४० में 'रसवंती' व 'द्वन्द्वगीत' गाता साहित्याकाश में विचरित होता रहा। 'रसवंती' की एक-एक कविता रस से पगी हुई है। 'द्वन्द्वगीत' में सृष्टि और स्रष्टा के रहस्य की जिज्ञासा मुखरित हुई है। 'रसवंती' के बादलों ने कुछ क्षण के लिए उसे अवश्य घेर लिया परन्तु 'रसवंती' के शृंगार में वह अधिक समय तक लिप्त न हो सका। बेनीपुरी के शब्दों में इन्द्रधनुषी रंग 'रसवंती' में छिटका था। स्वयं कवि ने लिखा है, "सुयश तो मुझे 'हुंकार' से मिला पर मेरी आत्मा 'रसवंती' में बसती है।"

अन्तर्द्वन्द्व

सन् १९४३ में दिनकर का स्थानान्तरण युद्ध-प्रचार विभाग में कर दिया गया। विश्व स्वातन्त्र्य के प्रेरक दिनकर, कुत्सित भावनाओं तथा दूषित लिप्साओं से प्रेरित महायुद्ध में भला गौरांग महाप्रभुओं के चारण का कार्य कैसे अंगीकार करते? अस्वस्थता का बहाना बनाकर दिनकर ने दो बार त्यागपत्र दिया परन्तु गौरांग महा-

---

[1] कामेश्वर शर्मा।

पुरुषों ने उसे स्वीकार नहीं किया। एक तो शासक ऐसे प्रतिभावान् व्यक्ति के लाभ से वंचित होना नहीं चाहते थे, दूसरी ओर जनकवि दिनकर को वे अपने नियंत्रण से दूर कर स्वच्छन्द आकाश में विचरण का अवसर भी देना नहीं चाहते थे। विवश हो दिनकर को सेवा से कुछ काल के लिए अवकाश लेना पड़ा। एक ओर द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था, दूसरी ओर दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' का धर्मयुद्ध रच डाला।

प्रचण्ड दिनकर

'कुरुक्षेत्र' में कवि ने एक ओर तो विश्वयुद्ध को अधार्मिक और हेय घोषित करते हुए भी भारत में चल रहे स्वतन्त्रता के आन्दोलन को स्फूर्ति एवं चेतनता प्रदान की है। यह एक युद्ध-विषयक महाकाव्य है। इसमें कवि का चिन्तक रूप निखरा है। कवि गांधीजी के प्रति हृदय में श्रद्धा भाव संजोये हैं, पर वह उनका मूक अनुयायी नहीं, क्योंकि वह कवि है, राष्ट्र का पथ-प्रदर्शक है। अर्जुन के समान तेजस्वी गांधी को जब अहिंसा की बात करते देखता है तो वह कृष्ण बन जाता है। अपनी सबल लेखनी से अशक्त अहिंसा के दुर्वह चित्र अपने काव्य में बार-बार खींचता है। वह चाहता है कि अपने आप को पराधीनता की चिता पर जला देने वाला गांधी अपने गाण्डीव को क्यों छोड़ आया है ? निहत्थे हाथों से अहिंसा का उद्घोष उसे चुभता है। गाण्डीव की शक्ति को हाथों में थामकर ही अहिंसा का उद्घोष कुछ प्रभावशाली होगा—

> क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
> उसको क्या जो दन्तहीन, विष रहित विनीत सरल हो।

इसके साथ ही 'सामधेनी' की समिधा से राष्ट्र को आलोकित करने का प्रयत्न किया। साहित्य के आकाश में रुपहले, कहीं कोमल कहीं कठोर, कवि दिनकर को भारतीय जनता ने श्रद्धा से अर्घ्य चढ़ाया। 'सामधेनी' में दिनकर की हृदयस्पर्शी कविताएँ संगृहीत हैं। वास्तव में दिनकर का काव्य मधु कुंजों में सांय-सांय कर बहने वाला शान्त समीर नहीं है किन्तु उसका काव्य आँधी और तूफान है। वह अपनी झंझा से राष्ट्र को झकझोर कर पतझड़ का, प्रलय का दृश्य उपस्थित करना चाहते हैं और साथ ही फिर क्रान्ति से भरे हुए अंकुर खिलाना चाहते हैं। बेनीपुरी के शब्दों में—"हमारे क्रान्ति युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय दिनकर कर रहा है। क्रान्तिवादी को जिन-जिन हृदय-मंथनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उनकी सभी तस्वीर रखती है।"[1]

'रसवंती' के बादलों में छिपा हुआ दिनकर फिर अपने रूप में 'सामधेनी' में चमक उठा है। ये वीणा के स्वर युग के स्वर थे, समय की पुकार थे। कवि के स्वर

---

१ हुंकार, भूमिका।

अपने नहीं होते। उसके स्वर समाज के, देश और काल के स्वर होते हैं। 'आग की भीख' में कवि कहता है—

प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।
उन्माद बेकली का उत्थान माँगता हूँ।
विस्फोटक मांगता हूँ तूफान माँगता हूँ।

इसी वर्ष प्रकाशित 'बापू' कविता संग्रह में कवि गांधीजी के प्रति असीम श्रद्धा की अंजली भरकर भी शान्ति के दूत का अर्चन फूलों से नहीं अंगारों से करता है—

संसार पूजता जिन्हें तिलक रोली फूलों के हारों से।
मैं उन्हें पूजता आया हूँ बापू! अब तक अंगारों से।

स्वराज्य के बसंत में दिनकर ने जो फूल खिलाये उनकी सुगंधि से देश का कोना-कोना महकने लगा। 'अरुणोदय' कविता में स्वतंत्रता का स्वागत कवि इन शब्दों में करता है—

मंगल मुहूर्त्त रवि उगो हमारे क्षण ये बड़े निराले हैं,
हम बहुत दिनों के बाद विजय का शंख फूँकने वाले हैं।

स्वराज्य से निकली हुई 'धूप और धुआँ', 'दिल्ली' 'नीम के पत्ते' आदि रचनाएँ भी समसामयिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हुई सी दृष्टिगोचर होती हैं। 'नील कुसुम' में प्रयोगवादी रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। १९५२ से आपकी रचनाओं का प्रवाह शिथिल न होकर और पुष्ट हुआ है। 'रश्मिरथी' खण्ड-काव्य १९५० की रचना है। उसमें भी युग-चेतना का स्वर मुखर है—

बड़े वंश से क्या होता है खोटे हों यदि काम,
नर का गुण उज्जवल चरित्र है नहीं वंश धन धाम।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी सजग प्रहरी की तरह दिनकर खुली आँखों से कवि का उत्तरदायित्व पूर्ण करने में नहीं चूकता। 'कोयला और कवित्व' काव्य संग्रह दिनकर की नई कृति है। 'सीपी और शंख', 'आत्मा की आँखें' विदेशी भावानुवाद काव्य संग्रह हैं।

इन्द्रधनुषी आभा

सन् १९६१ में आपका नया महाकाव्य 'उर्वशी' प्रकाश में आया। स्वराज्य के मधुमास में उर्वशी कोकिला का गान गूँज उठा। स्वतंत्र भारत में जन्मी उर्वशी रसवंती की नई सहेली के रूप में प्रस्तुत हुई है। प्रचंड सूर्य अपनी प्रखर किरणों से जग को ताप-तप्त न कर यदि आकाश में सुनहरी लालिमा बिखेर दे और उसी लालिमा से यदि शृंगार का रस फूट पड़े तो यह दिनकर का दोष नहीं, भूषण ही है।

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' युद्ध के क्षेत्र में तोपों की गड़गड़ाहट और तलवार की झनझनाहट सुनने वाला सैनिक भी तो कभी-कभार पायलों की रुन-झुन में डूब ही जाता है। यह मानव-प्रकृति की सहज स्वाभाविक क्रिया है जो कवि में सहज सम्भाव्य हो गयी है। 'उर्वशी' और 'रसवंती' मानो दिनकर के दो रंगीन इन्द्रधनुष हैं। हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में 'कामायनी' के बाद 'उर्वशी' का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनोवैज्ञानिकता के आवरण में 'उर्वशी' ने भी अपने युग के लिए एक सन्देश दिया है।

अधूरा स्वप्न

सन् १९३७ में देश में स्वायत्त शासन की स्थापना हुई थी। उस समय कांग्रेस के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने दिनकर को एम० ए० करने की सलाह दी थी ताकि उन्हें सब-रजिस्ट्रार पद से मुक्त करा किसी महाविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त किया जा सके। दिनकर भी अध्ययन में जुट गये। बाबू जयप्रकाश नारायण को जब ज्ञात हुआ तो उन्होंने यह कहकर रोक दिया कि यदि तुम्हें अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है तो कम से कम तुम्हें कवि मानने वालों की तो प्रतिष्ठा रखनी ही होगी। स्वाधीनता के बाद कवि दिनकर मुजफ्फरपुर कॉलेज में हिन्दी विभाग में अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए तब जयप्रकाश नारायण ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा कि मेरे कारण एम० ए० न करने पर भी आप विशेष घाटे में नहीं रहे। वास्तव में उन्हें अपने त्याग और तपस्या का प्रतिफल मिल गया था।

दिल्ली की ओर

सन् १९५२ में प्रोफेसर पद से त्यागपत्र देकर आपने संसद सदस्य होना स्वीकार किया। कॉलेज के परिमित क्षेत्र को छोड़कर अपरिमित भारतीय संसद को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। हिन्दी के लिए यह परम सौभाग्य का दिन था। हिन्दी साहित्य को अपनी ओजस्विनी गिरा से शृंगारित करने वाला यह कवि अनेक राज-नीतिक समस्याओं से घिरी अभागिनी हिन्दी के उन्नयन में साहसिक योद्धा के रूप में आ खड़ा हुआ। इस तरह दिनकर ने हिन्दी की दोहरी सेवा करने का श्रेय प्राप्त किया है।

दिल्ली से दिनकर को बहुत अधिक दुलार है। इसीलिए स्वतन्त्रता से पूर्व और पश्चात् उनकी लेखनी दिल्ली की करवटों, वैभवों पर पड़ती है। तीन अक्षरों वाली दिल्ली पर उनकी तीन कविताएँ हैं। इस समय तक आप फिल्मी राष्ट्रीय पुर-स्कार समिति, संगीत नाटक अकादमी तथा आकाशवाणी की राष्ट्रीय सलाहकार समिति के सदस्य हैं। दिल्ली की सांस्कृतिक चहल-पहल से वे अछूते नहीं रह सकते। विदेशों में जाने वाले अनेक सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डलों में आपने भारत का प्रतिनिधित्व किया है।

सांस्कृतिक सुषमा

दिनकर का पद्य-काव्य यदि इस मधुमास की कोकिला है तो गद्य-काव्य सावन का मयूर है। दिनकर का गद्य-काव्य भी अनुपम, सुन्दर और ओजस्वी है। उनकी लेखनी गद्य में भी अपनी विशेषता लिये हुए स्पष्ट दृष्टिगत होती है। 'मिट्टी की ओर' उनका प्रसिद्ध आलोच्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'अर्द्धनारीश्वर', 'रेती के फूल,' 'हमारी सांस्कृतिक एकता,' 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण,' 'वेणुवन' आदि के स्वर से भी भारत का दिग्दिगन्त गुंजित हो रहा है। गद्य का अनुपम सुन्दर, रोचक, ओजपूर्ण ग्रन्थ है 'संस्कृति के चार अध्याय' जिसकी भूमिका राष्ट्रनायक जन-जन के हृदय स्व० जवाहरलाल नेहरू ने लिखी। उक्त ग्रन्थ साहित्य अकादमी की ओर से १६५६ में पुरस्कृत हो चुका है। काव्य प्रतिभा तथा देशप्रेम की अटूट धारा के प्रवाहक दिनकर को १६५६ में ही भारत सरकार ने 'पद्म विभूषण' की उपाधि से विभूषित किया। पद्म का भूषण वास्तव में दिनकर ही होता है। कई वर्षों तक आप भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे हैं।

कोमल व हँसोड़ व्यक्तित्व

वैसे दिनकर का व्यक्तित्व ओजस्वी है पर आपके हृदय में करुणा की धारा भी प्रवाहित होती है। एक बार अपने अधिकार के मद में जब एक निर्धन व्यक्ति पर कवि का हाथ उठ गया तो सारी रात अश्रुओं से उस कलंक को धोते रहे। प्रातः उस कर्मचारी से क्षमा माँगकर और पुरस्कृत करके ही मानसिक सन्तोष प्राप्त किया।

इस बार बारसा (पोलैण्ड) के कवि सम्मेलन में इंगलैण्ड के कवि श्री लारी ने एक कविता 'बॉम्वे अराइवल' पर सुनायी। दिनकर की ओर हास्य मिश्रित संकेत से देखने पर आप तुरन्त कह उठे कि अब एक कविता 'बॉम्वे डिपार्चर' पर भी होनी चाहिए क्योंकि अंग्रेज अब वहाँ से जा चुके हैं। सुनते ही सभा अट्टहास कर उठी। पोलिश श्रोता तालियाँ पीटने लगे। इस तरह दिनकर परिहास प्रिय, रसिक व हाजिरजवाव भी हैं।

दिव्य तेज

धीरे-धीरे एक बार फिर से भारत के क्षितिज पर युद्ध की सी स्थिति के संकट-कालीन वादल मँडराने लगे। १६६२ में हिमालय की बर्फीली चट्टानों से जब बर्बर चीन की तोपें टकरा रही थीं और हमारे वीर सैनिक चीनी आक्रांताओं से निहत्थे ही जूझ रहे थे तब कवि को सहसा परशुराम की याद हो आयी। कवि दिनकर दिल्ली की देहलीज पर बैठकर परशुराम की प्रतीक्षा करने लगा। निश्चय ही 'परशुराम की प्रतीक्षा' ने भारतीय सुप्त चेतना को झकझोरा है और ऐतिहासिक शूरता को साकार करने में सक्रिय योगदान दिया है। दिल्ली के मंच से 'परशुराम की प्रतीक्षा' के स्वर जब फूट पड़े तो ऐसा लगा कि वीरता और शौर्य का नद बाढ़ के रूप में उफन पड़ा है—

निर्जर पिनाक हर का टंकार उठा है।
हिमवंत हाथ में ले अंगार उठा है।
ताण्डवी तेज फिर से हुंकार उठा है।
लोहित में था जो गिरा कुठार उठा है।

इसके प्रत्येक शब्द में मानों परशुराम का आवेश फूट रहा है और युद्ध की हर लल-कार में गीता का गान गुंजित हो रहा है।

अमर सेनानी

५७ वर्ष की इस ढलती आयु में भी उसके हृदय से फूटने वाले स्वर कवि के यौवन के प्रतीक हैं। उसका देश वृद्ध भारत नहीं, समृद्ध भारत है, क्षत्रिय भारत है, क्रान्ति स्रोत भारत है। कवि के यौवन की अक्षुण्णता का एकमात्र यही तो रहस्य है। भारतीय आकाश का यह दिनकर चिरजीवी हो और इसकी आभा से निकली ओज-स्विनी रश्मियाँ भारतीय आकाश से निकलकर विश्वाकाश को आलोकित करती रहें।

दुर्भाग्य से देश अब तक राष्ट्रभाषा के प्रश्न की गुत्थी नहीं सुलझा सका है। दिनकर अपने उस उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग हैं। संप्रति सौभाग्य से वह गृह मन्त्रालय में केन्द्रीय हिन्दी सलाहकार समिति के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। आज हिन्दी की पतवार दिनकर के सुदृढ़ हाथों में अपने उज्जवल भविष्य की बाट जोह रही है।

तृतीय किरण

अतीत के आलोक में

(क) गौरव और आँसू

(ख) समस्या और समाधान

(क)

गौरव और आँसू

अतीत के मुकुर में राष्ट्र एवं जातियाँ अपने वर्तमान को सँवारती हैं। वे राष्ट्र कितने भाग्यवान् हैं जिनका अतीत उत्कर्ष के स्वर्णिम प्रकाश में आबद्ध था। विश्व के कुछ राष्ट्र अतीत के अन्धकार से मुक्त हो वर्तमान के विभव पर अठखेलियाँ कर रहे हैं, निश्चय ही उनका वर्तमान अतीत से कहीं अधिक प्रेरणादायक है। परन्तु विश्व इतिहास में भारत का अतीत ऐसी अद्‌भुत गौरवमयी गाथा है, जिसे न केवल समस्त विश्व ने गाया है अपितु इस अतीत के प्रकाश में अनेक राष्ट्रों ने अपने वर्तमान को सँवारा भी है। सम्भवतः भारत का अतीत जितना समृद्ध तथा गौरवपूर्ण रहा है उतना अन्य किसी भी राष्ट्र का अतीत नहीं है।

जो भाग जितना अधिक तेजस्वी एवं दीप्तिमान होता है, सभी की दृष्टि अनायास उस ओर ही आकृष्ट होती है। प्रातःकाल की सुनहरी वेला में, गगन के धुँधले नक्षत्रों की ओर हमारी दृष्टि सदैव विमुख रहती है, किन्तु पूर्व दिशा के तेज-पुंज दिनकर की ओर सभी का ध्यान स्वभावतः आकृष्ट होता है। आज भी क्षितिज के उस पार इतिहास के पृष्ठों पर भारत का प्राचीन गौरव तेजस्वी सूर्य के समान देदीप्यमान हो अपनी स्वर्णिम आभा से प्रत्येक मेधावी को सहसा मुग्ध कर लेता है। अनेक ऐसे दुष्ट-दृष्टि भी होते हैं जो भारत के भविष्य को वर्तमान के विदेशी वैभव में देखते हैं, परन्तु दिनकर के प्रकाश से ज्योति प्राप्त करने में अक्षम, दूसरों के प्रकाश से चमकने वाले चन्द्रमा से प्रकाश लेने वालों की तृष्णा मृग-मरीचिका नहीं तो क्या है ?

त्रिकाल दर्शन

महकवि त्रिकालदर्शी होता है। जो त्रिकालदर्शी नहीं वह महाकवि कैसा ? एक ही काल में तैरने वाला सामयिक दृष्टि से कवि पद को भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु चिरन्तन आनन्द की अजस्र धारा को प्रवाहित करने के लिए त्रिकाल-दर्शन एक अनिवार्य आवश्यकता है। महाकवि दिनकर त्रिकालदर्शी कवि हैं। अतीत के आदर्शों में, वर्तमान की वीणा, भविष्य के भाग्य का निर्माण करती हुई उनके काव्य में स्पष्ट झलकती है। उनके भविष्य का भारत अतीत के आदर्शों पर खड़ा होगा। किसी भी राष्ट्र की नींव उसके अतीत में ही अन्तर्निहित होती है।

जिस प्रकार युग तीन कालों में विभाजित है, ठीक उसी प्रकार यह विभाजन दिनकर के काव्य में भी सहज हो गया है। वह वर्तमान के कण्टकाकीर्ण धरातल पर खड़ा है। उसके दाहिने हाथ में राष्ट्र का ओजस्वी अतीत है और बायें हाथ में उज्ज्वल भविष्य। कवि दिनकर भारत भू के कण-कण में बिखरे हुए अतीत के गौरव को लुब्ध दृष्टि से देख रहे हैं। 'रेणुका' में इसी प्रतिज्ञा को लेकर कवि मंगल आह्वान करता है—

> दो आदेश फूँक दूँ श्रृंगी, उठे प्रभाती राग महान्,
> तीनों काल ध्वनित हों स्वर में, जागें सुप्त भुवन के प्राण।[१]

अतीत के स्वर

कवि दिनकर के काव्य में अतीत का ओज सशक्त हो बोलता है। कहीं तो दिनकर अतीत से प्रेरणा प्राप्त कर भारत को नई स्फूर्ति देना चाहते हैं और कहीं सुनहरे अतीत को याद कर वर्तमान की दुर्दशा पर शोकाकुल हो जाते हैं। उनके काव्य के प्रारम्भिक भाग में अधिकतर वर्तमान की विषम वेदनाएँ अतीत के आँचल में सिसकती दृष्टिगोचर होती हैं—

> देवि ! दुःखद है वर्तमान की यह असीम पीड़ा सहना,
> कहीं सुखद इससे संस्मृत में, अतीत की रत रहना।[२]

'पाटलीपुत्र की गंगा' में कवि का यह स्वर स्पस्ट रूप से उक्त बात का अनुमोदन कर रहा है। दिनकर में अतीत का अनुराग इतना प्रबल है कि वह पग-पग पर पीछे मुड़कर राष्ट्र के अतीत को देखता है। जिस तरह भारतीय संस्कृति की आत्मा अपने अतीत से सशक्त व परिष्कृत है उसी प्रकार कवि दिनकर की काव्यात्मा भारतीय इतिहास के निर्झर से ही परम सौन्दर्य को लेकर आगे बढ़ रही है। 'रेणुका' के मंगल आह्वान में कवि के निम्न शब्द अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं—

> प्रिय दर्शन-इतिहास कण्ठ में, आज ध्वनित हो काव्य बने,
> वर्तमान की चित्रपटी पर, भूत काल सम्भाव्य बने।[3]

भारतीय जीवन में कवि नये प्राण फूंकना चाहता है और एक नई सशक्त हुंकार के लिए जनता को जाग्रत करना चाहता है—

> गत विभूति भावी की आशा, ले युग धर्म पुकार उठे।
> सिहों की घन अन्ध गुहा में जागृति की हुंकार उठे।[४]

---

१ रेणुका, मंगल आह्वान।
२ वही, पृ० २७।
3 वही, मंगल आह्वान।
४ वही।

विगत वर्षों की लम्बी दासता ने भारतीय इतिहास की वाणी को मूक बना दिया था परन्तु कवि दिनकर ने इतिहास को फिर से वाणी प्रदान की। माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में "दिनकर से इतिहास अपनी सम्पूर्ण वेदनाओं को लेकर बोलता है। भारत की विलुप्त गौरव-गाथा को दिनकर की सशक्त लेखनी ने अमरत्व प्रदान किया है। भारतीय इतिहास के पृष्ठों को कवि ने छान मारा है। बिखरे ओजस्वी रेणुओं के निर्झर को कवि ने रेणुका के महानद के रूप में प्रवाहित किया है।"

हिमालय की ओर

अपने देश की वास्तविक स्थिति को और अधिक विस्तार से देखने के उद्देश्य से कवि सीधा नगपति के शिखर पर जा खड़ा हुआ है। उस ध्यानमग्न चिर समाधि लीन हिमाचल के उत्तुंग शिखर से उसने भारत के आहत गौरव को विस्फारित नयनों से देखा। देश के कोने-कोने में जलनेवाली जागृति की ज्वालाएँ आज उसे शान्त और वीरान दिखाई दे रही थीं। उसने भारत के कण-कण को प्रेरणा देने का प्रयत्न 'हिमालय' कविता में किया है। पराधीनता पर प्रथम प्रहार करने वाले चित्तौड़ के महा प्रतापी प्रहरी पर उसका ध्यान सहसा ही आकृष्ट हुआ। स्वतन्त्रता की चिर-ज्योति को प्रज्जवलित रखने के लिए वह वन-वन की खाक छानता रहा परन्तु अपने गर्वोन्नत मस्तक को हिमगिरि के समान ऊँचा उठाये रखा। कवि को सहसा उसका स्मरण हो आया और वह पूछने लगा—

> पूछे सिकता कण से हिम पति तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
> वन-वन स्वतंत्रता दीप लिये फिरने वाला बलवान् कहाँ ?[1]

इन शब्दों से मानो कवि दिनकर ने स्वतन्त्रता के इस प्रहरी का अपनी रक्तिम रेणुका से प्रथम अभिषेक किया है। यह अभिषेक प्रताप का तो है ही किन्तु प्रताप यहाँ भारत की स्वतन्त्रता का प्रतीक भी है। चित्तौड़ की धधकती ज्वालाओं के प्रकाश में और आगे बढ़कर दिनकर ने देखा, उसके राष्ट्र का सारा अतीत चल-चित्र के समान उसके सजग नेत्रों में सहसा उमड़ पड़ा। एक साथ कई युगों के दर्शन उसने क्षण भर में कर डाले और उसकी वाणी से बरबस ये शब्द निकले—

> तू पूछ अवध से राम कहाँ ? वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ ?
> ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?[2]

महाराणा प्रताप और चन्द्रगुप्त दोनों के मध्य में भारतीय ब्रह्मवर्चस् के जाग्रत स्वरूप तथा भारतीय चिरन्तन संस्कृति के अमर प्रतीक राम और कृष्ण की मर्यादाओं का ध्यान कवि को हो आया है। अवध और मगध शान्त क्यों हैं ? वृन्दा की रेणुका

---

१ रेणुका, पृ० ६।
२ वही।

प्रसुप्त क्यों है ? वह वीर प्रसविनी भूमि के कण-कण को अपने पुण्य प्रतापी सम्राटों का स्मरण करा झकझोरना चाहता है। कल की वैभव-शालिनी मिथिला आज किस तरह भिखारिणी के वेश में पड़ी हुई है ? भारत को फिर से विश्वगुरु पद दिखाने वाला वह गौतम बुद्ध कहाँ है जिसका संदेश देश की सीमाओं को लाँघकर दूर-दूर तक मानवता का ज्योतिस्तम्भ वन गया था ? गणतंत्र की पावन परम्परा को जाग्रत रखने वाला वैशाली का वह लिच्छवी शासक कहाँ सो गया है ?

कवि भारत के यश को धू-धू जलते हुए देख रहा है। उसका स्वर्ण युग भू-लुण्ठित हो रहा है। वह फिर से उसे स्वर्णिम आभा प्रदान करने के लिए अन्तःकरण की समस्त उद्दाम भावनाओं व करुण वेदनाओं के साथ प्रयत्नशील है—

> प्राची के प्रांगण बीच देख, जल रहा स्वर्ण युग अग्नि ज्वाल।
> तू सिंहनाद कर जाग यति, मेरे नगपति मेरे विशाल ।।[१]

गंगा की गोद में

हिमालय की उपत्यका में कवि का जिस सखी से मिलाप हुआ वह स्वयं शोकाश्रु बहा रही थी। उसके कल-कल स्वर में आज वेदना सिसक रही थी। कवि ने उससे पूछा—

> उमड़ रही आकुल अन्तर में, कैसी यह वेदना अथाह ?
> किस पीड़ा के गहन भार से, निश्चल सा पड़ गया प्रवाह ?[२]

हिमाचल के बुद्धि जाल से निकलकर कवि ने जिस सहेली के हृदय का आलिंगन किया और उसके आँसुओं को अतीत के वैभव से धोने का प्रयत्न किया, वह थी भारत की पुण्य-प्रवाहिनी कल-कल-निनादिनी गंगा जिसका प्रवाह मन्द पड़ चुका था। यद्यपि कवि स्वयं अपने आहत गौरव को देख शोक-विह्वल है परन्तु उसका शोक उसे नया ओज और तेज प्रदान करता है, जिसका श्रेय अतीत के सुनहरे वैभव को ही है जो आज भी हिमालय की चोटियों पर हिम के समान स्थिर है तथा गंगा के पावन जल में रेणुका की तरह घुला-मिला अपनी पुरातन संस्कृति और शक्ति को अपने आँचल में समेटे हुए हैं। गंगा के अश्रुओं को कवि ने अतीत के गौरव से पोंछने का सुन्दर प्रयास अपनी ओजस्विनी वाणी में, पाटलीपुत्र के आँचल में सिमटकर बहने वाली 'पाटीलपुत्र की गंगा' में किया है—

> चल अतीत की रंगभूमि में स्मृति।पंखों पर चढ़ आजान,
> विकल चित्त सुनती तू अपने, चन्द्रगुप्त का क्या जयगान।[३]

हिमालय के उत्तुंग शिखर से जिस ऐतिहासिक विभव के दर्शन कवि ने किये हैं उसी

---

१ रेणुका, पृ० ८।
२ वही, पृ० २३।
३ वही, पृ० २३।
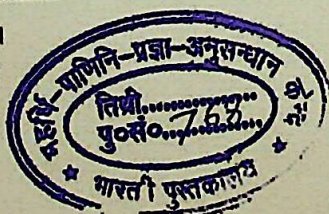
अतीत के गौरव को पाटलीपुत्र की गंगा में कुछ नया रूप उसने दे डाला है। यह रूप हिमालय से कुछ अधिक विस्तृत है। सम्राट अशोक के वैभव की याद दिलाते हुए वह अपनी सखी से कह उठता है—

घूम रहा पलकों के भीतर, स्वप्नों का सा गत विभव विराट्।
आता है क्या याद मगध का, सुरसरि ? वह अशोक सम्राट ?[1]

पावन गंगा ने न केवल अनेक वैभवों के दर्शन किये हैं, न केवल उसने गौतम का शान्ति प्रिय गौरव-गान ही सुना, वल्कि अनेक वार उसने अपने आँचल को रक्त से भी धोया है। अपने तट पर लड़े जाने वाले शूरमाओं के अनेक युद्ध अति निकट से देखे हैं। समुद्रगुप्त की चमचमाती असि-धार की तेजस्विता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

मुझे याद है चढ़े पदों पर कितने जय सुमनों के हार ?
कितनी बार समुद्रगुप्त, ने धोई है तुझमें तलवार ?[2]

आगे कवि को सिल्कूकस की प्रसिद्ध ऐतिहासिक गाथा का स्मरण करते हुए वह भी युग याद आता है जब विश्व के अनेक देश नतमस्तक हो भारत से संस्कृति और सभ्यता का पाठ सीखते थे—

जगती पर छाया करती थी, कभी हमारी भुजा विशाल।
बार बार झुकते थे पद पर ग्रीक यवन के उन्नत भाल॥[3]

और वह पैंतरा बदलकर गंगा की निष्ठुरता पर एक मधुर व्यंग्य कसता है। जहाँ गंगा की निष्ठुरता पर यह व्यंग है वहाँ गंगा के इस स्थिर स्वरूप का अस्पष्ट किन्तु सुन्दर संकेत भी करता है—

जिस दिन जली चिता गौरव की, जय मेरी जब मूक हुई,
जम कर पत्थर हुई न क्यों, यदि टूट नहीं दो टूक हुई ?

मौर्य और मगध के पतन की कहानी पर दो अश्रु बहाते हुए वीर लिच्छवी की विधवा वैशाली के विलाप का करुण चित्र खींचा है और भारत के प्राचीन गौरव का साक्ष्य गंगा से दिलाया है—

अस्तु आज गोधूलि लग्न में गंगे ! मन्द मन्द बहना।
गाँवों नगरों के समीप चल दर्द-भरे स्वर में कहना।
सम्प्रति जिस की दरिद्रता का करते हो तुम उपहास।
वही कभी मैंने देखा है मौर्य वंश का विभव विलास।[4]

---

१ रेणुका, पृ० २४।
२ वही, पृ० २४।
३ वही, पृ० २५।
४ वही, पृ० २७।

पुण्य स्थली पर

कवि दिनकर की मिथिला भारतीय संस्कृति की ज्वलंत प्रतीक है। मिथिला की राजनीतिक सीमाएँ उसकी अर्चना की पात्र नहीं हैं, किन्तु उसकी मिथिला समस्त भारतीय संस्कृति को संजोये हुए है। अनेक आलोचक दिनकर को मिथिला और मगध की सीमाओं में ही आबद्ध रहनेवाला कूप-मण्डूक कवि सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं। परन्तु उन्हें कदापि यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस तरह राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के समुज्जवल प्रतीक हैं उसी तरह दिनकर की मिथिला और मगध अपनी संकुचित प्रान्तीय सीमाओं की प्रतीक नहीं वरन् इन सीमाओं को लाँघकर विश्व को आलोकित करने वाले भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला और संस्कृति, शौर्य, तेज और शान्ति की सुन्दर प्रतीक हैं। दिनकर के काव्य में गण्डकी और गंगा पावन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं। यदि हिमालय की कविता को पढ़कर कदाचित कोई उसे हिमाचल की राजनीतिक सीमाओं से बाँधने का प्रयत्न करे तो यह आलोचक की महान् भूल होगी। हिमालय समस्त भारत की महानता का प्रतिनिधित्व करता हुआ अडिग व अटल है। ठीक उसी प्रकार मिथिला और मगध भी हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी तक छाये हुए भारत के ब्रह्मवर्चस व क्षात्र तेज का सबल नेतृत्व कर चुके हैं। कवि इन्हीं सांस्कृतिक सीमाओं की परिधि में घूम रहा है। उसकी यह सीमाएँ समस्त भारत की सीमाओं के समान विस्तृत और महान् हैं। नीचे की पंक्तियों में मिथिला, गौरवमयी माता सीता और तत्त्ववेत्ता जनक व कपिल को अभिमान के साथ प्रस्तुत कर रही है—

> **मैं जनक कपिल की पुण्य जननी, मेरे पुत्रों का महा ज्ञान,**
> **मेरी सीता ने दिया विश्व की रमणी को आदर्श दान।[1]**

जिस प्रकार किसी भी स्थान विशेष के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन, समस्त प्रकृति की सुन्दरता को परिवेष्टित करता है ठीक उसी प्रकार दिनकर की क्रीड़ा-स्थली के ये सांस्कृतिक प्रांगण समस्त भारतीय संस्कृति के आदर्शों को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। जिस प्रकार दिल्ली समस्त भारत की राजनीतिक सीमाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिस प्रकार काशी भारतीय आध्यात्मिकता का प्रतिनिधित्व करती है, जिस तरह तिरुपति देवस्थान समस्त भारत का अर्चना-स्थल है, जिस तरह एलोरा-अजन्ता की गुफाएँ भारत की प्राचीन कला की प्रतीक हैं उसी प्रकार मगध का साम्राज्य समस्त अतीत के भारत की संगठित राष्ट्रीय शक्ति के तथा नालन्दा और तक्षशिला विश्व के ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र रहे हैं।

अनेक आलोचकों ने दिनकर पर प्रान्तीयता का जो आरोप लगाया है वही

---

१ रेणुका, पृ० २१।

आरोप भविष्य में दक्षिण भारत के आलोचकों द्वारा उत्तर भारत के समस्त कवियों पर लगाया जा सकता है। पर इस तरह की आलोचना स्वयं में ही अत्यन्त संकीर्ण कही जायेगी।

मिथिला स्वयं अपने प्राचीन गौरव-गरिमा का स्मरण करती हुई शोक-विह्वला हो उठी है—

> मैं पतझड़ की कोयल उदास, बिखरे वैभव की रानी हूँ।
> मैं हरी-हरी हिम-शैल तटी की विस्तृत स्वप्न कहानी हूँ।[1]

मिथिला यहाँ अपने ग्राम की छोटी सीमा पर अश्रु नहीं बहा रही है अपितु वह भारतीय उद्यान की वह कोयल है जिसकी कुहू-कुहू में सम्पूर्ण भारत की टीस सन्निहित है।

खण्डहरों की खोज

'रेणुका' के प्रथम चरण में छायावादी काल्पनिक परी को जब कवि दिनकर ने धरती पर ला खड़ा किया तो दिनकर के पास वर्तमान में कोई ऐसा मोहक पदार्थ न था जिससे वह उसे लुभा सकता। एक ही आकर्षण उसके सामने था और वह था पुरातन भारत के गौरव-भार को जर्जरित जरा के रुँधे कण्ठों से रुक-रुककर अतीत के गान गाने वाला एकमात्र खण्डहर। इतिहास के यही भग्नावशेष दिनकर की कल्पना-परी के प्रथम आकर्षण-केन्द्र थे। उसने उसे इन खण्डहरों के वैभव में जहाँ गौरवमय अतीत के दर्शन कराये वहाँ खण्डहरों की आँखों में छलछलाते हुए आँसू भी दिखाये जो अतीत की स्मृति में बरबस बरस रहे थे—

> रेणुके ! हँसने लगे जुगनू !
> चलो आज कूकें खण्डहरों की धूल में।[2]

अतीत की प्रेरणाओं को कवि वर्तमान में ढालने के लिए प्रयत्नशील है। नालन्दा और वैशाली के खण्डहरों तथा दिल्ली की गौरव-समाधि पर भी भावुक कवि ने अश्रुओं का अर्घ्य चढ़ाया—

> भावुक मन था रोक न पाया, सज आए पलकों में सावन।
> नालंदा वैशाली की ढूहों पर बरसे पुतली के घन।
> दिल्ली की गौरव-समाधि पर आँखों ने आँसू बरसाये।
> सिकता में खोए अतीत के ज्योति वीर स्मृति में उग आए।[3]

एवं

---

१ रेणुका, पृ० २०।
२ वही।
३ वही, पृ० २८।

मैं प्रिय दर्शन अतीत का खोज रहा सब ओर नमूना।[1]

इस तरह कवि अपने प्रिय अतीत की खोज में सभी प्रेरणा-स्थलों पर भटक रहा है। अतीत के खण्डहर में कवि की कल्पना कभी-कभी सिसकती दृष्टिगोचर होती है। उसके राष्ट्र का स्वर्णिम अतीत आज अपने विशाल प्रासाद को छोड़कर मात्र खण्ड-हरों के रूप में अवशिष्ट है। यही उसकी वेदना का रहस्य है।

यौवन के प्रभात में युवा शक्ति जहाँ रमणियों के हास-परिहास में उलझकर किल्लोल करती है वहाँ दिनकर का यौवन अपनी परम सुन्दरी संस्कृति और उन्नत गौरव के वियोग में पग-पग पर सिसकियाँ भरता हुआ खण्डहरों में अविरल अश्रु-धारा बहा रहा है। कवि के बहते हुए ये आँसू निश्चय ही देश में राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। निम्न पंक्तियों में सिसकते कवि की भावना का सुन्दर रूप में निखार है—

कूकती असहाय मेरी कल्पना, कब्र में सोए हुओं के ध्यान में,
खण्डहरों में बैठ भरती सिसकियाँ, विरहणी कविता सदा सुनसान में।[2]

कवि की राष्ट्रीयता मानव जाति के एक सूत्र में आबद्ध है। उसने कभी दो जातियों के मध्य में किसी भी प्रकार की रेखा खींचने का प्रयास नहीं किया। जहाँ वह गुप्तकाल के स्वर्ण युग का स्मरण करता है वहाँ मुगल साम्राज्य के गौरव को भी विस्मृत नहीं करता। इस प्रकार एक विशाल भावना से अभिभूत हो उसने हिन्दू-मुस्लिम एकता की एक सुन्दर पृष्ठभूमि का निर्माण उस समय किया जबकि अंग्रेज शासक निरन्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों के पार्थक्य को बढ़ावा दे रहे थे।

दिनकर का काव्य राष्ट्रीयता के उदात्त भावों से ओतप्रोत है। मोगल-गरिमा के पतन पर विधवा दिल्ली का विलाप आज भी यमुना के जल में स्पष्ट झलकता है। दूसरी ओर अकबर की न्याय-प्रियता व समदर्शिता का स्मरण भी कविमन को क्लांत कर रहा है। नीचे की पंक्तियों में वैभव की समाधि पर कवि के यही भाव पुष्प अर्पित हैं—

यह नियति गोद में देखो मोगल गरिमा सोती है,
यमुना कछार पर बैठी विधवा दिल्ली रोती है।[3]
जय दीप्ति कहाँ अकबर के उस न्याय मुकट मणिमय की,
छिप गई झलक किस तन में मेरे उस स्वर्ण उदय की?

---

१ रेणुका, पृ० २९।
२ वही, पृ० ९९।
३ वही, पृ० १२९।

मुगल शासन से पूर्व का शौर्य जहाँ सूर्य के समान प्रचण्ड तथा भारतीय गौरव को अपनी स्वर्णिम आभा से दीप्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है वहाँ मुगल शासन का काल अपने कला प्रेम की शीतल ज्योत्सना भारतीय गौरव पर छिटका रहा है। चन्द्र और तारों का यह युग भी तो वीते युग की कहानी बन चुका है। उन्हीं बीते सपनों का स्मरण करते हुए कवि कह रहा है—

खो गये कहाँ भारत के वे सपने प्यारे प्यारे,
किस गगनांगण में डूबे वे चाँद औ तारे।[1]

आज उसकी धरती श्मशान का रूप धारण कर चुकी है। उसके राष्ट्र का जीवन स्पंदन रहित और गतिशून्य हो चुका है। उसका वैभव-पूर्ण उपवन वीरान वन में परिणत हो गया है। अतीत भय खा रहा है। ऐसे निस्पन्द वर्तमान में झाँकने के लिए खण्डहरों में भटकते हुए अतीत का यह रूप कवि के शब्दों में—

मेरा अतीत वीराना भटका फिरता खण्डहर में,
भय उसे आज लगता है आते ही अपने घर में।[2]

संस्कृति तथा शौर्य का प्रणेता कवि राष्ट्रीय जीवन में कला के महत्त्व को भी आवश्यक समझता है। राष्ट्रीय गौरव-गरिमा के संवर्द्धन में कला के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारत की प्राचीन कला का भी स्मरण किया है। समाधि के प्रदीप से वैभव की समाधि में प्रलय की सेज पर जलता हुआ दीप इसी कला और वैभव के उपसंहार की करुण कहानी कह रहा है—

वे घनीभूत गायन से अब महत्त्व कहाँ सोते हैं ?
वे सपने अमर कला के किस खण्डहर में रोते हैं ?[3]

आज उसके राष्ट्र की कला, संस्कृति और शौर्य धूल-धूसरित हो रहे हैं, किन्तु भारत के कण-कण में वह वैभव-गाथा बिखेर चुके हैं। कवि उस कण-कण को येन-केन प्रकारेण जाग्रत करने के लिए प्रयत्नशील है। यही कुछ उसकी रेणुका है। रेणुका के स्वर में यह भारतीय रेणु की गौरव-गाथा रेणुका की सुन्दर परिभाषा है—

कण-कण में सुप्त विभव है कैसे मैं छेड़ जगाऊँ ?
बीते युग के गायन को किसके स्वर में अब गाऊँ ?

उसने अतीत के युग पुरुष भगवान् बुद्ध का भी आह्वान किया। उसका उद्देश्य युग को झकझोर कर चेतना के पुरातन किन्तु प्रगतिशील मार्ग पर ला खड़ा करना है।

---

[1] रेणुका, पृ० १२९।
[2] वही, पृ० १२९।
[3] वही, पृ० १३७।

राजनीतिक जागरण के लिए जहाँ उसने राणा प्रताप और चन्द्रगुप्त को याद किया वहाँ सामाजिक विषमता दूर करने को गौतम का स्मरण करता है—

जागो मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक युग-धर्म पुकारों से
जागो गौतम जागो महान्, जागो जगती के धर्म तत्त्व
जागो ! हे जागो ! बोधिसत्व ![1]

अश्रुभरे नयन

इस प्रकार अतीत के आधार पर रेणुका का यह प्रभंजन जन-जन की भाव-रेणुओं को चिनगारी के रूप में परिवर्तित करना चाहता है। ताण्डव नवजीवन का प्रारम्भ था। 'रेणुका' में कवि ने अतीत के प्रवाह से वर्तमान को सिंचित करने का सुन्दर किन्तु प्रथम प्रयास किया था। रेणुका ने कवि हृदय को जो नया तेज और ओज प्रदान किया था उसी शक्ति को सँजोकर बाद में दिनकर का कवि हुंकार उठा। जिस प्रकार महादेवी के हृदय में अनन्त के प्रति वेदना के स्वर संवेदित होते हैं उसी तरह राष्ट्र के प्रति दिनकर की वेदना अन्तरतम से सिसकती अनेक स्थलों पर सहज दृष्टिगत होती है। दिनकर के हृदय में अतीत की वेदना एक टीस लिये हुए है।

एक ओर छायावादी कवि जहाँ अनन्त कल्पना-क्षेत्र में स्वर्गीय आनन्द लूट रहे थे वहाँ दिनकर अतीत के विस्तृत ऐतिहासिक गगन में विचरता है। उसके इस अतीत विचरण में जहाँ वह स्वर्गीय आनन्द पाता है, वहाँ वह कभी-कभी अत्यन्त शोक मग्न भी हो जाता है। उसका यह शोक बीते गौरव का विरह है। खोयी हुई संस्कृति उसकी प्राणमयी प्रेमिका है। वह उसे स्मरण करता है और उसकी खोज में उसी प्रकार भटक रहा है जिस तरह पंचवटी के शून्य पथ पर राम सीता के वियोग में वृक्षों से अपनी खोयी हुई सीता के सम्बन्ध में पूछ रहे थे। उसे अपनी खोयी हुई वैभवशालिनी गौरवमयी संस्कृति रूपी सीता से इतना मोह है कि वह उसे भुला नहीं पाता।

हुंकार में वह वर्तमान के धरातल पर खड़े रहने के लिए पूर्व-प्रतिज्ञ है परन्तु वहाँ भी अतीत का मोह उसका पीछा कर रहा है। अतीत का लोभ-सँवरण उसकी शक्ति से बाहर की वस्तु बन गया है। इसलिए वह अनायास ही अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ अतीत के आँचल का सहारा लेता है, वर्तमान उसके रुँधे हुए स्वर को और जल पूरित नयनों को सान्त्वना नहीं दे पाता। अतीत ही उसका एकमात्र आधार है जो कवि के हृदय को नई स्फूर्ति व चेतना देता है, उसकी मूक वाणी को सशक्त स्वर देता है।

हुंकार में वसंत की बहार को देखकर उसका जी भी प्रकृति के सौन्दर्य का

---

१ रेणुका, पृ० १९।

गान करना चाहता है पर कुछ ही क्षणों में अपने पथ से विचलित हो ऐतिहासिक वसंत में भटक जाता है। उसे सहसा भारतीय जनजीवन के वर्तमान में पतझड़ का दृश्य दिखाई देता है और वह अतीत के वसंत को याद कर अश्रु बहाता है—

देख शून्य कुँवर का गढ़ है, झाँसी की वह शान नहीं है।
दुर्गादास प्रताप बली का, प्यारा राजस्थान नहीं है।
जलती नहीं चिता जौहर की, मुट्ठी में बलिदान नहीं है।[१]

उसके राष्ट्र का वासंती वैभव लुट चुका है। वह प्रकृति के इस क्षणिक वसंत में अपने आप को निमग्न नहीं कर सकता। जब तक भारतीय जीवन में वह वासंती छटा नहीं छिटकेगी तब तक वह अपने आप को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसके राष्ट्र का वसंत जौहर की ज्वालाओं में छिपा है। उसके वसंत को मेवाड़ के मतवाले ले गये हैं, उसका वसंत बलिदानों की होड़ के साथ आता है। त्याग और बलिदान की भावना को ही वह वास्तविक वासंती रूप मानता है। अतीत के पृष्ठ ही उसके मन में वसंत की कूक भर सकते हैं। नीचे के कुछ बिखरे अंशों में कवि के यह भाव अत्यन्त स्पष्ट हैं—

जौहर की जलती चिनगारी अब भी चमक रही रेतों में,
खोज रहा मेवाड़ आज फिर उन अल्हड़ मतवालों का।
पी पी खून आग बढ़ती थी सदियों जली होम की ज्वाला,
हँस हँस चढ़ शीश साकल से बलिदानों का हुआ उजाला।[२]

अतीत के वसंत का एक रोमांचकारी किन्तु मनोहर रूप—

सुन्दरियों को सौंप अग्नि पर निकले समय पुकारों पर।
बाल वृद्ध औ' तरुण विहँसते खेल गये तलवारों पर।[3]

सतलज और रावी का प्रवाह उसे रोक रहा है। उसकी भाव शक्ति को वह प्रवाह हीनोत्साह कर देता है। वह अपनी असमर्थता इन शब्दों में प्रकट करने के लिए विवश है—

क्या गाऊँ सतलज रोती है हाय ! खिली बेलियाँ किनारे।
भूल गये ऋतुपति जहाँ बहते हैं रुधिर के दिव्य पनारे।[४]

अपने राष्ट्र की रक्षा में सतत जागरूक, देशहित में हँस-हँसकर प्राणों का उत्सर्ग करने वाले वह वीर, भारत की पुण्य प्रवाहिनियों से सुनिनादित भारत का वह यशोगान,

---

१ हुंकार, पृ० ३९।
२ वही, पृ० ४०।
3 वही, पृ० ४०।
४ वही, पृ० ४०।

दिनकर की हुंकार का मूलाधार है। अतीत के कण-कण से उसे हुंकार का साहस मिला है। दिनकर के साहित्य में से यदि अतीत का अंश निकाल दिया जाय तो उसका काव्य-कलेवर निष्प्राण और तेजहीन रह जायेगा।

दिल्ली के उतार-चढ़ाव

पाश्चात्य संस्कृति में उलझी हुई दिल्ली उसे श्मशान-स्थली में शृंगार करती हुई प्रतीत होती है। दिनकर की विचारधारा का हर कोना पौर्वात्य संस्कृति के गहरे रंग में रँगा हुआ है। इनका चिन्तन अतीत का राष्ट्रीय चिन्तन है। वर्तमान की राष्ट्रीय समस्याएँ अतीत की सहज नीतियों से स्वयं ही सुलझती हुई सी दिखाई देती हैं। उसे दिल्ली के इन्द्रप्रस्थी रूप का स्मरण हो आया है जबकि दिल्ली पांडवों की क्रीड़ास्थली थी। उसे इस दिल्ली से भी प्यार है जो मुगल साम्राज्य की देहलीज थी—

> हम ने देखा यहीं पांडु वीरों का कीर्ति प्रसार,
> वैभव का सुख-स्वप्न कला का महास्वप्न अभिसार।
> यहीं कभी अपनी रानी थी तू ऐसे मत भूल,
> अकबर शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं शृंगार।[1]

पराधीन दिल्ली का नया शृंगार उसे क्षण भर भी नहीं सुहाता। यदि उसे दिल्ली के कोई स्थल सुहाते हैं तो वे हैं अतीत गौरव-गरिमा के प्रतीक तथा अतीत की कला, संस्कृति और शौर्य का गान गाती हुई गगनचुम्बी कुतुबमीनार तथा अपने ही विस्तार में सिमटी हुई जामा मस्जिद और अपने बलिदान तथा त्याग के वैभव और ऐश्वर्य के अनेक उतार-चढ़ाव देखने वाली ऐतिहासिक लाल किले की प्राचीरें। उसे न केवल अतीत की संस्कृति से प्यार है बल्कि वह अतीत की उस मिट्टी से भी प्यार करता है जो आज भी कुतुबमीनार जैसे उत्तुंग भवनों को सुदृढ़ और सशक्त बनाये हुए है।

उसे वाजिदअली शाह और बहादुर शाह जफर की दिल्ली का स्मरण हो आता है। कुतुबमीनार के चरणों में बैठकर निर्लज्जता से अपने आप को गौरवान्वित अनुभव करने वाली दिल्ली पर कवि ने इन शब्दों में व्यंग्य किया है—

> छिनी सजी साजी वह दिल्ली, अरी बहादुर शाह जफर की,
> और छिनी गद्दी लखनऊ की, वाजिद अली शाह अख्तर की।
> अरी हया कर है जईफ यह खड़ा कुतुबमीनार,
> इबरत की मां जामा भी है यही अरी! हुशियार।
> इन्हें देखकर भी तो दिल्ली आँखें हाय! फिरा ले,
> गौरव के गुरु रो न पड़े हा! घूंघट जरा गिरा ले।[2]

---

१ हुंकार, पृ० ५१।
२ वही, पृ० ५३।

कवि ने क्रमशः सभी उन मुगल सम्राटों का स्मरण किया है जो कभी दिल्ली के उदार बादशाह थे। जिस दिल्ली के घर-घर में कला और वैभव इन्द्रपुरी के समान बरसता था उसे वर्तमान दिल्ली की चमचमाती बिजली तनिक भी सम्मोहित नहीं कर पाती। खण्डहरों और यमुना की लहरों में प्राचीन स्नेह-दीप की शिखाएँ आज भी उसे मोह रही हैं। दिल्ली का अतीत नीचे के उद्‌गारों में तिल-तिल कर जलता हुआ सा लगता है—

उठा कसक दिल में लहराता, है यमुना का पानी,
पलकें जोग रही बीते वैभव की एक निशानी।
दिल्ली तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा,
बाट जोहती खण्डहर में हम कंगालों की रानी।[१]

अतीत के द्वार पर

इस प्रकार कवि-हृदय, अतीत के प्रति. अगाध मोह लिये, उसका गौरवमय चित्रण करता हुआ, अतीत के प्रति बहुत अधिक स्नेह-सिक्त है। 'सामधेनी' में वह फिर अतीत के द्वार पर पहुँचता है। राष्ट्रीय जीवन में जागृति का मंत्र फूकने के लिए वह अतीत के द्वार पर खड़ा हो उसके वैभव को टेर रहा है—

बहुत बार भग्नावशेष पर अक्षत फूल बिखेर चुकी,
खण्डहर में आरती जलाकर रो रो तुम को टेर चुकी।
वर्तमान का आज निमंत्रण देह धरो आगे आओ,
ग्रहण करो आकार देवता, यह पूजा प्रसाद पाओ।[२]

उसकी कविता कुछ क्लान्त और श्रान्त हो रही है। आज भी अतीत के विजयी स्वर उसे पवन में झंकृत होते दीख रहे हैं। पाषाणों के हृदय पर लिखी हुई यशोगाथाएँ आज भी राष्ट्र को नया सन्देश दे रही हैं—

अंकित है इतिहास पत्थरों पर जिन के अभिमानों का,
चरण-चरण पर चिन्ह यहाँ मिलता जिन के बलिदानों का।
गुंजित जिनके नाद से हवा आज भी बोल रही,
जिनके पदाघात से कम्पित धरा अभी तक डोल रही।[3]

खण्डहरों के उन वीर पुरुषों का स्मरण करते हुए वह अनुभव करता है कि उनकी विजय-पताकाएँ आज किस प्रकार धूलि-धूसरित हो रही हैं। उनका गौरव भू-लुण्ठित हो रहा है। आज का राष्ट्रीय जीवन बिखर गया है। संतप्त मानवता कराह रही है

---

१ हुंकार, पृ० ५५।
२ सामधेनी, पृ० ३४।
3 वही, पृ० ३५।

और फिर से भारत को गुरुपद पाने के लिए प्रेरित कर रही है। अतीत ही उसको ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है। भारतीय सीमाओं के उस पार दूर-दूर तक शान्ति का सन्देश देने वाले गौतम बुद्ध का स्मरण उसे हो आया है। संतप्त विश्व को बुद्ध जैसी वाणी ही शान्ति प्रदान करने का सामर्थ्य रखती है—

जग में भीषण अन्धकार है, जागो तिमिर नाशक जागो,
जागो मंत्रद्रष्टा जगती के गौरव गुरु शासक जागो।
गरिमा ज्ञान तेज तप कितने संबल हाय ! गये खोये,
साक्षी है इतिहास वीर तुम, कितना बल लेकर सोये।
जय हो खोलो द्वार अमृत दो हे जग के पहले दानी।
यह कोलाहल शमित करेगी किसी बुद्ध ही की बानी।

अतीत के द्वार पर कवि का राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ अधिक विशाल और उदात्त रूप में मुखरित हुआ है। वह यंत्र-युगीन मानव सभ्यता में हृदयहीनता का आरोपण करते हुए समस्त मानव जाति के हित साधनार्थ उत्कण्ठित है।

सिसकती मानवता

द्वितीय विश्वयुद्ध के कगार पर दिनकर का मानस मानवता के संहार से विक्षुब्ध हो उठा था। प्रथम युद्ध की विनाशकारी लीलाएँ उसके सामने नाच रही थीं और उससे भी कहीं पहले अतीत के पृष्ठों पर प्रवाहित शोणित की धारा उसे युद्ध से निवृत्ति की ओर घसीट रही थी। मगध साम्राज्य के शूरमाओं द्वारा खेले गये खून के फाग को अशोक ने अपने अश्रुओं से धोने का प्रयास किया। इतिहास के पृष्ठों में युद्ध के धरातल पर खड़ा हो सफलतापूर्वक साम्राज्य करने वाला महान् अशोक विश्व को प्रेम और शान्ति का नया आलोक दे गया। अशोक की तलवार मानवता के समक्ष लज्जित हो गयी। हिंसा पर अहिंसा की विजय हुई। अशोक के हृदय में मानव प्रेम के वे भाव जगे जिनमें विश्व बंधुत्व एवं विश्व परिवार की भावनाएँ गुंजित हो रही थीं।

'कलिंग विजय' महान् अशोक की नीति से प्रभावित हो लिखी गयी वह कविता है जिसमें कवि ने साम्राज्य विस्तार के उद्देश्य से किये जाने वाले युद्ध पर आँसू बहाये हैं। कवि स्वत्व रक्षा के लिए तो युद्ध का पक्षपाती है किन्तु उसके हृदय में जो उदात्त मानवता खेल रही है वह कभी भी साम्राज्य-विस्तार के उद्देश्य से किये जाने वाले युद्ध का प्रतिपादन नहीं करती। 'कलिंग विजय' का भावुक कवि 'कुरुक्षेत्र' में इसी समस्या को विचारों के धरातल पर सुलझाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। कवि के शब्दों में कलिंग विजय कुरुक्षेत्र की पूर्व-पीठिका है। एक ओर कलिंग के समरांगण में मानवता कराह रही थी और दूसरी ओर कुरुक्षेत्र में क्षात्र शक्ति अपने

स्वत्व को खोकर उत्पीड़ित हो रही थी। कलिंग विजय का जो जीता-जागता चित्र कवि ने खींचा है उसमें काव्य शक्ति का पूर्ण निखार दृष्टिगत होता है।

अतीत से अपार प्रेम करने वाला दिनकर स्वर्ण युग के महान अशोक की इस घटना को प्रकाश में लाये बिना कैसे रह सकता था ? एक ओर जहाँ कलिंग के समरांगण में विषाद बोल रहा है वहाँ सम्राट अशोक मानव अशोक से पूर्ण पराजित हो गया है। एक ओर जहाँ युद्ध का प्रलयकारी दृश्य है वहाँ दूसरी ओर मानवता की सुन्दर छटा शान्ति और प्रेम की प्रतिज्ञा लेकर नया मोड़ ले रही है।

युद्ध का परिणाम विनाश और सर्वनाश के रूप में मूक नर्तन करता है। युद्ध मानव पर पशुता की, हिंस्र भावनाओं की विजय है। रक्त से सनी हुई इस विजय को कोई भी सजग मानव हृदय से स्वीकार नहीं कर सकता—

युद्ध का परिणाम
युद्ध का परिणाम ह्रास त्रास,
युद्ध का परिणाम सत्यानाश,
रुण्ड मुण्ड लुंठन निर्हिसन मीच,
युद्ध का परिणाम लोहित कीच।[1]

प्रभु की इस सुन्दर सृष्टि में युद्ध एक कलंक है। निर्बल और बलवान दोनों ही उसी एक प्रभु की सन्तान हैं पर बलवान का निर्बल को दबोचना पशुता है। मानव ईश्वर का अमर पुत्र है। सबको आपस में प्रेम से रहना चाहिए। परन्तु शासक के नाम से मानव अपनी सीमा का उल्लंघन कर मनुज के अधिकार छीनता फिरता है और अशांति को जन्म देता है। शासक का कार्य व्यवस्था करना होना चाहिए, पर—

हाय रे धन लुब्ध जीव कठोर,
हाय रे दारुण मुकुट धर ! भूप ! लोलुप, चोर।
खड्गबल का ले मृषा आधार।
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।[2]

भारत में सदैव मानवता के उच्च आदर्श को प्रमुखता दी गयी है। वे आदर्श जो मनुष्य को पशुता से उठा मानव बनने की ओर प्रेरित करते हैं। सच्ची विजय शारीरिक नहीं, मानसिक होती है। शासक का कार्य सभी के मनों पर राज्य करने का है। तलवार के बल पर पायी हुई विजय व्यर्थ है। यह भाव अशोक के मन में तब उदित हुए जब उसने युद्ध के बाद लाखों व्यक्तियों की चीख-पुकार व आर्तनाद को सुना। उसका सोया हुआ मानव जाग उठा और उसने विश्व में महान् अशोक की

---

१ सामधेनी, पृ० ४१।
२ वही, पृ० ४५।

पदवी प्राप्त की। भारतीय संस्कृति के प्रेमी दिनकर, अशोक के आदर्श शासन को नहीं भूल सके।

विश्व में शान्ति और प्रेम का सन्देश देने वाला भारत अपने क्रोड़ में इस तरह के करोड़ों रत्न छिपाये हुए है। विश्व में कभी शान्ति और प्रेम का राज्य होगा तो उसे भारतीय आदर्शों से ही प्रेरणा ग्रहण करनी होगी। भारतीय संस्कृति के आदि स्रोत वेद के मंत्र 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षे' की विशाल दृष्टि के साथ दिनकर ने कविता का अन्त किया हैं। अशोक कहता है—

> शत्रु हो कोई नहीं हो आत्मवत् संसार,
> पुत्र सा पशु पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।
> हो नहीं मुझ को किसी पर रोष,
> धर्म का गूँजे जगत् में घोष।[1]

इस तरह अब तक उसका काव्य निर्झर कभी अतीव गौरव की अठखेलियाँ मारता, कभी स्वाभिमान से छलकता, कभी राष्ट्र के पतनोन्मुख जीवन पर अश्रु बहाता, भावुकता की उपत्यकाओं में वह रहा था किन्तु आगे चलकर उसका भावुक हृदय गम्भीर चिन्तन को लेकर महानद के रूप में मस्तिष्क की समभूमि पर उतर आया है। उसका काव्य एक नई दिशा की ओर अग्रसर होता हुआ स्पष्ट झलकता है। युग की विचारधारा को नया मोड़ देने के उद्देश्य से उसका अतीत चिन्तन भी निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। आगे उसका अतीत चिन्तन एक नवीनता को लिये हुए है। अब तक वह भावुक हृदय से गा रहा था। आगे वह गम्भीर चिन्तक बन अतीत के आलोक में विचरण कर रहा है।

---

१ सामधेनी, पृ० ५०।

(ख)

समस्या और समाधान

भावुकता से चिन्तन की ओर

वर्तमान के धरातल पर 'रेणुका' में अतीत के रेणुस्फुलिंग छिटकते हैं और अतीत के धरातल पर 'हुंकार' वर्तमान में गुंजित होती है। काल का यह विभाजन 'रेणुका' और 'हुंकार' में अति स्पष्ट है। परन्तु वर्तमान की प्रमुख समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से 'कुरुक्षेत्र' का दिनकर अतीत में कुछ ऐसा उलझ गया है कि उसमें अतीत और वर्तमान के मध्य विभाजित रेखा खींचने का कार्य अति दुष्कर है। वास्तव में कुरुक्षेत्र में राष्ट्र की चिरन्तन समस्या, युद्धदर्शन, का राष्ट्रीय हित के धरातल पर सुन्दर विश्लेषण है, जिसे किसी काल विशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। 'रेणुका' और 'हुंकार' में कवि क्रमशः अतीत एवं वर्तमान की पृष्ठभूमि पर खड़ा है। उसका ऐतिहासिक स्वरूप कुरुक्षेत्र में आकर एक गम्भीर चिन्तक के रूप में परिवर्तित हो गया है। उसका ऐतिहासिक धरातल अतीत की सांस्कृतिक किन्तु यथार्थ की सुदृढ़ पृष्ठभूमि बन चुका है। स्पष्ट रूप से कुरुक्षेत्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सांस्कृतिक कलेवर को लेकर वर्तमान की प्रमुख समस्या को अतीत के चिन्तन से सुलझाने का सुन्दर प्रयास 'कुरुक्षेत्र' में किया गया है।

विश्व का ऐतिहासिक महानतम युद्ध कुरुक्षेत्र के जिस विशाल प्रांगण में रचा गया था वह तत्कालीन अन्याय और अधर्म की स्वाभाविक प्रतिक्रिया मात्र थी। युद्ध की कृत्रिम स्थिति को टाला जा सकता है पर युद्ध जब एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में फूट पड़ता है तो उसे नहीं रोका जा सकता, उसे रोकने के प्रयत्न भी न्यायोचित नहीं कहे जा सकते। ऐसा युद्ध अपने आप ही धर्म-युद्ध की परिभाषा बनकर रह जाता है। द्वापर में खेला गया यह युद्ध, सदियों से चले आ रहे पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय के गम्भीर मतभेदों के अन्तिम निर्णय पर पहुँचने के उद्देश्य से खेला गया जान पड़ता है। तभी तो उस युद्ध पर उस युग के महान पुरुष कृष्ण ने अपनी स्वीकृति के रूप में गीता की मोहर लगायी। भीष्म ने युद्धोपरान्त सशक्त अमर शब्दों में इस युद्ध का अनुमोदन किया। शर-शैया पर मृत्यु की प्रतीक्षा में वृद्ध पितामह ने युद्ध का अन्तिम परिणाम गम्भीरता से देखा और विजयी युधिष्ठिर के अश्रुओं को पोंछते हुए इस महासमर के औचित्य का अनुमोदन कर चिरन्तन सत्य का उपदेश दिया। अतीत की उसी ध्वनि में वर्तमान की समस्या

को सुलझाने का एक महान प्रयास दिनकर ने ओजस्वी प्रवाह में अपनी सशक्त लेखनी से किया है। कल तक खण्डहरों में भटकने वाला भावुक हृदय कुरुक्षेत्र के समरांगण में आते-आते बुद्धि प्रधान गम्भीर चिन्तक बन गया है। 'कुरुक्षेत्र' का जहाँ कलेवर ऐतिहासिक है वहाँ वर्तमान उसका प्राण है, और जहाँ वैचारिक धरातल पर उसका कलेवर वर्तमान है वहाँ प्राण अतीत के हैं। काल के इसी मापदण्ड पर हम 'कुरुक्षेत्र' के कुछ अतीत के खण्ड पर विचार कर सकते हैं।

युद्धजन्य निर्वेद

'कुरुक्षेत्र' किसी विशेष संकल्प से प्रेरित हो लिखा गया महाकाव्य नहीं है, बल्कि अपनी सामयिक परिस्थिति का जो स्वाभाविक अन्तर्द्वन्द्व कवि-हृदय में छिड़ा हुआ था, 'कलिंग विजय' और 'कुरुक्षेत्र' उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया के दो सुन्दर रूप हैं। आधुनिक युग के द्वितीय विश्वयुद्ध ने निश्चित रूप से इन दोनों ही रचनाओं में विरोधात्मक प्रेरणाएँ दी हैं। कलिंग के युद्ध से जो निर्वेद महान अशोक के मन में जगा था, 'कुरुक्षेत्र' में वैसा ही निर्वेदग्रस्त युधिष्ठिर भीष्म के सम्मुख उपस्थित हुआ है। 'कलिंग विजय' की तरह 'कुरुक्षेत्र' का आधार भी अतीत ही है। 'कुरुक्षेत्र' की सृष्टि में अनायास ही उनकी दृष्टि इतिहास के उस पृष्ठ पर जा टिकी है जहाँ विजय-गर्व में हर्ष के स्थान पर विषाद बोल रहा है। युधिष्ठिर का पश्चाताप 'कुरुक्षेत्र' की पृष्ठभूमि है। कवि के शब्दों में उसका अभिव्यंजनात्मक वर्णन तथा उसका प्रश्नात्मक स्वर किस प्रकार प्रभावोत्पादक बन गया है—

> वह कौन रोता है वहाँ, इतिहास के अध्याय पर।
> जिसमें लिखा है नौजवानों के लहू का मोल है।[1]

युद्ध परिस्थितिजन्य प्रतिक्रिया है। युद्धोपरान्त भी सत्य की मनस्तुष्टि नहीं हो पाती। युधिष्ठिर के इन शब्दों में युद्ध की निरर्थकता स्पष्ट झलकती है—

> लड़ना उसे पड़ता मगर औ जीतने की बाद भी।
> रण भूमि में वह देखता है सत्य को रोता हुआ।
> वह सत्य है जो रो रहा इतिहास के अध्याय में॥[2]

यहाँ युधिष्ठिर के मन में निर्वेद के सहज दर्शन होते हैं। परन्तु साथ ही उधर भीम और अर्जुन के हृदय में प्रतिशोध की जो ज्वाला उभरी थी उसकी तुष्टि की ओर संकेत करते हुए तथा द्रोपदी के अपमान का प्रतिशोध, उसके पाँच पुत्रों की निर्मम हत्या की शोकाग्नि का वर्णन कर कवि ने युद्धजनित प्रतिक्रिया के दो भाव प्रस्तुत किये हैं। एक भाव तो वह है जो कलिंग विजय के उपरान्त अशोक के भी मन में

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० १।
[2] वही, पृ० ३।

उठा था और प्रायः अनेक युद्धों के उपसंहार पर विजेताओं के हृदय को उद्वेलित किया करता है। महाभारत युद्ध के उपसंहार पर युधिष्ठिर इन्हीं भावों का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरा भाव है विजय-गर्व व आत्मतुष्टि का जिसका प्रतिनिधित्व 'कुरुक्षेत्र' में, दुःशासन के शोणित से अपनी केशराशि को प्रक्षालित कर पूर्ण प्रतिशोध लेनेवाली द्रोपदी तथा भीम व अर्जुन कर रहे हैं—

पीकर लहू जब आदमी के वक्ष का।
वज्रांग पाण्डव भीम का मन हो चुका परिशान्त था।
और जब व्रतमुक्त केशी द्रोपदी, रक्त वेणी कर चुकी थी केश को।
केश जो तेरह वर्ष से थे खुले।[1]

'कुरुक्षेत्र' का युधिष्ठिर गीता का अर्जुन है। अन्तर इतना ही है कि अर्जुन का निर्वेद भविष्य पर आधारित था और युधिष्ठिर का निर्वेद अतीत पर आधारित है—

यह महाभारत वृथा निष्फल हुआ।
उफ! कितना गरलमय व्यंग है।
पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से।
हो गया संहार पूरे देश का।
रक्त से सने इस राज्य को वत्र हो कैसे सकूँगा भोग मैं।[2]

जब दिनकर अतीत को वर्तमान में न ला सके तब उसका वर्तमान ही अतीत की ओर बढ़ने लगा। युधिष्ठिर को जब कोई सान्त्वना न दे सका तो वह अपने मनस्ताप का निवारण करने के उद्देश्य से भीष्म के पास जा रहे हैं। इस रुदन के साथ-साथ कवि की भावना एक समस्या का रूप धारण कर रही है। इस प्रकार राष्ट्रीय भावनाओं के आधार पर राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझाने का सुन्दर प्रयास 'कुरुक्षेत्र' की अपनी विशेषता है। ऐसा प्रतीत होता है युधिष्ठिर वर्तमान का प्रतीक है और वह अतीत के प्रतीक भीष्म के पास ठीक उसी प्रकार जा रहा है जिस प्रकार दिनकर अपने प्रश्नों का उत्तर इतिहास से प्राप्त करना चहता है। युधिष्ठिर का संतप्त हृदय से पितामह के पास जाने का वर्णन कवि ने बहुत परिमार्जित ढंग से किया है—

भर गया ऐसा हृदय दुख दर्द से, फेन या बुदबुद नहीं उठा।
खींचकर उच्छ्वास बोले सिर्फ वे, पार्थ मैं जाता पितामह पास हूँ॥[3]

'कुरुक्षेत्र' का युधिष्ठिर मात्र निर्वेद का प्रतीक नहीं है। वह सदा से युद्ध के उपसंहार

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० ४।
२ वही, पृ० ८।
3 वही, पृ० ६।

पर अश्रु बहानेवाला प्रतिनिधि मात्र नहीं है, युद्ध के कारण व परिणामों के प्रश्नकर्ता के रूप में मात्र वह जिज्ञासु नहीं है, अपितु वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष तथा महाभारत युद्ध का प्रणेता व सुयोधन का भाई भी है। साथ ही विलखती उत्तरा का पति वियोग उसे क्लांत किये हुए है। वह न केवल अपने निर्वेद के औचित्य को समझने आया है अपितु वह आत्मीय जनों के वियोग से प्रदीप्त उद्वेग के लिए सान्त्वना भी प्राप्त करना चाहता है। पश्चाताप के जो अन्तिम अश्रु युधिष्ठिर ने बहाये हैं वह सुयोधन पर नहीं किन्तु अपने प्रिय भतीजे अभिमन्यु पर हैं जिसकी मृत्यु का समस्त दायित्व वह पूर्ण रूप से अपने ही ऊपर लेता रहा है—

> और सोते जागते मैं चौंक उठता हूँ मानो।
> शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का।[1]

महाभारत का कथानक वास्तव में अभिमन्यु की वीरता के बिना अधूरा सा प्रतीत होता है, क्योंकि अभिमन्यु-वध की घटना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जहाँ उसका वध युद्धाग्नि में घृत का काम करता है वहाँ अभिमन्यु का साहस नवयुवकों को वीरता और साहस की अद्भुत प्रेरणा प्रदान करता है। अतः पश्चाताप के अन्तिम उद्‌गारों से युधिष्ठिर के मुख से अभिमन्यु का स्मरण कवि की अपनी भावनाओं का द्योतक है।

युद्ध की अनिवार्यता

कवि का उद्देश्य युद्ध की चिरन्तन समस्या का समाधान खोजना है और कुरुक्षेत्र का युद्ध इस अन्वेषण में उसका सहायक है। अतः वह इस समस्या को कुरुक्षेत्र के धरातल पर ले जाता है—

> किन्तु मत समझो कि इस कुरुक्षेत्र में,
> पाँच के सुख ही सदैव प्रधान थे।
> युद्ध में मारे हुओं के सामने,
> पाँच के सुख दुख नहीं,
> उद्देश्य केवल मात्र थे।[2]

पाँच शब्द के प्रयोग से जहाँ एक ओर वह कथानक की ओर इंगित कर रहा है वहाँ युद्ध की चिरन्तन समस्या के समाधान की ओर भी पूर्ण सजग है। इसी पृष्ठभूमि पर भीष्म ने युधिष्ठिर की शंका का समाधान किया है कि युद्ध क्यों होता है? पाण्डवों को महाभारत-युद्ध का कारण माना है। ये परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से युद्ध का कारण बनीं। युद्ध के अतिरिक्त कोई ऐसा मार्ग ही न था जिससे उस अन्याय और अधर्म का प्रतिकार हो पाता—

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० १४।
[2] वही, पृ० १८।

पाण्डवों के भिक्षु होने से कभी,
रुक न सकता था सहज विस्फोट यह।
ध्वंस से शिर मारने को थे तुले,
ग्रह उपग्रह क्रुद्ध चारों ओर के।[1]

इन पंक्तियों द्वारा राष्ट्रीय हित में युद्ध की अनिवार्यता पर कवि ने अपना सहज अनुमोदन किया है। दुर्योधन के दरवार में जब द्रोपदी का चीर-हरण किया गया तब युधिष्ठिर नपुंसक की भाँति उसे देखता रहा। द्रोपदी का यह अपमान समस्त राष्ट्र या उस समुदाय का अपमान था जिसकी भावनाएँ पूर्ण रूप से पाण्डवों का समर्थन करती थीं। एक ओर युधिष्ठिर आँख मूदकर इस लज्जाजनक अपमान को सह रहा था, दूसरी ओर भीम की आँखों में प्रतिशोध की ज्वाला सुलग रही थी। पाप और पुण्य के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कथानक का यह द्विपक्षीय रूप स्पष्ट रूप से अपने उद्देश्य को प्रकट करता है—

क्लीव सा देखा किया लज्जा हरण निज नारि का।
और
और तूने कुछ नहीं उपचार था उस दिन किया।
सो बता क्या पुण्य था? या पुण्य में यथा क्रोध वह।
जल उठा था आग सा जो लोचनों में भीम के?[2]

युद्ध के तत्कालीन कारणों पर प्रकाश डालते हुए जिस क्षात्र धर्म का अनुमोदन कवि ने भीष्म के मुख से कराया है उसके पीछे कवि की उत्कृष्ट राष्ट्रीयता ध्वनित हो रही है। वही राष्ट्र व जाति विश्व में चिरस्थायी रह सकती है जिसमें वीरता कूट-कूट कर भरी हो। दिनकर की राष्ट्रीय भावना का आधार वीरता का वह भाव है जो शेर की तरह दहाड़ता और नाग की तरह फुफकारता आगे बढ़ता है। जो युद्ध राज्य-लिप्सा से लड़े जाते हैं वे अवश्य त्याज्य हैं, पर अन्याय के प्रतिशोध के लिए किया गया युद्ध धर्म-युद्ध कहलाता है—

जानता हूँ किन्तु जीने के लिए,
चाहिए अंगार जैसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।[3]

ध्वंस को युद्ध का अन्तिम परिणाम मानकर भी तूफान से युद्ध की तुलना करते हुए

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० २२।
[2] वही, पृ० २३।
[3] वही, पृ० १०।

भीष्म के स्वर में कवि की भावनाएँ तूफान-सी उमड़ पड़ी हैं। तूफान के इस वर्णन के एक-एक शब्द में प्राण हैं और उसकी भावनाएँ राष्ट्र को एक प्रेरणा देती हुई सी प्रतीत होती हैं कि किस प्रकार अशक्त तूफानों में विनष्ट हो जाते हैं किन्तु शक्तिशाली तूफान में भी अभिमान से सीना ताने खड़े ही रहते हैं—

औ' युधिष्ठिर से कहा, तूफान है देखा कभी ?
किस तरह आता प्रलय का नाद वह करता हुआ।
काल सा वन में द्रुमों को तोड़ता झकझोरता।
× × ×
पर शिराएँ जिस महीरूह की अतल में है गड़ी।
वह नहीं भयभीत होता क्रूर झंझावात से।[1]

युद्ध को एक आवेगमय विस्फोट की संज्ञा देकर, युद्ध की अनिवार्यता पर वल देते हुए इसका समस्त दायित्व उन स्वार्थियों पर डाला गया है जो निज स्वार्थ के लिए राष्ट्र का शोषण करते हैं। स्वार्थियों के विनाश तथा स्वत्व की रक्षा के लिए, युद्ध करना ही पड़े तो क्षत्रियों का यही धर्म है कि वे युद्ध करें और उस अन्याय का प्रतिशोध लें जिससे राष्ट्र को महान क्षति होने की सम्भावना रहती है—

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो मगर,
जब तलक उठ रही चिनगारियाँ।
भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।[2]

शर-शय्या पर लेटे हुए, अपनी अन्तिम घड़ी में, भीष्म की आँखों के सामने युद्ध की समस्त पृष्ठभूमि चलचित्र के समान घूमने लगी। उसी घटना-चक्र का उन्होंने युधिष्ठिर को स्मरण कराया और उन्हें सान्त्वना देने का पूरा-पूरा प्रयास किया। भीष्म के शब्दों में कुरुक्षेत्र का युद्ध दो घरों का युद्ध नहीं था अपितु सम्पूर्ण भारत में ऐसी परिस्थितियाँ जन्म ले चुकी थीं और वह आधार खोज रही थीं एक-दूसरे से प्रतिशोध लेने का। सारा भारत दो दलों में विभक्त होता जा रहा था। दैवी तथा आसुरी शक्तियाँ इस क्षण की बाट जो रही थीं—

महाभारत नहीं था द्वन्द्व केवल दो घरों का,
अनल का पुंज था इसमें भरा अगणित नरों का।
न केवल यह कुफल कुरुवंश के संघर्ष का था,
विकट विस्फोट यह सम्पूर्ण भारतवर्ष का था।[3]

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० १६।
२ वही, पृ० २१।
३ वही, पृ० ४६।

विनु भय होय न प्रीति

यहाँ पर परम क्षात्र-अनुरागी मर्यादा पुरुषोत्तम राम की उस घटना की ओर भी दिनकर ने इंगित किया है जबकि वन में ऋषि-मुनियों की अस्थियों के ढेर को देख राम ने भुजा उठाकर, दैत्यों के संहार की प्रतिज्ञा की थी। दिनकर ऐसी अतीत की घटनाओं के वर्णन का लोभ सँवरण करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। उनकी तेजस्विता केवल भीष्म के क्षत्रियोचित उपदेश से ही पूर्ण नहीं होती, अपितु वे रामायण के उस ओजपूर्ण धरातल पर पहुँच जाते हैं जहाँ पुरुषोत्तम राम का परम क्षात्रतेज पूर्णरूपेण प्रतिभासित हो रहा है। महाकवि तुलसी के 'विनु भय होय न प्रीति' के भावों को कवि ने एक नया ओज प्रदान किया है। समुद्र की ढिठाई देखकर जव राम ने उसे क्षत्रियोचित चेतावनी दी तभी समुद्र का वह उफनता हुआ रूप शान्ति और विनय में किस प्रकार परिवर्तित हो गया, दिनकर के शब्दों में—

> तीन दिवस तक पंथ माँगते रघुपति सिंधु किनारे,
> बैठे पढ़ते रहे छन्द अनुनय के प्यारे प्यारे।
> उत्तर में एक नाद भी उठा नहीं सागर से,
> उठी अधीर धधक पौरुष की आग राम के शर से।
> सिंधु देह धर त्राहि त्राहि करता आ गिरा शरण में।[1]

राष्ट्र की समस्त समस्याएँ शक्ति-पूजन के साथ सुलझती हैं। शक्ति के अभाव में मानवता के सद्गुण क्षीणता के प्रतीक मात्र वन कर रह जाते हैं। पाण्डवों की सहनशीलता और क्षमा-दया को दुष्ट दुर्योधन ने उनकी कायरता समझा, ठीक उसी प्रकार जिस तरह भारत की सहनशीलता और शान्तिप्रियता को माओ और अयूब कायरता समझ रहे थे। परन्तु शक्ति और क्षमता के साथ ही इन गुणों का विश्व अर्चन करता है। इसलिए राष्ट्र का शक्तिसम्पन्न होना उसकी एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसी तथ्य को समझाते हुए पितामह भीष्म के ये भाव आज भी हमें एक सन्तुलित किन्तु वीरोचित प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं—

> क्षमाशील हो रिपु समक्ष तुम हुए विनत जितना ही,
> दुष्ट कौरवों ने तुमको कायर समझा उतना ही।
> सहन शीलता, क्षमा दया को तभी पूजता जग है,
> बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।[2]

निर्बलता तथा अन्याय को सहने की प्रवृत्ति राष्ट्र को नपुंसक बना देती है। उन्हीं की विवशता, अन्याय और अत्याचार के समक्ष घुटने टेकती है जिनमें पौरुष का

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० ३५।
२ वही, पृ० ३४।

सर्वथा अभाव होता है। प्रतिशोध की पूर्ण क्षमता ही शूर वीरों का एकमात्र शृंगार है। भीष्म का यह उद्बोधन वर्तमान की हमारी रीतिनीति के लिए अतीत का सुन्दर प्रेरणा-स्रोत है। भारतीय शासकों को आज की जटिल समस्याओं में वह एक नई दिशा प्रदान कर सकता है। हमारी शान्तिप्रियता का उद्घोष विश्व के अन्तरतम से तभी अर्चित होगा जवकि राष्ट्र पूर्ण शक्तिशाली और प्रतिशोधात्मक सामर्थ्य को अंगीकार करेगा—

सहता प्रहार कोई विवश कदर्य जीव,
जिसकी नसों में नहीं पौरुष की धार है,
करुणा क्षमा हैं क्लीव जाति के कलंक घोर,
क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिंगार है।[1]

जव अन्याय और अनीति से घायल होकर, शूरता पूर्ण शक्ति के साथ, वन केसरी के समान गर्जन करती हुई प्रतिशोध लेती है तभी वह युद्ध धर्म-यूद्ध का रूप धारण कर लेता है। राष्ट्र का पुण्योदय भी तभी होता है और वास्तविक शान्ति के फूल भी तभी खिल सकते हैं—

चोट खा परन्तु जब सिंह उठता है जाग,
उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है।
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में,
तब पौरुष की जागृति कहाती धर्म युद्ध है।[2]

जब कुछ भी ले-देकर दुर्योधन का पाप शान्त न हो सका, हर तरह के शान्ति-प्रयत्न जव असफल हो गये उस समय विवश होकर पाण्डवों की मूक शक्ति, गाण्डीव की टंकार में वरबस बोल पड़ी। जिस अन्याय, अत्याचार और अनीति पर दुर्योधन का शान्ति भवन खड़ा था उसे हम वास्तविक शान्ति कैसे कह सकते थे? उस समय अर्जुन का वीरोचित प्रतिशोध औचित्यपूर्ण ही कहा जायेगा। मरण शय्या पर पड़े हुए भीष्म के ये उद्गार कितने भावपूर्ण हैं—

थी परश्व ग्रासिनी भुजंगिनी वह जो जली समर में,
असहनशील शौर्य था जो, बल उठा पार्थ के शर में।[3]

मृत्युञ्जयी भीष्म

दिनकर ने मात्र युद्धजनित समस्याओं को सुलझाने का ही प्रयत्न 'कुरुक्षेत्र' में नहीं किया है अपितु वह अतीत के उस महायुद्ध का रूपक साथ-साथ लेकर आगे

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० ३८।
[2] वही, पृ० ३९।
[3] वही, पृ० ४६।

बढ़ता है, जो रूपक वीरों को एक सशक्त प्रेरणा देता है। भीष्म केवल युधिष्ठिर के निर्वेद का परिहर्ता नहीं है बल्कि वह एक महान् वीर और पराक्रमी योद्धा है। वह शरशय्या पर पड़ा है, मृत्यु पल-पल उसे ले जाने के लिए आतुर है परन्तु इन समस्त भयों से दूर वह युधिष्ठिर को सान्त्वना दे रहा है। साथ ही साथ वह वीरोचित भाव भी उसमें अठखेलियाँ कर रहा है जो किसी भी राष्ट्र के सैनिकों के मन में न्याय और धर्म के प्रति न केवल स्नेह भाव जगाते हैं अपितु हँस-हँसकर, राष्ट्र रक्षा के लिए मृत्यु का स्वागत करने की प्रेरणा देते हैं। उसमें ब्रह्मतेज एवं क्षात्रतेज एक साथ बोल रहा है। इन पंक्तियों द्वारा दिनकर ने अपनी उसी स्वाभाविकी परम्परा को सुरक्षित रखा है जो हर रूप में राष्ट्रीयता को उभारती है तथा क्षात्रशक्ति को नई स्फूर्ति व चेतना प्रदान करती है। इन शब्दों में न केवल भीष्म का सजीव चित्र बोल रहा है बल्कि सैनिकों में अमरत्व का भाव जगाने वाला कवि का मूक भाव भी साकार हो उठा है—

आयी हुई मृत्यु से कहा अजेय भीष्म ने कि,
योग नहीं जाने का अभी है इसे जानकर।
रुकी रहो पास कहीं और स्वयं लेट गये,
बाणों का ही शयन बाण का ही उपधान कर।
और पंथ जोहती विनीत कहीं आस पास,
हाथ जोड़ मृत्यु रही खड़ी शास्ति मानकर।[1]

स्वभावतः अतीत के नर पुंगवों के प्रति मोह में आबद्ध दिनकर भीष्म के ओजस्वी चरित्र को अपनी ओजस्विनी लेखनी से साकार किये बिना कुरुक्षेत्र की काव्य साधना कैसे पूर्ण कर सकता था ? कुरुक्षेत्र की विचारधारा राष्ट्रीय जीवन को जितना झंकृत कर सकती है उतनी ही भीष्म के उज्जवल चरित्र की गाथा भी। इस तरह कुरुक्षेत्र का ओज वाणी में ही नहीं, भीष्म के जीवन में भी साकार है। राष्ट्र को इसी प्रेरणा द्वारा उद्‌बुद्ध करने के उद्देश्य से कवि के स्वर में भीष्म का यह विराट् स्वरूप युवकों को नई शक्ति तथा राष्ट्र के चरित्र को नव स्फूर्ति देने में सर्वथा सक्षम है—

ब्रह्मचर्य के व्रती, धर्म के महास्तंभ, बल के आगार।

× × ×

किया विसर्जित मुकुट धर्महित और स्नेह के कारण प्राण।
पुरुष विक्रमी कौन दूसरा हुआ जगत् में भीष्म समान् ?[2]

मृत्यु शैया पर पड़े हुए उनके विराट् स्वरूप का दर्शन इन पंक्तियों में साकार हो उठा है—

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० १०।
[2] वही, पृ० ४७।

शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज जैसे,
थके टूटे गरुड़ से त्रस्त पन्नग राज जैसे।
मरण पर वीर जीवन का अगम बल मार डाले
दबाये काल को सायास संज्ञा को सँभाले।[1]

बोलता शौर्य

राष्ट्रीय हितों का बलिदान कर, कायरतापूर्ण निर्वेद की तीव्र भर्त्सना करते हुए राष्ट्र को परम तेजस्वी पुरुष वीर भीष्म के हृदय से जो स्वर फूटे हैं वे युद्धक्षेत्र में आहत होने वाले प्रत्येक वीर को नई स्फूर्ति व तेज प्रदान करते हैं—

कायरों सी बात कर मुझ को जला मत,
आज तक है रहा आदर्श मेरा वीरता बलिदान ही,
जाति मंदिर में जलाकर शूरता की आरती,
जा रहा हूँ विश्व से चढ़ युद्ध के ही यान पर।[2]

वीरता और बलिदान ही राष्ट्र के सच्चे आदर्श हैं। अपने नश्वर शरीर को भौतिक अग्नि की ज्वालाओं में दग्ध कराने से पूर्व ही युधिष्ठिर को अपने शूरोचित कर्तव्य का पूर्ण परिपालन करने के लिए जो उपदेश दिया है वह दिनकर के शब्दों में अजर अमर हो चुका है। उसकी वाणी स्वयं शूरता की प्रतीक बन गयी है। धधकती भावाग्नि से शूरता के जो स्फुलिंग प्रस्फुटित हुए हैं वे युवकों को सदा एक नई प्रेरणा देते रहेंगे। शूर धर्म की व्याख्या करते हुए भीष्म कहते हैं—

शूर धर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना,
शूर धर्म है शोणित असि पर धर कर चरण मचलना।
शूर धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को,
शूर धर्म कहते हँसकर हालाहल पी जाने को।
आग हथेली पर सुलगा कर सिर का हविष चढ़ाना,
शूर धर्म है जग को अनुपम बलि का पाठ पढ़ाना।[3]

भीष्म का जीवन प्रदीप्त ज्वालाओं का पुंज था। उनकी नसों में रुधिर नहीं अंगार प्रवाहित होते थे। धर्म और न्याय के पथ पर चलने वाले महान् भारत को वह दुर्योधन के अन्याय और अधर्म के कण्टकाकीर्ण पथ पर ले जाने के पक्षपाती न थे। इसलिए उनकी शारीरिक शक्तियाँ जहाँ दुर्योधन के पक्ष में जूझ रही थीं वहाँ आत्मा की आवाज से निरन्तर प्रेरित हो वे हृदय से पाण्डवों की विजयकामना करते रहे।

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० ४७।
२ वही, पृ० २३।
३ वही, पृ० ६४।

अपनी मृत्यु के रहस्य को इसी उद्देश्य से उन्होंने अर्जुन के समक्ष स्वयं प्रकट किया। यही घटना उनकी महानता की कसौटी है। वे युद्ध क्षेत्र में आहत नहीं हुए बल्कि उन्होंने न्याय और धर्म को विजय मुकुट पहनाने के उद्देश्य से एक महान् आत्म बलिदान किया। जिस आत्म बलिदान पर ही पाण्डवों की विजय का गौरवपूर्ण प्रासाद खड़ा हो सका था।

एक ही तुला पर

कुरुक्षेत्र युद्ध की तथा महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' की सुन्दर सृष्टि का वास्तविक तथ्य अनायास इन पंक्तियों में स्पष्ट हो रहा है—

> धर्म स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था।
> अतः एक को देह दूसरे को दे दिया हृदय था।
> हृदय प्रेम को चढ़ा कर्म को भुजा समर्पित करके।
> मैं आया था कुरुक्षेत्र में तोष मनों में भरके।[1]

'कुरुक्षेत्र' की ये पंक्तियाँ भीष्म और कवि दिनकर के जीवन पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं। एक ओर भीष्म नमक तो अन्यायी अधर्मी शासकों का खाते थे परन्तु इसके विपरीत उनका हृदय धर्म और न्याय पर आधारित, पीड़ित पाण्डवों की ओर था।

द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका सर पर मँडरा रही थी। अंग्रेज शासकों का दमन-चक्र पूरे यौवन पर था। महाकवि दिनकर शासन चक्र के ही एक अंग थे। अत्याचारी शासकों के द्वारा ही उनकी आजीविका का निर्वाह होता था। स्थिति बिलकुल भीष्म की सी ही थी। नमक अंग्रेजों का खा रहे थे, परन्तु उनके हृदय के भाव शोषित जनता को शत-शत आशीष दे रहे थे किन्तु जब उन्हें युद्ध प्रचार विभाग में स्थानान्तरित किया गया तब उनका धर्म पराजित हो गया और दिनकर ने अवकाश ग्रहण कर 'कुरुक्षेत्र' की काव्य साधना की। 'कुरुक्षेत्र' स्नेह की विजय का महान् प्रतीक है जिससे अधर्म, अन्याय के प्रति, स्वत्व की रक्षा के लिए, युद्ध और क्रान्ति की परिपुष्टि हुई। स्नेह को सम्बल मिला। वैसा ही सम्बल जैसे भीष्म के द्वारा मृत्यु का रहस्य प्रकट किये जाने पर पाण्डवों को मिला था। नीचे की पंक्तियों में एक नई अभिव्यंजना झलकती है जिसका एक भाव भीष्म के पश्चाताप को प्रकट करता है और दूसरा भाव दिनकर के सन्तोष को—

> सच है, था चाहता पांडवों का हित मैं सन्मन से।
> पर दुर्योधन के हाथों में बिका हुआ था तन से।

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० ६२।

प्रकटी होती मधुरप्रेम की मुझ पर कहीं अमरता ।
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता ।[१]

ऊपर की पंक्तियों में पहला स्वर भीष्म का पश्चाताप प्रकट करता है और दूसरा स्वर कवि का 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य को रचकर सन्तुष्ट होने का। युद्ध की उन परिस्थितियों का निकट से अध्ययन करने का अवसर न मिलता तो स्यात् वे कुरुक्षेत्र की रचना न कर पाते ।

द्वापर के द्वार तक

राष्ट्रीय जीवन में कवि शान्ति की खोज कर रहा है। वह खोजता-खोजता अतीतकालीन द्वापर तक पहुँचता है पर वहाँ भी कुरुक्षेत्र की युद्ध ज्वालाएँ राष्ट्रीय जीवन में शान्ति भंग करती सी प्रतीत होती हैं। सदा से राष्ट्रों को समराग्नि में जूझना पड़ता है। इतिहास के अनेक पृष्ठ इन युद्धों से रँगे हुए हैं। द्वापर में भी शान्ति का अभाव पाकर कवि कहता है—

संतप्त विश्व के लिए खोजने छाया,
आशा में था इतिहास लोक तक आया ।
पर हाय ! यहाँ भी धधक रहा अम्बर है ।
उड़ रही पवन में दाहक लोल लहर है ।[२]

एक आलोचक के शब्दों में, "दिनकर का कुरुक्षेत्र वर्णन, चिन्तन और भाषा की दृष्टि से युद्धोत्तरकालीन विश्व साहित्य में सम्भवतः सर्वाधिक सशक्त एवं सप्राण युद्ध विषयक काव्य है। एक शब्द में कुरुक्षेत्र अतीत के कठोर और निश्चल कन्धे पर वर्तमान का डोलता हुआ विघूर्णित मस्तक है। एक ओर वह विचार काव्य है, दूसरी ओर उसकी पंक्ति-पंक्ति में एक ऐसे भावुक कवि का आन्तरिक रोदन फूट पड़ा है जिसके अश्रुओं में पत्थर को पिघला देने की क्षमता है और जिसकी वाणी में मुर्दों में भी पौरुष जगा देने वाला ओज है। उसका हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोला है लेकिन अपने सर पर अपनी सम्पूर्ण भावनाओं की पोटली रखकर।"[३]

राष्ट्रीयता के सामाजिक धरातल पर

पूर्ण राष्ट्रीयता का विकास व्यक्ति तथा समष्टि की राजनीतिक, सामाजिक स्वस्थता पर आधारित है। केवल क्षात्र तेज ही स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए एक ऐसे स्वस्थ और सुन्दर समाज की आवश्यकता है जहाँ प्रत्येक

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० ७५ ।
२ वही, पृ० ८३ ।
३ कामेश्वर शर्मा, दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि ।

व्यक्ति को प्रगति के वे समस्त साधन सुलभ हों जिससे कि वह स्वस्थ समाज का सभ्य नागरिक बन सके। इस प्रकार राष्ट्रीय भावनाओं में बन्धन रहित व्यक्तिगत विकास के विचार तथा सुसंस्कृत समाज निर्माण की भावनाएँ भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। दिनकर उन सर्वांगीण राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिनिधि है जो व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जागरण के दृष्टिकोण से सशक्त राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है। उसकी सुसंस्कृत समाज के निर्माण की राष्ट्रीय भावना महारथी कर्ण को लेकर आगे बढ़ी है। दिनकर की रश्मियों का यही रथी सामाजिक जागरण का संदेश लेकर उपस्थित हुआ है।

महाभारत कालीन सामाजिक भ्रान्तियाँ निरन्तर भारत भू पर पनपती रहीं। इन भ्रान्तियों का जो कुछ दुष्परिणाम हुआ वह युग के समक्ष स्वयं प्रस्तुत है। ऊँच-नीच, जात-पाँत, छूत-छात आदि ने भारतीय संगठित तथा सशक्त समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसके बिखरे हुए रूप को सँवारने का प्रयास, कबीर, तुलसी जैसे सन्त कवियों ने तथा स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने किया।

भारत की स्वतन्त्रता के बाद यही प्रश्न सभी के सामने विशेष महत्त्व को लेकर उपस्थित हुआ। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा सुन्दर, स्वस्थ, सशक्त समाज द्वारा ही सम्भव है। इसी महत्त्वपूर्ण समस्या को देश भर में प्राथमिकता प्रदान की गयी। जिस तरह राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'रामायण कालीन उपेक्षित पात्रों को अपनी लेखनी से उभारा है तदनुरूप ही महाभारत कालीन उपेक्षित पात्र भीष्म और कर्ण को आधुनिक राष्ट्रकवि दिनकर ने क्रमशः कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में तत्कालीन प्रतिनिधियों के रूप में उभारने का कार्य किया है।

दिनकर स्वभाव से ही ओज और तेज का पुजारी है, उसका पात्र भले ही किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ हो। भले ही वह किसी भी समस्या को लेकर खड़ा हो परन्तु दिनकर की लेखनी उसका स्तवन करती है जिसमें शूरता और साहस अठ-खेलियाँ करते हों। उसका समाज प्रगतिशील अवश्य है किन्तु वह भारतीय वर्ण-व्यवस्था को अंगीकृत करता है पर कर्म के आधार पर, जन्मजात नहीं। दिनकर कर्म का पुजारी है। गीता और उपनिषद् के कर्मवाद को दिनकर ने अतीत के आलोक में आलोकित किया है। 'कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहितः' ही उसका अमर उद्घोष है। दिनकर की सामाजिक व्यवस्था विशुद्ध भारतीय संस्कृति के पूर्ण अनुरूप है। ब्राह्मण और क्षत्रिय की परिभाषा दिनकर के शब्दों में—

क्षत्रिय वही भरी हो जिस में निर्भयता की आग।
सब से श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है हो जिस में तप त्याग।[1]

---

१ रश्मिरथी, पृ० २।

मनुष्य की कर्मनिष्ठा व्यक्ति को अपने सद्गुणों के आधार पर निश्चित रूप से महत्त्व पूर्ण स्थान दिलाने में किस प्रकार सफल होती है, दिनकर ने इस तथ्य को कितना सुन्दर रूप दे डाला है—

जलद पटल में छिपा किन्तु रवि कब तक रह सकता है ?
युग की अवहेलना शूरमा कब तक सह सकता है ?
पाकर समय एक दिन आखिर उठी जवानी जाग।
फूट पड़ी सब के समक्ष पौरुष की पहली आग ।[1]

जातीयता का जहर

जातीयता पर सशक्त प्रहार करते हुए दिनकर ने जन्म से जाति मानने के विचार की धज्जियाँ उड़ायी हैं। 'रश्मिरथी' का कथानक इसी प्रारम्भिक ओज को लेकर आगे बढ़ा है। स्वस्थ सशक्त समाज के नव-निर्माण के लिए आवश्यक है कि जातीयता के भूत को धकेलकर बाहर कर दिया जाय। जब कर्ण के शौर्य को सूत पुत्र कहकर तिरस्कृत करने का प्रयत्न किया गया तब कर्ण के उद्गार देखिए—

पूछो मेरी जाति शक्ति हो तो मेरे भुज बल से।
रवि समान दीपित ललाट से और कवच कुंडल से।
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझ में तेज प्रकाश।
मेरे रोम रोम में अंकित है मेरा इतिहास।[2]

सशक्त राष्ट्र पुरुष का यह स्वर जन-जन में शौर्य और साहस के अंकुर उपजाने का सामर्थ्य रखता है। कुल के गौरव पर आधारित जीवन कभी भी अर्चित नहीं हो सकता। कोई भी राष्ट्र केवल अतीत के गौरव पर प्रतिष्ठा का आधार नहीं पा सकता, उसके लिए उसे वर्तमान की कसौटी पर भी खरा उतरना होगा। ठीक यही विचार व्यक्ति के जीवन में चरितार्थ होते हैं। रावण की पाशविक वृत्तियों ने उसके ब्राह्मणत्व को स्वयं भस्मसात् कर दिया और वाल्मीकि कविकुल-शिरोमणि के रूप में आज भी विख्यात हैं। जीवन की स्वतः साधना मनुष्य के जीवन का वास्तविक मापदण्ड बन सकती है। कर्ण सूत पुत्र था परन्तु उसकी भुजाओं का शौर्य, जातीयता के झूठे दावों से छीना नहीं जा सकता था। यद्यपि दुर्योधन की निम्न भावना में उसका राजनीतिक स्वार्थ छिपा हुआ था किन्तु उसके इन शब्दों की यथार्थता को कदापि अस्वीकार नहीं किया जा सकता—

बड़े वंश से क्या होता है खोटे हों यदि काम।
नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है नहीं वंश धन धाम।[3]

---

[1] रश्मिरथी, पृ० ३।
[2] वही, पृ० ५।
[3] वही, पृ० ७।

जातिवाद का विष न केवल द्रोणाचार्य तक ही सीमित था बल्कि वह तत्कालीन परम तेजस्वी परशुराम जैसे महापुरुषों में भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। एकलव्य का अँगूठा कटवाकर द्रोणाचार्य ने जातीयता का जो जहर फैलाया वही भारतीय समाज को विषाक्त करने का कारण बना। परशुराम भी इस महारोग से बच न सके। इसलिए कर्ण को ब्राह्मण के वेश में शस्त्र विद्या को सीखने के उद्देश्य से प्रतापी परशुराम की सेवा में उपस्थित होना पड़ा। जातिवाद के दूषित धरातल पर फूट के जो बीज महाभारत काल में अंकुरित हो रहे थे उसी के परिणामस्वरूप भारत विदेशी शक्तियों से पादाक्रान्त हुआ। शतियों तक निरन्तर इसके गौरव को रौंदा गया। इसी दुर्दशा का अभिशप्त स्वर नीचे की पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है—

> धँस जाये वह देश अतल में, गुण की जहाँ नहीं पहचान।
> जाति गोत्र के बल से ही आदर पाते हैं जहाँ सुजान।[1]

भगवान कृष्ण महाभारत के युद्ध से पूर्व, कर्ण के पास पहुँच कर उसे दुर्योधन का साथ छोड़ पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता के रूप में राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। किन्तु कर्ण के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला पूरे वेग से धधक रही थी। सामाजिक अभिशाप के धधकते अंगारों में उसका जीवन तप-तप कर कुन्दन बन चुका था पर उसमें अपने उपकारी दुर्योधन के प्रति कृतज्ञता के भाव हैं। समय पड़ने पर वह दुर्योधन के लिए अपना रक्त बहाने को तैयार है। कुरुक्षेत्र के समरांगण में जो युद्ध की ज्वाला जली थी उस ज्वाला में जातिवाद का वह विष तथा दूषित समाज के तिरस्कार की भी भावना थी जिसने कर्ण के रूप में दुर्योधन को अपिरिमित शक्ति का सम्बल प्रदान किया। जिस शक्ति से मदान्ध होकर दुर्योधन ने पाण्डवों को पाँच गाँव देने से भी इनकार कर दिया, झूठी यशोलिप्सा से तथा समाज के तिरस्कार से अपने आपको सुरक्षित रख, मानवता का जो तिरस्कार माता कुन्ती ने किया था वही तिरस्कार विषवृक्ष बन राष्ट्र को विनाश के गर्त में धकेलने के लिए पर्याप्त था।

यह वही जातिवाद था और यह वही सामाजिक तिरस्कार की भावना थी जिसने भारतीय समाज में सदियों से पददलित, तिरस्कृत, अपमानित, शोषित, गर्हित व्यक्तियों को हिन्दू संस्कृति से निकालकर विदेशी सभ्यता के क्रोड़ में पटक दिया। प्रतिशोध की इसी ज्वाला को दुर्योधनरूपी ब्रिटिश साम्राज्य ने पुष्पित एवं पल्लवित किया। इसी प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति का परिणाम पाकिस्तान के विषवृक्ष के रूप में आज भी भारतीय संस्कृति को ललकार रहा है। उसमें न तो साम्राज्य विस्तार की भावना है, न उसमें वैभव और यश की महान् आकांक्षाएं हैं। उसकी इच्छा किसी न किसी बहाने भारतीय संस्कृति को पददलित कर प्रतिशोध लेना मात्र है।

---

[1] रश्मिरथी, पृ० १७।

उज्ज्वल चरित्र

कर्ण ने संस्कृति की परम्परा को अपने जीवन में पूरी तरह निभाया है। एक ओर वह दुर्योधन का साथ छोड़ने को तैयार भी नहीं है, दूसरी ओर वह पाण्डवों को अपने अधिकार से वंचित भी नहीं करना चाहता। कवि ने कर्ण के उज्ज्वल चरित्र को बहुत ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। अपने जन्म के रहस्य को प्रकट न करने की प्रार्थना जिस उद्देश्य से की है वे भाव कर्ण के उज्ज्वल चरित्र के द्योतक हैं—

साम्राज्य न कभी स्वयं लेंगे, सारी संपत्ति मुझे देंगे।
मैं भी न उसे रख पाऊँगा, दुर्योधन को दे जाऊँगा।
पांडव वंचित रह जायेंगे।
दुःख से न छूट वे पावेंगे।

समाज की शोषणवादी प्रवृत्ति को तथा लक्ष्मी का ढेर लगा समाज की आर्थिक शक्ति को पराधीन बना रखने वाले पूँजीपतियों को कर्ण दानवीरता का एक नया संदेश देता है—जिन हाथों से संग्रह करते हो उन्हीं हाथों से उसे समाज के लिए बिखेर दो। 'शतहस्तः समाहर सहस्रहस्तः संकिर' का वैदिक स्वर कर्ण के जीवन में साकार हो चुका था। आर्थिक शोषण से समाज को बचाने का उपाय साम्यवादी हिंसक क्रान्ति नहीं किन्तु दिनकर के स्वर में वह त्याग की भावना है जिस भावना को कर्ण ने अपने जीवन में प्रदीप्त किया था—

और सत्य ही कर्ण दान हित संचय करता था।
अर्पित कर बहु विभव निःस्व दीनों का घर भरता था।
गौ धरती गज वाजि अन्न धन वसन जहाँ जो पाया।
दानवीर ने हृदय खोलकर उसको वहीं लुटाया।
मेघ भले लौटे उदास हो किसी रोज सागर से।
याचक फिर सकते निराश पर नहीं कर्ण के घर से।[1]

जहाँ यह उदारता एवं दान की प्रवृत्ति पूँजीवादी समस्या का सुन्दर हल प्रस्तुत करती है वहाँ दान की यही भावना भारत को इस संकटकालीन परिस्थिति में भी ऐसी सुदृढ़ शक्ति प्रदान कर सकती है, जो शक्ति अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूर्ण करने के उद्देश्य से भटक रहे भारत को नया आत्म गौरव प्रदान करेगी। यदि आज त्याग की यह भावना देश में जाग उठे तो भारत राष्ट्र निश्चय ही विदेशी सहायता पर निर्भर न रहकर अपने पैरों पर स्वयं खड़ा होगा तथा युद्ध सम्बन्धी व्यय का भार, भार न रहेगा। दान और त्याग के ये स्वर वर्तमान शोषक समाज को एक ऐसा संदेश दे रहे हैं जिससे देश व समाज दरिद्रता के भीषण रोग से बच सकेगा तथा धनपतियों का गौरव इस विधि सर्वथा सुरक्षित रहेगा—

---

१ रश्मिरथी, पृ० ५६।

दान जगत का प्रकृत धर्म है मनुज व्यर्थ डरता है।
एक रोज तो हमें स्वयं सब कुछ देना पड़ता है।
बचते वही समय पर जो सर्वस्व दान करते हैं।
ऋतु का ज्ञान नहीं जिन को वे देकर भी मरते हैं।[1]

दान की यही प्रवृत्ति प्रत्येक क्षेत्र में आत्मत्याग की भावना को भरने में परम सहायक होती है। जहाँ धनपति धन लुटाता है वहाँ समरांगण में सैनिक को रक्त बहाना होता है, तीसरी ओर श्रमिक अपना स्वेद बहाता है। इन समस्त सामाजिक इकाइयों में आत्मत्याग की ज्योति को प्रज्ज्वलित करने के उद्देश्य से कवि जिस महान् व्रत और दृढ़ संकल्प की ओर इंगित करता है वह अतीत के सुनहरे भारतीय समाज की सुख शान्ति का रहस्य था। जिन गुणों को न केवल भारतीय समाज ने ही अंगीकृत किया बल्कि इन्हीं भावनाओं को लेकर अपने धर्म गुरुओं ने भी विश्व में राष्ट्रीय जीवन को सँवारने का सदा प्रयास किया है—

व्रत का अंतिम मोल राम ने दिया त्याग सीता को।
जीवन की संगिनी प्राण की मणि सुपुनीता को।
दिया अस्थि देकर दधीचि ने, शिवि ने अंग कतर कर।
हरिश्चन्द्र ने कफन माँगते हुए सत्य पर अड़ कर।
ईसा ने संसार हेतु शूली पर प्राण गँवा कर।
अंतिम मूल्य दिया गांधी ने तीन गोलियाँ खाकर।
हँस कर लिया मरण ओठों पर जीवन का व्रत पाला।
अमर हुआ सुकरात जगत् में पीकर विष का प्याला।[2]

इसी प्रकार 'रश्मिरथी' का कर्ण वीरोचित आत्मत्याग का ज्वलंत उदाहरण है। कर्ण को दिग्विजयी बनाने वाले कवच कुण्डल के लिए एक विप्र भिक्षुक रूप में कर्ण के द्वार पर खड़ा है। परन्तु दानी कर्ण अपनी अग्नि परीक्षा में और अधिक निखर उठता है। कर्ण का क्षत्रियत्व और उसकी उदारता का दान-यज्ञ दोनों ही एक दीप्तिमान ओज को लेकर उसके जीवन को महान् यश और कीर्ति से सुरभित कर रहे हैं। कर्ण का आदर्श वैश्य तथा क्षत्रिय समाज दोनों के लिए अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। कर्ण के उद्गार कवि के स्वर में क्षत्रियोचित कर्तव्य का कितना भावपूर्ण निरूपण कर रहे हैं—

वह करतब यह कि युद्ध में मारो और मरो तुम।
पर कुपंथ में कभी जीत के लिए न पाँव धरो तुम।

---

१ रश्मिरथी, पृ० ५४।
२ वही, पृ० ५४।

वह करतब है यह कि सत्य पथ पर चाहे कट जाओ।
विजय तिलक के लिए करों में कालिख पर न लगाओ।[१]

भाग्यवाद पर आधारित, समाज की मान्यताओं पर, पुरुषार्थ की विजय का कर्ण ने ओजपूर्ण अनुमोदन किया है। मनुष्य गुणों को वंश और परम्परा से प्राप्त नहीं करता बल्कि उसका पुरुषार्थ उसके मानवीय गुण-ग्राहकता में परम सहायक होता है—

वह करतब है यह कि शूर जो चाहे कर सकता है।
नियति भाल पर पुरुष पाँव निज बल से धर सकता है।
वह करतब है यह कि शक्ति बसती न वंश या कुल में,
बसती है वह सदा वीर पुरुषों के वक्ष पृथुल में।[२]

दलितों के उन्नायक

समाज में असहाय और अनाथ समझे जाने वाले वर्ग के लिए कर्ण के उद्गार नई आशाओं का संचार करते हैं और उनको सम्बल देते हैं जो समाज की मर्यादाओं से परे अज्ञात माता-पिताओं से जन्मते हैं। उन समाज-भीरु माता-पिताओं पर जहाँ कर्ण का स्वर अभिशाप बना है वहाँ जन्म लेने वाले ऐसे ईश्वर पुत्रों को कर्ण का जीवन एक नई शक्ति व स्फूर्ति प्रदान करता है। उन्हें समाज को अपने अलौकिक गुणों से विभूषित करने की प्रेरणा देता है और युग-युगों से चले आ रहे इस भ्रान्ति मय अपराध की ओर समाज को उदार दृष्टिकोण अपनाने की शुभ मंत्रणा भी दे रहा है—

मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
मैं उनका आदर्श किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे।
निज चरित्र बल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे।[3]

धरती के निर्धन और समाज से प्रताड़ित दीन-हीन पिछड़े वर्ग के लिए 'रश्मिरथी' प्रकाश की नई विभा खिला रहा है। कर्ण का यह गौरवमय जीवन उनके अश्रु प्रवाह को न केवल पोंछने का सामर्थ्य रखता है किन्तु पद-दलित युग-युग से अभिशप्त शोषित वर्ग को वह नई दिशा प्रदान करता है। इसी समाजिक नव निर्माण की भावना से अभिभूत दिनकर का कर निकर-जाल कर्ण के जीवन को काव्य ज्योति से द्युतिमान कर रहा है—

---

१ रश्मिरथी, पृ० ६६।
२ वही, पृ० ६६।
3 वही, पृ० ६७।

जग में जो भी निर्दलित प्रताड़ित जन हैं।
जो भी निहीन हैं निन्दित हैं निर्धन हैं।
यह कर्ण उन्हीं का सखा बन्धु सहचर है।
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।[1]

उन्मुक्त प्रेम का अनुमोदन

समाज में उन्मुक्त प्रेम का पूर्ण अनुमोदन करते हुए दिनकर ने उस समाज पर तीखा व्यंग्य किया है जिस समाज की लांछना से भयभीत नारी को विवश होकर अपने हृदय-खण्ड का भी त्याग करना पड़ता है। समाज द्वारा नारी पर किये जा रहे अत्याचारों की करुण कहानी का यह भी एक हृदय-द्रावक चित्र है। कुन्ती के स्वर में—

बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी।
अबला होती सचमुच योषिता कुमारी।
है कठिन बंद करना समाज के मुख को।
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।[2]

परन्तु वह समय आ गया है जब नारी का विद्रोह जाग उठा है और वह स्वयं समाज के स्वार्थपूर्ण इस बंधन को चुनौती दे रही है—

भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से।
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से।
उस समाज के सिर पर कदम धरूँगी।
डर चुकी बहुत अब और न अधिक डरूँगी।[3]

स्नेह करना बुरा नहीं है किन्तु उसको छिपाना बुरी बात है। पर नारी के लिए स्नेह धर्म से भी ऊपर जिस धर्म का महान् दायित्व है उस मातृत्व धर्म का पालन उसे प्राणों को संकट में डालकर भी करना चाहिए। जहाँ दिनकर ने समाज को उन्मुक्त प्रेम के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण अपनाने का संकेत दिया है, वहाँ नारी को प्रेम से भी बढ़कर मातृत्व के गौरव को अति वहन करने की सबल प्रेरणा भी दी है—

पर मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी।
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी।

---

[1] रश्मिरथी, पृ० १००।
[2] वही, पृ० ८०।
[3] वही, पृ० ८०।

यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है।
जैसा भी हो बेटा माँ का सम्बल है।[१]

आशा की नई रश्मि

'रश्मिरथी' में सामाजिक जागरण के वे सभी स्वर हैं जो आज किसी न किसी अंश में उन सभी वादों में सन्निहित हैं जो अर्थ के सुविनिमय पर नये युग को खड़ा करना चाहते हैं। जहाँ दिनकर ने रश्मिरथी में भारतीय समाज को जातिवाद, वर्गवाद से ऊपर उठाकर मानवता के वास्तविक धरातल पर लाना चाहा है वहाँ उसने पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों को तराशा है और उसे भारतीय संस्कृति के अनुरूप एक ऐसे अर्थवाद को जन्म दिया है जो विश्व में बिना किसी द्वेषाग्नि के अनायास ही आर्थिक समानता की ओर ले जाने का सामर्थ्य सँजोये है। इस प्रकार दिनकर के रश्मिरथी काव्य में मानवतावाद को लिये हुए वह यथार्थवाद है जिसमें समाज-कल्याण तथा क्षत्रिय धर्म दोनों ही परिष्कृत रूप से झलकते हैं। वह मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाकर वास्तविक मनुष्य बनाना चाहता है।

कौरव दल के अंधकार में, कर्ण को ज्योतिदीप बनाकर तथा दुर्योधन के दलदल में पंकज के समान कर्ण के चरित्र को महाकवि ने जिस सुन्दर रूप से उभारा है वह अपने आप में अनुपम ही है। एक आलोचक के शब्दों में—"दिनकर युगधर्म का वह गायक है जिसके स्वर में युग-युग से पीड़ित तथा प्रताड़ित राष्ट्रीयता उग्र चेतना के साथ अनुप्राणित हो उठी है। दिनकर को अपनी आकांक्षा के अनुरूप रश्मिरथी कर्ण जैसा नायक प्राप्त हुआ जो अपनी महत्ता से न केवल हमारे मानव को आप्लावित कर लेता है बल्कि हमारे समाज तथा साहित्य पर भी अमिट छाप डालता है।"[२]

अवभृथ स्नान

रश्मिरथी का भाव-चित्र खींचते-खींचते ही कवि के हृदय को परशुराम के दिव्य तेज ने मोह लिया था। दिनकर की राष्ट्रीयता के भविष्य का बीजारोपण रश्मिरथी के परशुराम-चरित्र के वर्णन के ही समय हो चुका था। परशुराम के ब्रह्म एवं क्षात्र तेज का जो सुन्दर वर्णन कवि ने किया है वह राष्ट्रीय क्षात्र शक्ति के लिए महान् प्रेरणादायक है। आज जब भारतीय भूमि पर विपदा के घन मँडरा रहे हैं ऐसे समय 'शापादपि शरादपि' का महामन्त्र हमारी अहिंसक नीति को नई दिशा प्रदान करता है। परशुराम के क्षात्र तेज का वर्णन निम्न पंक्तियों में स्पष्ट झलकता है—

परशु और तप ये दोनों वीरों के ही होते शृंगार।
क्लीव न तो तप ही करता है न तो उठा सकता तलवार।

---

[१] रश्मिरथी, पृ० ८८।
[२] सुधांशु, रश्मिरथी समीक्षा, भूमिका।

तप से मनुज दिव्य बनता है षड विकार से लड़ता है।
तन की समर भूमि में लेकिन काम खड्ग ही करता है।[1]

ब्रह्म और क्षात्र शक्ति का सुन्दर विवेचन करते हुए दोनों की समान आवश्यकता पर इतिहास की यह ध्वनि आज भी हमें कुछ सन्देश देने के लिए आतुर है। परशुराम का यही तेजस्वी रूप 'परशुराम की प्रतीक्षा में' पुष्पित और पल्लवित हुआ है। यद्यपि परशुराम की प्रतीक्षा भारत के भविष्य की बाट जोह रही है किन्तु प्रतीक्षा में अतीत का ओज है जिसे कवि प्रत्यावर्तित करना चाहता है। महाकवि दिनकर के प्रत्येक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अतीत के वे वज्र-सम लौह पुरुष हैं जिनके आधार पर वर्तमान के हाथों से राष्ट्र के भविष्य की गगनचुम्बी भित्तिकाएं खड़ी की जा सकती हैं। इसीलिए वह किसी कल्पना के लोक में नहीं भटकता। वह अतीत के यथार्थ को वर्तमान में साकार करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। विपदाओं से घिरे हुए भारत को, सीमा पर उमड़ रही घनघोर घटाओं को छिन्न-विच्छिन्न करने के लिए ऐतिहासिक परशुराम से ओज और तेज को माँगता है। वह देश की क्षात्र शक्ति को उस लोहित कुण्ड में स्नान करा रहा है, जहाँ कभी परशुराम ने अपने शस्त्रास्त्रों को धोया था--

निर्जर पिनाक हर का टंकार उठा है।
हिमवंत हाथ में ले अंगार उठा है।
ताण्डवी तेज फिर से हुंकार उठा है।
लोहित में था जो गिरा कुठार उठा है।[2]

परशुराम की प्रतीक्षा की आत्मा भी वही सबल अतीत की आत्मा है जिसके शौर्य और तेज से इतिहास आलोकित हो चुका है। इसी आलोक में उसने उन सभी क्षात्र शक्तियों को संयुक्त कर दिया है जिसके प्रत्येक कण में शौर्य बोल रहा है। इतिहास के उन सभी नक्षत्रों को दिनकर ने टेर-टेर कर समाविष्ट कर दिया है जिससे उसके शौर्य की ज्वाला और भी अधिक प्रचण्ड हो चुकी है—

टेरो टेरो चाणक्य चन्द्र गुप्तों को।
झकझोरो झकझोरो महान् सुप्तों को।
विक्रमी तेज असि की उद्दाम प्रभा को।
राणा प्रताप गोविन्द शिवा सरजा को।
टेरो टेरो माता लक्ष्मीबाई को।
वैरागी वीर बंदा फकीर भाई को।[3]

---

१ सुधांशु, रश्मिरथी समीक्षा, भूमिका, पृ० १२।
२ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६।
३ वही, पृ० ६।

अतीत का चारण

दिनकर का अतीत दर्शन राष्ट्रीय जागरण की दुन्दुभी बजाता हुआ काव्य का वह अजर अमर स्वर है जो युगों-युगों तक राष्ट्र का पथ आलोकित करता रहेगा। काल की दृष्टि से दिनकर के ये उद्‌गार अतीत के आधार पर कहे जा सकते हैं किन्तु भावों की दृष्टि से इन्हीं स्वरों को राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्वरों में भी बाँटा जा सकता है। राजनीतिक स्वर, अतीत का गौरव, देशप्रेम, युद्ध तथा शौर्य के रूप में झंकृत हुआ है। सामाजिक पक्ष आदर्श तथा नव निर्माण को लेकर आगे बढ़ा है। आर्थिक भूमिका, त्याग और समता की धाराओं में विभक्त हो एक ऐसी परिपूर्ण राष्ट्रीयता को प्रबुद्ध करती है जो राष्ट्र की चिरन्तन माँग है।

कहीं उसका अतीत गौरवान्वित होकर बोलता है और कहीं विषाद से पूरित होकर। दिनकर के काव्य में अतीत प्रेम की भावना, राष्ट्रीय भावनाओं का महत्त्व-पूर्ण भाग बन चुकी है। दिनकर के राष्ट्र का शरीर वर्तमान का है किन्तु आत्मा अतीत की है। आत्मा और शरीर का यह सम्मिलन नूतन उज्जवल भविष्य के लिए आकुल है, प्रतीक्षित है। दिनकर की काव्य शक्ति में वह अपरिमित ओज है, जो निश्चय ही दुर्बल राष्ट्र को सबल राष्ट्र में परिणत करने में सफल होगा।

चतुर्थ किरण

वर्तमान के व्योम पर

(स्वातन्त्र्यपूर्व काल)

वर्तमान के व्योम पर (स्वातन्त्र्यपूर्व काल)

(क) यथार्थवादी स्वर

(ख) क्रान्तिकारी स्वर

(ग) असन्तोष व तज्जनित विचार प्रेरणा

वर्तमान के व्योम पर
(स्वातन्त्र्यपूर्व काल)

वर्तमान का वैताली

वर्तमान के क्रिया-कलाप अतीत में किसी एक निश्चित परिणाम को लेकर मनुष्य की अनुभूतियों को भावुकता का वह भावपूर्ण धरातल दे जाते हैं जिससे प्रभावित होकर कवि-हृदय अनायास ही उसे टेरता है। अतीत की अपेक्षा वर्तमान कहीं अधिक चिन्तनशील होता है। अतीत का काव्य जहाँ भाव-प्रधान होता है वहाँ वर्तमान पर आधारित काव्य विचार-प्रधान होता है। विचारों और भावों का यही सामंजस्य भविष्य के लिए एक सुनहरी कल्पना को जन्म देता है। भावुकता, चिन्तनशीलता और कल्पनात्मकता ही कवि को त्रिकालदर्शी बनाती हैं। इतिहास के पृष्ठों में परिसंचित जातीय गौरव की गाथाएँ जहाँ हृदय को स्पर्श करती हैं, वहाँ वर्तमान की सामाजिक समस्याएँ हृदय से कहीं अधिक मस्तिष्क का विषय बन, चिन्तन का रूप ले लेती हैं। अपने गौरवमय इतिहास में विचरण करने वाला, अतीत का चारण अब वर्तमान का वैताली बनकर हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है। कवि दिनकर उन गौरवमयी यशस्विनी गाथाओं के आदर्श से निकलकर जब वर्तमान के सूने धरातल पर आता है तो उसका हृदय उद्वेलित हो उठता है।

वर्तमान के धरातल पर

तत्कालीन भारत, दासता की बेड़ियों को कड़कड़ा कर तोड़ने के लिए आतुर था। एक ओर जहाँ भारतीय कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन पूरे वेग पर था वहाँ दूसरी ओर खुदीराम बोस की शूली, जनमानस में क्रान्ति का वह बीज बो चुकी थी जिसका पादप चन्द्रशेखर आजाद, बिस्मिल और भगतसिंह के रूप में लहलहा उठा था। जलियांवाला बाग के बर्बर दमन चक्र तथा लाला लाजपतराय पर किये गये निर्मम प्रहार की करुणाजनक गाथाएँ भारतीय जन-जन के हृदय में विद्रोह की जो ज्वालाएँ धधका रही थीं, उन्हीं भावनाओं ने दिनकर के सशक्त हृदय को वाणी प्रदान की। स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रचण्ड हो चुका था। भारतीय कांग्रेस गरम और नरम दो दलों में विभक्त हो चुकी थी। जहाँ एक ओर तिलक और सुभाषचन्द्र बोस की भावनाएँ भारतीय युवकों को धधकते अंगारों से ज्वाला बनकर जूझने की प्रेरणा दे रही थीं, वहाँ दूसरी ओर जनमानस की क्रान्ति की भावनाओं को एक शान्ति व्यूह में संगठित कर महात्मा गांधी उसे अहिंसात्मक सत्याग्रह के पथ पर ले जाने के लिए प्रयत्नशील थे। नजरुल इस्लाम

सरीखे क्रान्तिकारी कवियों तथा मैथिलीशरण गुप्त की ओजस्विनी वाणी से प्ररणा प्राप्त करने वाला दिनकर भला शान्तिपूर्ण सत्याग्रह का अनुमोदन कर भी कैसे सकता था ? वह तो धधकती ज्वालाओं का रेणु-पुंज वनकर भारतीय समरांगण में हुंकार उठा। एक ओर अंग्रेजों के दमन चक्र के प्रति उसके काव्य में विद्रोह की ज्वाला धधक रही थी और दूसरी ओर नरम दल की नीतियों पर उसका असन्तोष वरस रहा था। शासन चक्र के वन्धन में बँधा हुआ कवि तथा शान्ति पुरुष महामानव की भावनाओं से ग्रथित हृदय कुछ उद्विग्न हो उठा। इसी दुविधाग्रस्त वन्धनों में बँधी हुई कवि की वाणी बोल उठी—

श्रृंग छोड़ मिट्टी पर आया किन्तु कहो क्या गाऊँ मैं ?
जहाँ बोलना पाप वहाँ क्या गीतों से समझाऊँ मैं।
विधि का शाप सुरभि-साँसों पर लिखूँ चरित मैं क्यारी का।
चौराहे पर बँधी जीभ से मोल करूँ चिनगारी का।[1]

इन पंक्तियों में उसके असन्तोष का सागर सहसा उमड़ पड़ा है। यही वह उभार है जिसे लेकर वह वर्तमान के धरातल पर दृढ़ता से आगे वढ़ने के लिए प्रयत्नशील है। अतीत की अरुणिमा से सुप्त जनजीवन अँगड़ाई ले जागा, पर दिनकर की तेजस्वी किरणें जव तिमिर के जाल को छिन्न-भिन्न कर चमकने लगीं तो जन-जीवन नई तरुणाई के साथ उठ खड़ा हुआ—

नये प्रात के अरुण, तिमिर-उर में मरीचि संधान करो।
युग के मूक शैल उठ जागो, हुंकारो कुछ गान करो।[2]

इस जागरण में आत्म-वलिदान की वह भावना काम कर रही थी जो आत्मोत्सर्ग की भावना से स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए प्रत्येक मूल्य चुकाने के लिए आतुर थी। कवि-हृदय में भी वलिदान की यह भावना जाग उठी। वह सर्वस्व त्याग कर वलिदान के लिए सन्नद्ध हो उठा—

रण की घड़ी जलन की बेला तो मैं भी कुछ गाऊँगा।
सुलग रही यदि शिखा यज्ञ की अपनी हुति चढ़ाऊँगा।[3]

वलिदान के पीछे जो अमरत्व की भावना छिपी होती है उसी अमृतत्व की रश्मियों से वह भारतीय जन-मानस को क्रान्ति के लिए सन्नद्ध करना चाहता था। भारत के विशाल भू पर छाया हुआ पराधीनता का यह तिमिर उसकी उद्विग्नता का एक-मात्र कारण था। उसके सामने यही उद्देश्य था कि येनकेन प्रकारेण भारतीय

---

1 हुंकार, आमुख, पृ० २।
2 वही, पृ० ३।
3 वही, पृ० ३।

स्वतन्त्रता जय-जयकार कर उठे। इसलिए वह अपने वर्तमान उद्देश्य को स्वयं स्पष्ट करता है—

> अमृत गीत तुम रचो कलानिधि बुनो रश्मियों की जाली।
> तिमिर ज्योति की समर भूमि का मैं चारण मैं वैताली।[1]

यह स्वर कवि की भावनाओं को स्पष्ट करता है। परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में उसके भाव स्वतः काव्य के रूप में फूट पड़े—"मैं समय के हाथ में निश्छल बंसी बनकर पड़ गया। मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरीं वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं। वे उस काल की अनुभूतियाँ थीं जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था। 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' यह उक्ति राम पर सोलह आने लागू हो या नहीं किन्तु मेरे प्रसंग में वह भारतीय इतिहास और भारतीय जनता पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। कवि होने का सामर्थ्य मुझ में नहीं था। यह शक्ति मुझ में भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात करने में स्फुरित हुई। मैं तो वायु और वह्नि से बना हुआ यन्त्र मात्र था, फूंक उसमें काल ने मारी और झंकारें भी उसमें काल ने ही उठायी हैं।"[2]

कवि के राष्ट्रीय काव्य-कलेवर के वर्तमान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) स्वातन्त्र्यपूर्व काल, (२) स्वातन्त्र्योत्तर काल।

इन दोनों ही कालों में कवि की विचारधाराएँ मुख्य रूप से तीन रूपों में प्रस्फुटित हुई हैं :

(क) पहला रूप वह है जिसमें देश की तत्कालीन दुर्दशा पर कवि-हृदय क्षोभ से परिपूर्ण है। इसे हम तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थवादी स्वर कह सकते हैं।

(ख) दूसरा रूप शासन के विरुद्ध भारतीय जनमानस को क्रान्ति तथा विप्लव के लिए तैयार करने का स्वर है जिसे हम क्रान्तिकारी स्वर कह सकते हैं।

(ग) तीसरा रूप वह है जिसमें महामानव गांधी के प्रति असीम श्रद्धा के भाव तो हैं पर उनके नेतृत्व में चलने वाले अहिंसक आन्दोलन के प्रति कवि-हृदय में पूर्ण असन्तोष की भावनाएँ प्रबुद्ध हो रही थीं। यही असन्तोष कहीं गम्भीर चिन्तन के रूप में, कहीं असन्तोष के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। इसे असन्तोष व तज्जनित विचार प्रेरणा का स्वर कहा जा सकता है।

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य-कलेवर पर, जिसमें मुख्य रूप से वर्तमान की समस्याएं मुखरित हुई हैं तथा ठोस विचार प्रेरणा की भावधारा बही है, इन तीनों रूपों के आधार पर ही क्रमशः विचार करने का प्रयत्न किया जायेगा।

---

१ हुंकार, पृ० ४।
२ चक्रवाल, भूमिका, पृ० ३४।

(क) यथार्थवादी स्वर

राष्ट्रीय काव्य तब तक पूर्ण नहीं कहा जायेगा, जब तक उसमें समसामयिक समाज का यथार्थ चित्र न प्रस्तुत किया जाय। यथार्थवाद का स्वर कवि-हृदय की वह प्रतिध्वनि है जो समाज की परिस्थितियों से ध्वनित होती है। यथार्थवाद कवि-हृदय का वह प्रथम स्वर है जिसे वह आँखों से देखता, कानों से सुनता व हृदय से अनुभव करता है। किसी भी राष्ट्रीय कवि के लिए जागृति का यह रूप नितान्त आवश्यक है। दिनकर का यथार्थवाद वह यथार्थवाद है जिससे राष्ट्र ने अपने आप को सँवारने की एक निश्चित प्रेरणा प्राप्त की। उसका यथार्थवाद न केवल यथार्थ का रेखाचित्र खींचना मात्र है, न समाज के किसी एकांगी पक्ष का समर्थक है, अपितु उसका यथार्थ चित्रण एक उन्नत राष्ट्र की अवनति का परिचायक है। वास्तव में साहित्य में सत्य ही यथार्थ है। उसके आदर्श शिव-संकल्प को लेकर सौन्दर्य की कल्पना करते हैं।

दिनकर ने राष्ट्र का सत्यरूप शिव भावना से प्रेरित हो चित्रित किया हैं। उसे सुन्दरता प्रदान करने के लिए वह हर तरह के त्याग, बलिदान व उत्सर्ग के लिए समुद्यत है।

बिलखता स्वदेश

कवि का उदय ऐसे संक्रमण काल में हुआ था जिस समय देश दोहरी मार से प्रताड़ित था। एक ओर कृषक वर्ग शोषित था, श्रमिक उत्पीड़न में झुलस रहा था। सामाजिक विषमता पूर्ण नग्न हो चुकी थी, जातीयता की विषबेल तथा छूतछात का पादप पल्लवित होकर समाज को अपने अभिशाप से विनाश के कराल गाल में धकेल रहा था। दूसरी ओर, विदेशी शासन समस्त भारत राष्ट्र को निस्तेज, अशक्त तथा गौरवहीन बनाने के लिए कृत-संकल्प था। दिनकर के यथार्थवाद में यही सब चित्र प्रस्तुत हुए हैं। राष्ट्र का एक प्रतिनिधि कवि यथार्थ से आँख कैसे मूँद सकता था? भारतीय दुर्दशा का चित्र अपने करुण नयनों से निहार कर उसने अपनी कविता को अतीत शैल शृंगों से उतार कर यथार्थ के धरातल पर खींच लाने का प्रयास किया है—

शैल शृंग चढ़ समय-सिन्धु के आर पार तुम हेर रहे।
किन्तु ज्ञात क्या तुम्हें भूमिका कौन दनुज पथ घेर रहे?
दो वज्रों का घोष विकट संघात धरा पर जारी है।
वह्नि रेणु चुन स्वप्न सजा लो छिटक रही चिनगारी है।[1]

यहाँ 'दनुज' शब्द एकमात्र विदेशी शासकों के लिए ही नहीं प्रयुक्त है किन्तु वे भी

---

[1] हुंकार, पृ० १।

दनुज हैं जो मानवता का आर्थिक और सामाजिक शोषण कर रहे हैं। स्वदेश की इस दुर्दशा से दिनकर का हृदय व्याकुल हो उठा है। धू-धू कर जलता हुआ भारत का गौरव उन्हें कदापि सह्य नहीं है। वह हिमालय को सम्बोधित कर कह रहे हैं—

ओ मौन तपस्या लीन यति, पल भर को तो कर दृगोन्मेष।
रे ज्वालाओं से दग्ध विकल है, तड़प रहा पद पर स्वदेश।[1]

कवि उन सभी व्यालों से राष्ट्र को सचेत करना चाहता है जो इस देश को चारों ओर से डस रहे हैं। उसके ये व्याल वे ही हैं जो जमींदारों के रूप में किसानों का, पूँजीपति के रूप में श्रमिकों का, ब्राह्मणों के रूप में शूद्रों का और विदेशी शासक के रूप में प्रजा का शोषण कर रहे हैं। इन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषकों से समाज को जाग्रत करने के लिए तत्कालीन स्थिति का यथार्थ चित्रण नीचे स्पष्ट है—

उस पुन्य भूमि पर आज तपी, रे आन पड़ा संकट कराल।
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे, डस रहे चतुर्दिक विविध व्याल।[2]

भारतीय जन-जीवन दासता की शृंखला से आबद्ध था। वह अपने हृदय की आवाज को न तो खुलकर कह ही सकता था और न वह आजाद पक्षी की भाँति उन्मुक्त गगन में श्वास ही ले सकता था। देश में शासकों द्वारा चलाया गया शिक्षाक्रम केवल कुछ दास-क्लर्क तैयार करने का उपक्रम मात्र था। इस तरह उन्नति का हर मार्ग अवरुद्ध था। ४० कोटि जनता मानो एक बन्दीगृह में कैदी का सा जीवन बिता रही थी। उनका जीवन पशु और पक्षियों से भी अधिक दुर्वह हो गया था, तभी तो कवि की आत्मा का कराहता स्वर 'मनुष्य' कविता में फूट पड़ा है—

चारों दिशि ज्वाला सिन्धु घिरा,
धू-धू करती लपटें अपार।
बंदी हम व्याकुल तड़प रहे,
जानें किस प्रभुवर को पुकार।[3]

मानवतावादी दृष्टिकोण

परन्तु उसकी दृष्टि जब भारतीय सीमाओं को लाँघकर आगे जाती है तो धरती का विशाल भू-भाग इसी तरह दासता के बंधनों में जकड़ा दृष्टिगोचर हुआ। इने-गिने देश साम्राज्यवादी तृष्णा से आकुल थे। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह ऐसे विनाशकारी शस्त्रों का निर्माण कर रहे थे जिससे स्वयं मानवता कराह उठी

---

१ हुंकार, पृ० ६०।
२ वही, पृ० ६०।
३ रेणुका, पृ० १०६।

थी। प्रथम युद्ध की विनाशक लीलाओं से दानवता की यह प्यास अभी शान्त न हो पायी थी। शस्त्रों की होड़ में मानो मनुष्य जाति के संहार का उपाय खोज रही थी। मुठ्ठी भर युद्ध-लिप्सु मनुष्य को ही नष्ट करने पर तुले थे। इस प्रकार कवि का हृदय न केवल भारतीय बंदियों से ही पीड़ित था बल्कि उसके हृदय में समस्त मानव जाति का आर्त्तस्वर बोल रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन धरती के समस्त पराधीन देशों का आन्दोलन है। यही विशाल उदात्त भावना 'कस्मैदेवाय' कविता में झंकृत हो रही है—

> धरणी चीख कराह रही है दुर्वह शस्त्रों के भारों से।
> सभ्य जगत को तृप्ति नहीं, अत्र भी युगव्यापी संहारों से।
> गूँज रही संस्कृति मण्डप में भीषण फणियों की फुफकारें।
> गढ़ते ही भाई जाते हैं भाई के वध हित तलवारें।[1]

चारों ओर हाहाकार मच रहा है। प्रत्येक युग में महायुद्ध से पूर्व की स्थितियाँ दृष्टि-गोचर होती है, वे स्पष्ट रूप से झलक रही थीं। विस्तारवाद के उद्देश्य से साम्राज्य-वादी, मानवीय सिद्धान्तों पर आधारित सभ्यता और संस्कृति को नष्ट-विनष्ट कर रहे थे। इस प्रकार धरती के इस छोर से उस छोर तक शोषण का वह चक्र चल रहा था जिसमें न केवल मानवता बल्कि उसकी संस्कृति और सभ्यता सभी कुछ चूर-चूर हो रहे थे—

> दिक् दिक् में शस्त्रों की झनझन, धन पिशाच का भैरव नर्तन।
> दिशा दिशा में कलुष नीति, हत्या तृष्णा पातक आवर्तन।
> दलित हुए निर्बल सबलों से, मिटे राष्ट्र उजड़े दरिद्र जन।
> आह! सभ्यता आज कर रही असहायों का शोणित शोषण।[2]

एक ओर कवि ने भारत की दुर्दशा का वर्णन किया है और दूसरी ओर मानव जाति के उपसंहार के लिए जो विनाशकारी साधन जुटाये जा रहे हैं उनकी भर्त्सना भी की है। आज न केवल उसका भारत ही पराधीन है बल्कि सम्पूर्ण अफ्रीका और एशिया पराधीनता के पाश में आबद्ध पड़ा है। महाकवि दिनकर का काव्य-प्रकाश न केवल भारत की सीमाओं तक सीमित है बल्कि वह समस्त धरा पर आलोक बिछाने के लिए आतुर है। कवि का यह मानवतावादी दृष्टिकोण उसे तत्कालीन राष्ट्रीय कवियों से कहीं अधिक ऊपर उठा रहा है।

झोंपड़ी में तड़पता भारत

'दिल्ली' और 'पराजितों की पूजा' में भी भारत की दुर्दशा का चित्रण हृदय

[1] रेणुका, पृ० ३०।
[2] वही, पृ० ३१।

को उद्वेलित करता है। परन्तु वह देश की सामूहिक दुर्दशा पर ही व्याकुल नहीं है वल्कि उसकी दृष्टि ऐसे प्रत्येक वर्ग पर पड़ी है जो आज कहीं अधिक शोषण के चक्र में पिस रहा है। ऐसे समय उसका ध्यान अनायास ही भारत के उन ४० लाख ग्राम कुटीरों में वसने वाले कृषकों की ओर आकृष्ट हुआ है। कृषक भारतीय संस्कृति की आत्मा है और भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत है। कृषि-प्रधान देश भारत का यदि कृषक दुःखी है तो पूरा भारत दुःखी है। उसकी शक्ति और सम्पन्नता से ही भारत का सौभाग्य जग सकता है। इसीलिए वह भारतीय हृदय को वन-फूलों की ओर चलने का संकेत दे रहा है। आज उसका किसान असहाय है। उसे न तो तन ढकने के लिए वस्त्र ही नसीब होता है और न उसके वच्चों को पीने के लिए दूध। ऋण भार में वह बुरी तरह पिसा जा रहा है। जमींदारों का शोषण चक्र तथा विदेशी शासन, भारी कर के रूप में कृषकों को चूस-चूसकर उन्हें मिट्टी से भी अपने भाग्य निर्माण के अधिकार से वंचित करना चाहता है। वेचारा किसान अपनी असहाय व दीन स्थिति पर स्वयं ही अश्रु वहाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक किसान का श्रम सोना अवश्य उगलता है किन्तु वह ऋणदाता के सूद के लिए भी अपर्याप्त ही होता है। यही वह स्थिति है जिस पर कवि-हृदय कुछ अन्तः स्वर में कहने के लिए आतुर है—

> ऋण शोधन के लिए दूध घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे।
> बूँद बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
> इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार।
> तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।
> कटेगा भूखा हृदय कठोर।
> चलो कवि बन फूलों की ओर।[1]

गोपालक कृषक स्वयं दूध के लिए तरस रहा है। उसकी दीन-हीन अवस्था उसे अपने जीवनदायी अमृतत्व को भी वेचने के लिए विवश कर रही है। कल तक अन्न से कोठे भरने वाला तथा दूध की नदियाँ वहाने वाला, आज स्वयं दिन भर में एक समय खाकर निर्वाह करता है। इसके नन्हें-मुन्ने दूध के लिए तरसते हैं। जेठ की तप्त दुपहरी में स्वेदित तन से श्रम भार वहन करने वाला तथा कड़कड़ाती पौष की शीत लहरों में अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ कृषक स्वयं तो भूखा है ही, उसके जीवनाधार बैल भी चारे के लिए जब तरस उठते हैं तो उसके मन में हाहाकार गूँज उठता है—

> जेठ हो कि पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है।
> वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

---

[1] हुंकार, पृ० ३५।

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर क्या जाने कैसे जीते हैं ?
जबां बन्द बहती न आँख गम खा शायद आँसू पीते हैं ।[१]

गोरी चमड़ी का यह विदेशी शासक मानवता का कुत्ते से भी अधिक तिरस्कार कर रहा है । उनके कुत्ते भी शोषित भारतीय जनता से कहीं अच्छा जीवन बिताते हैं । भारतीय आशा के ये नन्हें-मुन्ने सुमन दूध के अभाव में ही मुर्झा जाते हैं । दूसरी ओर शासकों के श्वान भी दूध में नहाते हैं । उन दुधमुहों के दूध के स्वर को कवि ने दूध-दूध के भावों में भरकर तत्कालीन पीड़ित क्षुधा-ग्रस्त दीन-हीन जनता का यथार्थ चित्रण अपनी 'हाहाकार' कविता में किया है—

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं ।
ये बच्चे भी यहीं कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं ।
हटो पन्थ से मेघ तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम आते हैं ।
वत्स, वत्स, ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं ।[२]

धनी दानव किस प्रकार कृषक मेघ-यज्ञ रच रहे हैं, उनकी अट्टालिकाएँ कृषकों का रक्त चूस-चूसकर खड़ी हो रही हैं, इन्हीं भावों को कवि ने ओजस्वी स्वर दिया है—

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें ।
बनती ही उन पर जाती है वैभव की ऊँची दीवारें ।
धन पिशाच के कृषक-मेघ में नाच रही पशुता मतवाली ।
आगन्तुक पीते जाते हैं दीनों के शोणित की प्याली ।[3]

नगरों पर तीखा व्यंग करते हुए उसने दिल्ली के ऐश्वर्य को झकझोरा है । उसका ऐश्वर्य कृपकों के रक्त से रंजित है । एक ओर जीवित मानव पर्ण कुटीरों में भू-लुण्ठित हो रहा है तो दूसरी ओर ऐश्वर्य और विलास की लाशें दिल्ली की अट्टालिकाओं में पिशाचिनी बन अठखेलियाँ कर रही हैं—

वैभव की दीवानी दिल्ली कृषक-मेघ की रानी दिल्ली ।
अनाचार अपमान व्यंग की चुभती हुई कहानी दिल्ली ।

× × ×

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है ।
अरी हृदय को थाम ! महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है ।[४]

कृषकों के साथ-साथ मिलकर उनके सहोदर कृषकों की भी दुर्दशा पर अपने उद्‌गार

---

१ हुंकार, पृ० ३५ ।
२ वही, पृ० १७ ।
3 वही, पृ० १६ ।
४ वही, पृ० ५३ ।

किये विना वह कैसे रह सकते थे ? कवि की झोंपड़ी श्रमिकों का भी प्रतीक है। झोंपड़ियों की आह पर प्रासादों का अट्टहास, कवि की लेखनी में हृदयस्पर्शी व्यंग के रूप में मुखरित हुआ है—

आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी गरीबों के लहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें।
हाय ! छिनी भूखों की रोटी छिना लग्न का अर्ध वसन है।
मजदूरों के कौर छिने हैं जिन पर उनका लगा वसन है।[1]

सामाजिक असमानता

आर्थिक और राजनीतिक शोषण के साथ-साथ कवि की दृष्टि सामाजिक शोषण पर भी जागरूक होकर पड़ी है। दिनकर राष्ट्र की प्रत्येक क्षीणता को झकझोरता है। उसके कण-कण को अपने सन्देश से स्पन्दित करना चाहता है। छूतछात और जातिपाँति की जो विषैली भावना भारतीय संगठन को खोखला बना रही थी, उस पर भी कवि विचारने के लिए सामर्थ्य सँजोये है। अपने आप को श्रेष्ठ वर्ग के समझने वाले धर्म के ठेकेदार तथा गरीवों को चूस-चूसकर वने हुए धन-कुबेर, किस प्रकार वर्ण विशेष व वर्ग विशेष को प्रभु की पूजा से भी वंचित रखना चाहते हैं, मन्दिरों में वन्द भगवान के दर्शनार्थ भी उन्हें तरसाया जाता है, दिनकर का कवि 'वोधिसत्व' में इन्हीं अस्पृश्य कहे जाने वालों का प्रतिनिधित्व करते हुए कहता है—

आज की दीनता को प्रभू की पूजा का भी अधिकार नहीं।
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं।
धन पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई।
दौड़ो बोधिसत्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।
मनुष्य-मेघ के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए।
कैसे बसें दीन ? प्रभू भी धनियों के गृह में बन्द हुए।[2]

१९वीं शती में स्वामी दयानन्द ने समाज सुधार का विगुल वजाया था। उसी स्वर को महात्मा गांधी ने एक नया रूप दिया और शूद्रों को भी ईश्वर का पुत्र कहकर 'हरिजन' के नाम से सम्वोधित किया। एक ओर जहाँ स्वाधीनता का आन्दोलन चल रहा था, दूसरी ओर देश में सामाजिक विषमता को दूर करने का आन्दोलन भी पूरे वेग से चल रहा था। सामाजिक वैषम्य के निराकरण के बिना भारतीय जनता एक सूत्र में कैसे आवद्ध हो सकती थी ? हरिजनों को अपने अधिकार दिलाने के उद्देश्य से ही कवि के ये उद्गार न केवल प्रेरणा दे रहे हैं अपितु जागृति का एक नया स्वर भी सँजोये हैं—

---

१ हुंकार पृ० ५२।
२ रेणुका, पृ० १८।

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं।
जागो बोधिसत्व भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।
जागो विप्लव के वाक् दम्भियों के इन अत्याचारों से।
जागो हे जागो तप निधान दलितों के हाहाकारों से।[1]

साम्प्रदायिक विषवृक्ष

'फूट डालो और शासन करो' की नीति हिन्दू-मुस्लिम पार्थक्य को पूरे वेग से हवा दे रही थी। विदेशी शासक मानवता के बीच भित्तिका बाँधने के लिए साधन जुटा रहा था। दिनकर की आँखों के सामने भारत की तकदीर के बंटवारे का प्रयत्न हो रहा था। दूरदर्शी कवि पूर्ण सतर्क था। उसने बहुत पहले ही भारत विभाजन के विरुद्ध आवाज उठायी—

हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं
पाँव में जिसके अभी जंजीर है।
बाँटने को हाय, तोली जा रही
बेहया इस कौम की तकदीर है।[2]

कवि की दृष्टि में हिन्दू-मुस्लिम कभी दो नहीं रहे। यदि उनमें कुछ अन्तर था तो वह केवल दो आँखों के बीच में रहने वाला नगण्य अन्तर। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर दिनकर ने पूरा जोर दिया है। इस प्रकार दिनकर का दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय संस्कृति के अनुरूप पूर्ण मानवतावादी रहा है। इसी हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर इंगित करते हुए दिनकर ने भारत के विभाजन का चित्र 'तकदीर के बंटवारे' में खींचा है। जातीयता के इन विषैले कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए दिनकर का काव्य पूरी तरह से प्रेरणादायक है—

खूँ बहाया जा रहा इन्सान का, सींगवाले जानवर के प्यार में।
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही, मस्जिदों की ईंट की दीवार में।
ताव था किसकी कि बाँधे कौम को, एक होकर हम कहीं मुख खोलते।
बोलना आता कहीं तकदीर को, हिन्दवाले आसमां पर बोलते।[3]

साम्प्रदायिकता के रंग में रँगा हुआ हर व्यक्ति चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, दिनकर की दृष्टि में हेय है। स्वतन्त्रता से पूर्व ही भारत माता को खण्डित करने के उद्देश्य से नोचने वाले साम्प्रदायिक लुब्ध भेड़ियों को दिनकर ने बड़ी ही तीखी फटकार दी है—

---

१ रेणुका, पृ० १९।
२ हुंकार, पृ० ७९।
3 वही, पृ० ८०।

चीथड़ों पर एक की आँखें लगीं, एक कहता है कि मैं लूँगा जबां।
एक की जिद है पीने दो मुझे, खून जो इसकी रगों में है रवां।
मुस्लिमो ! तुम चाहते जिसकी जबां, उस गरीबिन ने जबां खोली कभी।
हिन्दुओ बोलो तुम्हारी याद में कौम की तकदीर क्या बोली कभी ?[1]

स्वतन्त्रता आन्दोलन का घटना चक्र जैसे-जैसे उतार-चढ़ाव पार कर रहा था, दिनकर की कविता भी उसी का आधार लेकर वर्तमान को सदा ही प्रेरणा देती रही है। दिनकर के वर्तमान काल की काव्य भावना में भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास छिपा पड़ा है। उनकी सामयिक कविताओं की पृष्ठभूमि में तत्कालीन घटनाएँ अन्तर्निहित हैं, किन्तु दिनकर ने बुद्धि कौशल से उसे ऐसा चिरन्तन स्वरूप प्रदान किया है जो न केवल वर्तमान को ही प्रेरणा देता है बल्कि भारत के भविष्य को भी सँवार सकता है। नोआखाली और विहार में भीषण साम्प्रदायिक संघर्षों पर फूटा हुआ दिनकर का आर्त्तस्वर आज भी हिन्दू और मुसलमानों को भ्रातृत्व का सन्देश दे रहा है। दिनकर का कवि रोने का अभ्यस्त नहीं है। वह यथार्थ का चित्रण कर नये उत्साह और नई आशा को जगाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है। हिन्दू-मुस्लिम पार्थक्य का ही एक ऐसा घटना चक्र है जिस पर दिनकर के नयन वरवस अश्रु वरसाते हैं—

ओ बदनसीब ! इस ज्वाला में आदर्श तुम्हारा जलता है।
समझाएँ कैसे तुम्हें कि भारतवर्ष तुम्हारा जलता है।
जलते हैं हिन्दू मुसलमान भारत की आँखें जलती हैं।
आने वाली आजादी की लो ! दोनों आँखें जलती हैं।[2]

यह पारस्परिक संघर्ष भारत माता पर निर्मम प्रहार है। इस प्रकार से जर्जरित भारत माता अपने स्वतन्त्रता के अधिकार को ही कहीं खो न बैठे, इसलिए समय की माँग को समझाने का प्रयत्न करते हुए कवि ने कैसा दर्दभरा चित्र खींचा है—

ये छुरे नहीं चलते छिदती जाती स्वदेश की छाती है।
लाठी खाकर भारत माता बेहोश हुई सी जाती है।
चाहो तो डालो मार इसे पर, याद रहे पछताओगे।
जो आज लड़ाई हार गए फिर जीत न उसको पाओगे।[3]

---

१ हुंकार, पृ० ८०।
२ सामधेनी, पृ० २९।
३ वही, पृ० ३०।

(ख) क्रान्तिकारी स्वर

बिहार प्रान्त में सिमरिया घाट के उस छोटे से गाँव में जन्म लेकर दिनकर ने भारतीय जीवन के यथार्थ दर्शन किये थे। जमींदारों के अत्याचार, ऋण-भार में दबे हुए कृषक, किसानों से लगान वसूली का क्रूर नाटक देखते हुए उनके जीवन का पौधा अंकुरित हुआ था। मनुष्य स्वयं उतना नहीं बनता जितना कि उसका वातावरण उसे बनाता है। कवि के अपने शब्दों में—"मैं समय का पुत्र हूँ और मेरा सबसे बड़ा कार्य यह है कि मैं अपने युग के क्रोध और आक्रोश को, अधीरता और बेचैनी को सबलता के साथ छन्दों में बाँधकर सबके सामने उपस्थित कर दूँ। मेरे पीछे और मेरे चारों ओर भारतीय मानवता खड़ी थी, जो पराधीनता के पाश से छूटने को बेचैन थी। अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम के धड़ाके की आवाज आती अथवा मुझे दर्द भरी ऐंठन की वह आवाज सुनाई देती जो गांधीजी के हृदय में चल रही थी, जो उन सभी राष्ट्र नायकों के हृदय में चल रही थी, जिनसे बढ़कर मैं किसी को श्रद्धेय नहीं समझता था। मेरे जानते उस समय सारे देश में एक स्थिति थी जो सार्वजनिक संघर्ष की स्थिति थी। सारे देश का एक कर्त्तव्य था जो स्वातन्त्र्य संग्राम को सबल बनाने का कर्त्तव्य था और सारे देश की एक मनोदशा थी जो क्रोध से क्षुब्ध, आशा से चंचल और मजबूरियों से बेचैन थी।"[1]

महात्मा गांधी के हृदय में स्वतन्त्रता के प्रति जो उद्विग्नता थी, कवि उसे पूरी तरह अनुभव करता है परन्तु उस स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिए किये जा रहे गांधीजी के शान्ति सत्याग्रह के नारे उसके कानों को प्रभावित नहीं कर सकते थे। उसे तो कोई स्वर सुनाई देता था तो वह था एकमात्र बम का स्वर जो कवि की क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रतीक है।

उसके यथार्थ चित्रण में अन्याय, अत्याचार की जो करुण गाथा भरी पड़ी है, मानव-मस्तिष्क पर उसके दो ही परिणाम हो सकते थे—या तो मानवता पर किये जा रहे भीषण अत्याचारों से भयभीत हो, निराशा के स्वर में हृदय क्रन्दन कर उठता; या फिर अत्याचारों के विरुद्ध उसके रक्त में उष्णता का संचार होता और वही उष्णता अतीत की प्रेरणादायिनी शक्ति का सम्बल पा क्रान्ति तथा विद्रोह के रूप में फूट पड़ती। आशावादी युवा दिनकर का उष्ण रक्त उसकी धमनियों में क्रान्ति के लिए मचल उठा। मानवता पर किया जा रहा हर प्रहार उसे उत्साह से क्रान्ति की ओर धकेल रहा था। भारत माता की स्वतन्त्रता के लिए हँस-हँसकर फाँसी के फन्दे पर झूलते हुए प्राण कवि-हृदय में नई चेतना फूंक रहे थे।

---

[1] चक्रवाल, भूमिका, पृ० १४।

तिलक और सुभाषचन्द्र बोस के विचारों से अनुप्राणित महाकवि दिनकर से क्रान्ति का जो स्वर फूटा है वह तत्कालीन परिस्थितियों से धधकी हुई वह ज्वाला है जो न केवल दिनकर के हृदय में सुलग रही थी वरन् अनेक स्वाभिमान नर-पुंगवों को क्रान्ति के लिए विवश कर रही थी। यदि निष्पक्षरूपेण भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो यह कहना नितान्त भ्रममूलक होगा कि हमने केवल शन्तिपूर्ण सत्याग्रह से ही स्वतन्त्रता प्राप्त की है, अपितु हमारे स्वतन्त्रता संघर्ष में झाँसी की रानी द्वारा सुलगायी गयी वह क्रान्ति की भी चिनगारी थी जो अनेक क्रान्तिकारी संगठनों के रूप में अंग्रेजी शासन को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए सक्रिय रूप धारण कर चुकी थी।

दिनकर की क्रान्ति जहाँ राजनीतिक स्वत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रही है वहाँ सामाजिक नव निर्माण के लिए भी उसकी क्रान्ति का स्वर पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुआ है। वास्तव में, क्रान्ति अन्याय, अत्याचारों की ऐसी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है जिसकी ज्वालाएं अन्तरतम से उभरती हैं। समय और परिस्थिति का हल्का सा झोंका क्रान्ति की चिनगारी को सहज ही ज्वालामुखी बना देता है। क्रान्ति नियति की एक अनिवार्य प्रक्रिया भी है। प्रकृति जिस तरह विप्लव से नई शक्ति प्राप्त करती है उसी तरह क्रान्ति से समाज भी नव जीवन प्राप्त करता है। इसलिए दिनकर क्रान्ति के पुजारी रहे हैं। उनकी वाणी मानव जीवन की हर बुराई पर एक गम्भीर प्रहार कर, उसे हमेशा के लिए नष्ट-भ्रष्ट कर, एक नये समाज की कल्पना करती है।

प्रलय का आह्वान

उनकी काव्य की सरिता 'ताण्डव' में शंकर के उस विप्लवकारी स्वरूप को लेकर प्रस्तुत हुई है जो समस्त विश्व में आमूल-चूल परिवर्तन चाहती है। सभ्यता के रूप में पनप रही पाशविक प्रवृत्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए वह शंकर का आह्वान करता है। उसका शंकर विप्लव का उत्कृष्ट प्रतीक है। शंकर प्रलयंकारी नृत्य कर धरती को कम्पायमान कर सकता है। वह आकाश से अग्निवर्षा की कल्पना कर रहा है, जिसमें यह क्रूर सभ्यता जलकर भस्मसात् हो जाय मानो दिनकर शंकर की उस थिरकन से अपनी वाणी में उस संहारक शक्ति को भरकर सम्पूर्ण समाज को अग्निसात् करने के लिए पूरे वेग से प्रयत्नशील है। समस्त मानव जाति को झकझोर कर वह सत्यं-शिवं-सुन्दरं की उस नई सृष्टि को जन्म देना चाहता है जिसमें सामाजिक और राजनीतिक दोनों की स्वस्थता परिपूर्ण हो। वह शंकर से तीसरा नेत्र खोलने की प्रार्थना 'रेणुका' के प्रथम भावोद्गार में ही कर रहा है—

स्वामिन अंधड़ आग बुला दो, जले पाप जग का क्षण में।
डिम डिम डमरू बजा निज कर में, नाचो नयन तृतीय तरेरे।

ओर छोर तक सृष्टि भस्म हो चिता भूमि बन जाय अरेरे ।
रच दो फिर से इसे विधाता तुम शिव सत्य और सुन्दर ।
नाचो हे नाचो नटवर ![१]

दिनकर ने इस निनाद में भूचाल का कम्पन, सागर का तूफान और बड़वानल का वह तेजस्वी स्वरूप अन्तर्निहित है जो भारतीय जनमानस को क्रान्ति के लिए सन्नद्ध करने की क्षमता रखता है । उसका न केवल कैलाशवासी शंकर ही ताण्डव नृत्य करेगा किन्तु शंकर के पदकम्पन के साथ-साथ वह हिमालय को भी नई हुंकार भरने का संकेत कर रहा है । उसकी क्रान्ति प्रकृति से उद्‌बुद्ध वह विकराल क्रान्ति है जिसमें पाप का रंचमात्र भी अंश शेष नहीं रह सकता । हिमालय से वह कहता है—

ले अँगड़ाई उठ हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद ।
तू शैल राष्ट्र हुंकार भरे,
फट जाय कुहा भागे प्रमाद ।[२]

नई हुंकार

शंकर और हिमालय के समक्ष क्रान्ति का भिक्षुक कवि अन्त में अपने काव्य द्वारा ही जनमानस में क्रान्ति की भावना जगाना चाहता है । वह उन सभी क्रान्ति-दूतों का उपासक है, जिनके हृदय में शोषक दानवों के विरुद्ध क्रान्ति की चिनगारियाँ धधक रही थीं । इस सन्दर्भ में वह लेनिन का भी स्मरण करता है, इसलिए नहीं कि वह धरती पर साम्यवाद फैलाना चाहता है अपितु वह लेनिन की उस भावना का उपासक है जिसने शोषकों के विरुद्ध जनमानस को जगाने का प्रयत्न किया था । अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध उठने वाले प्रत्येक स्वर को अपने स्वर में संयुक्त करना चाहता था, जिससे सरल मानवता पर क्रूरता का अट्टहास करने वाली सभ्यता का विनाश हो सके—

क्रान्ति धात्रि कविते ! जाग उठ आडम्बर में आग लगा दे ।
पतन पाप पाखण्ड जले जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे ।[३]

उसके हृदय में पाप और पाखण्ड के विरुद्ध जो क्षोभ समाया हुआ है, वह क्षोभ लाखों हृदय में जलने वाली उस शोकाग्नि से अभिभूत है जिससे सारी मानव सभ्यता आज कराह रही है । भारत भू पर लाखों व्यक्तियों का मर्दित भाग्य उसे क्रान्ति के स्वर के लिए विवश कर रहा है । अपने स्वर को युग की वाणी का साहसपूर्ण प्रतिनिधित्व करने के लिए वह फिर कहता है—

---

१ रेणुका, पृ० ३ ।
२ वही, पृ० ८ ।
३ वही, पृ० ३१ ।

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट फूट तू कवि कण्ठों से बन व्यापक निज युग की वाणी।[1]

भारत के लाखों-करोड़ों हतभाग्य व्यक्तियों की दुर्दशा से कवि के हृदय में करुणा का एक सागर ही बन गया है परन्तु उस करुणा के स्रोत से जब कवि का स्वर फूटता है तो वह बरबस हुंकार के रूप में स्वयं ही बदल जाता है। उसकी क्रान्ति जान-बूझकर क्रान्ति के भाव जगाने वाली वह आग की ज्वाला नहीं है जो समय-असमय सर्वदा जलती रहती है किन्तु उसकी क्रान्ति वह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है जो वातावरण से वशीभूत हो स्वयं ही धधक उठती है—

वंशी पर मैं फूकता हृदय की करुण कूक।
जाने क्यों छिद्रों से उठती है लपट लूक।[2]

उदयाचल से उठा हुआ यह ओज और तेज का पुंज अपनी भावरश्मियों से निद्रामग्न भारतीय जन-जन को झकझोर रहा था। अन्ततः वह दिनकर का ही प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी रश्मियाँ सोतों को जगाती हैं, मुरझाये हुओं को खिलाती हैं और अंधकार के हर कोने पर ज्योति की एक नई सुषमा छिटकाती हैं, जिस सुषमा से स्वयं जागरण छा जाता है। यह वही जागरण है जिसे हम यौवन कहते हैं। यौवन में भी नव यौवन का संचार करने वाला दिनकर वास्तव में 'आलोकधन्वा' कविता में दिनकर के ही ओजस्वी रूप को लेकर आगे बढ़ा है। वह आज प्रत्येक स्वर को हुंकार में परिवर्तित करना चाहता है। यौवन में सागर के ज्वार को मचलाना चाहता है, उसकी करुणा भरी आँखें अंगार बरसाने के लिए विवश हैं। वह युवकों की नस-नस में एक ऐसे नये रक्त का संचार कराना चाहता है, जो रक्त स्वतन्त्रता का उज्जवल इतिहास लिख सके—

स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ।
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ।
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।
लोहू में देता हूँ वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ों से हो अभय जवानी।[3]

उसकी समस्त आकांक्षाएँ विदेशी शासन की क्रूरता में तिल-तिल कर भस्म हो चुकी हैं। आज उसके हृदय में जो कुछ शेष है वह है एकमात्र क्रान्ति की आकांक्षा। वह

---

[1] रेणुका, पृ० ३२।
[2] हुंकार, पृ० ४।
[3] वही, पृ० ६।

एक ऐसी ज्वाला धधकाना चाहता है जिसमें समस्त अन्याय, अत्याचार जलकर खाक हो जाय। वह भिक्षुक के रूप में स्वतन्त्रता-याचक नहीं है, अपितु वह उस स्वतन्त्रता का अर्चक है जिसे वह अपनी क्रान्ति की वह्निराशि से प्राप्त करेगा। वह वह्निराशि न केवल विदेशी शासन को भस्मीभूत करने में सक्षम होगी वरन् आने वाली स्वतन्त्रता को भी एक नया तेज प्रदान करेगी। यही अन्तर्दाह उसकी 'चाह एक' कविता में झलक रहा है—

अन्तर में लेकर आग और आँखों में सिन्धु अथाह एक।
बल उठे किसी दिशि वह्नि-राशि, ले देकर मेरी चाह एक।[1]

हिमालय की दरी का सिंह दिनकर भारतीय नवयुवकों के मस्तक पर अनल किरीट पहनाने के लिए आतुर है। अनल किरीट में एक ओर जहाँ खुलकर वह युवकों के हृदय में जागते प्रथम शौर्य को प्रशंसा से प्रोत्साहित कर रहा है वहाँ विदेशी शासन को वह एक गम्भीर चेतावनी भी दे रहा है। अभी तो देश के युवकों ने प्रथम अँगड़ाई ली है, जिस अँगड़ाई का परिणाम खुदीराम बोस, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह और बिस्मिल के रूप में सामने आया है। जब यही स्वर अपना वास्तविक स्वरूप धारण कर लेगा तब मदहोश शासक से गिन-गिन कर पसीने का मोल लिया जायेगा। इसी चेतावनी भरे स्वर में हुंकार का कवि दहाड़ता हुआ बोल उठा है—

ओ मदहोश! बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का।
देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।
कल होगा इंसाफ यहाँ किसने क्या किस्मत पाई है।
अभी नींद से जाग रहा युग यह पहली अँगड़ाई है।[2]

भारत को इस जागरण का सुनिश्चित परिणाम प्राप्त होकर ही रहेगा। वह दिन दूर नहीं है जब हम अपने पुरुषार्थ से स्वतन्त्रता देवी का स्वागत करेंगे। आशा से परिपूर्ण अपने उद्गारों को व्यक्त करते हुए कवि ने भारतीय युवकों का उत्साहवर्द्धन करने का सुन्दर प्रयास किया है—

जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोने वाले।
मंजिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोने वाले।[3]

और भीख में उसने युवकों को सदा संघर्षों से जूझने की भिक्षा माँगी है। उसका युवक आपदाओं और मुसीबतों से घबराने वाला नहीं है, अपितु उसका जीवन सदा संघर्षों से ही प्रेरणा लेता रहा है। उसका एकमात्र लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्ति है। उसके

---

१ हुंकार, पृ० ८।
२ वही, पृ० २७।
३ वही, पृ० २४।

लिए वह हर प्रकार की क्रान्ति का समर्थक है। वह तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति में राष्ट्रीयता के उदात्त भावों को भरने के लिए आतुर है। हर स्तर पर वह व्यक्ति को उसकी महान् शक्ति के दर्शन करने के उद्देश्य से 'व्यक्ति' कविता में मचल रहा है। आखिर बूँद-बूँद से सागर भरता है और छोटी सी चिनगारी ही ज्वाला का रूप धारण कर सकती है। व्यक्ति में इसी भावना की अभिव्यक्ति कवि ने की है।

उसे ऐसे क्रान्ति वीरों की आवश्यकता है जो ऊँचे शैल-शिखरों को फाँद सकें और सागर को भी लाँघ सकें। यद्यपि शासन का दुर्वह पर्वत अत्याचारों की अभेद्य दीवार बन खड़ा हुआ है पर आज युवकों को इसे भेदकर स्वतन्त्रता को लाना ही होगा—

दुस्तर पारावार अगम है, सम्मुख शैल प्रांशु दुर्गम है।
है कोई जो इन्हें लाँघकर, करे आज दुर्जय अभिमान।
आगे आओ वीर जवान।[1]

क्रान्ति के तीन सशक्त स्वर

'रेणुका' में कवि का 'विप्लव' समस्त धरा को प्रलय के कराल गाल में विनष्ट कर नई सृष्टि के निर्माण की कल्पना कर रहा था। 'हुंकार' में आते-आते कवि की क्रान्ति भारतीय राजनीतिक सीमाओं से आबद्ध हो गयी है। इसीलिए वे क्रान्ति की ज्वालाएँ सीमा में आवद्ध हो कहीं और अधिक प्रचण्ड रूप धारण कर रही हैं। हुंकार की प्रचण्डाग्नि में वह सामर्थ्य छिपा है जो पराधीनता को सदा के लिए विनष्ट कर सकता है। कवि भारतीय युवकों में स्वाधीनता के लिए वह आग जलाना चाहता है जिसमें विदेशी शासन धू-धू कर भस्म हो जाय।

क्रान्ति किन्हीं भी नैतिक वन्धनों से सर्वथा मुक्त तथा किसी भी आदर्श की सीमाओं से परे होती है। उसकी क्रान्ति पूर्ण नग्न होकर, दासता का प्रतिशोध लेने के लिए मचल उठी है। दिगम्बरी में ऐसा ही क्रान्ति का आह्वान नये युग की भवानी से किया गया है। दिगम्वरी में क्रान्ति का वह अन्धा स्वर नहीं है जो केवल प्रलय की लीलाओं को देखने के लिए आतुर है, किन्तु परिष्कृत सोद्देश्य राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्णतया ओतप्रोत दिगम्बरी का स्वर विश्व साहित्य में विशेष महत्त्व का स्वर है। 'हुंकार' के स्पन्दन में दिगम्बरी और विपथगा क्रान्तिकारी दुर्गा और भवानी के वे दो मान हैं जिनका स्वरूप सिंह के समान ओज और तेज को सँजोये हुए है। क्रान्ति की ऊँची से ऊँची यह कल्पना विश्व साहित्य में वेजोड़ है।

'रेणुका' में हिमालय और शंकर क्रान्ति के प्रतिनिधि हैं किन्तु 'हुंकार' में क्रान्ति का प्रतिनिधित्व युवकों को करना है। नये युग की भवानी युवकों के हृदय को झकझोर कर उन्हें कुछ कर डालने की प्रेरणा दे रही है। वृद्ध भारत में नया यौवन

---

१ हुंकार, पृ० ४५।

हिलोरें ले रहा है। अन्यायी शासन को समूल उखाड़ने के लिए हिमालय की दरी का सिंह बोल उठा है। 'दिगम्बरी' में कवि की हुंकार दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है। विभा की किरणें गहन तिमिर को वेधती हुई नया प्रकाश फैलाती आ रही हैं। कवि का प्रलयंकारी स्वर तूफान की तरह जनमानस की लहरों को उद्वेलित कर रहा है। जनता के हृदय की हर धड़कन सुनने वाले कवि की एक-एक पंक्ति में पराधीनता के प्रति उठता हुआ ज्वार स्पष्ट देखा जा सकता है। वह समय था जबकि विद्युत् की लहरों की तरह भारत एक छोर से दूसरे छोर तक कौंध उठा था और अत्याचारी शासक के विस्फारित नयनों से आर्य जाति का यह नया रूप देखा था—

> कलेजा मौत ने जब जब टटोला इम्तिहाँ में,
> जमाने को तरुण की टोलियाँ ललकार बोलीं।
> पुरातन और नूतन वज्र का संघर्ष बोला,
> विभा सा कौंध कर भू का नया आदर्श बोला।
> नवागम रोर से जागी बुझी ठंडी चिता भी,
> नई शृंगी उठा कर वृद्ध भारत वर्ष बोला।
> दरारें हो गईं प्राचीर में बंदी भवन के,
> हिमालय की दरी का सिंह भीमाकार बोला।[1]

वह हर प्रकार की क्रान्ति का इच्छुक है। उसने विदेशी शासकों के रक्त से अपनी क्रान्ति को नहलाने का यत्र-तत्र प्रयत्न किया है। वह न तो हिंसा से घबराता है, न उसका विश्वास अहिंसा के कोरे आदर्शों पर है। हिंसा, अहिंसा तो साधन मात्र है। उसका उद्देश्य तो एकमात्र स्वतन्त्रता का वरण करना है। इसके लिए वह प्रत्येक प्रकार के साधनों का अनुमोदक है—

> हृदय की वेदना बोली लहू बन लोचनों में,
> उठाने मृत्यु का घूँघट हमारा प्यार बोला।
> नये युग की भवानी आ गई बेला प्रलय की,
> दिगम्बरि ! डोल अम्बर में किरण का तार बोला।[2]

मृत्यु को सिर पर बाँध, कालों के कम्पन पर स्पन्दन करती हुई उसकी चिर कुमारी की क्रान्ति झनन-झनन झनझनाती 'विपथगा' में पूर्ण गम्भीरता के साथ प्रकट हुई है। उसके पायलों की झनझन में असि धारा की झंकार, हास में विद्युत सा अट्टहास, स्वर में सिंह सी हुंकार, श्वासों में लंका के उनचास पवन, अँगड़ाई में धरा का कम्पन परिलक्षित होता है। भुजंग के फणों से सज्जित किरीट, शोण से मण्डित उसका

---

[1] हुंकार, पृ० २२।
[2] वही।

दिव्य भाल, कालाग्नि के धूम का अंजन नयनों में लगा, साक्षात् संहार का परिधान पहने, वह शक्ति के प्रत्येक उपकरण के लिए विनाश का नर्तन करती है।

धरती को रौंदती हुई, शैल शिखरों को भूमिसात करती हुई, स्वर्ग और नरक सभी पर अंगार बरसाती हुई, दसों दिशाओं को ज्वाला से झुलसाती वह सृष्टि पर उथल-पुथल मचाती है। 'विपथगा' के पहले के चरणों में क्रान्ति के स्वरूप का भयानक किन्तु सुन्दर चित्र खींचा गया है परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्रान्ति किन परिस्थितियों में प्रकट होती है। वाणी के प्रतिबन्धों से आकुल, नारी के अपमानों से व्याकुल, निहत्थों पर सशस्त्र प्रहार से उद्विग्न हो, आर्थिक शोषण की पीड़ा, पेट में क्षुधा का दाह, ऋणों का असह्य भार, शासकों के अत्याचारों से जनित क्षोभ ही इस क्रान्ति को अनायास जन्म दे देते हैं। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक शोषण, अन्याय और अत्याचार की करुणांजनक घटनाएँ, सूखी हड्डियों में दधीचि की सी वज्रमय शक्ति को लेकर क्रान्ति स्वयं धधक उठती है। अत्याचारी शासकों का यह चिरन्तन स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डालता है—

डरपोक हुकूमत जुल्मों से लोहा जब नहीं बजाती है।
हिम्मतवाले कुछ कहते हैं तब जीभ तराशी जाती है।
उलटी चालें ये देख देश में हैरत सी छा जाती है।
भट्टी की ओदी आँच छिपी तब और अधिक धुँधुआती है।
सहसा चिंघार खड़ी होती दुर्गा में करने दस्यु दलन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।[1]

विपथगा का तीसरा स्वरूप उसकी क्रान्ति के परिणामों पर प्रकाश डालता है। किस प्रकार वह आतंक फैलाती हुई शासकों के हृदय को भी दहला देती है, उनके सिंहासन डोलने लगते हैं तथा सदियों का मौन भंग हो जाता है। निस्तेज शरीर से प्रचण्ड तेज फूट पड़ता है। उस समय उसका स्वरूप कुछ सिंहनी तथा आहत भुजंगिनी का सा हो जाता है। तब विजयिनी क्रान्ति स्वयं सिंहासनारूढ़ हो जाती है। उस समय शेष स्वयं नत मस्तक होकर उसका अर्चन करते हैं। क्रान्ति का इंगित ही कानून का रूप धारण कर लेता है। वह स्वयं नहीं जानती कि कब कहाँ और कैसे वह प्रकट होगी—

मुझ विपथ गामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी।
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी।
आँखें अपनी बन्द कर देश में जब भूकम्प मचाऊँगी।
किसका टूटेगा शृंग न जाने किसका महल गिराऊँगी।

---

१ हुंकार, पृ० ८४।

निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन गर्जन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।[1]

अन्त में कवि का वह चेतावनी भरा स्वर है जो मानो अंग्रेजी शासन को अपने अन्याय, अत्याचार और दमन चक्र से बाज आने के लिए स्पष्ट संकेत कर रहा है—

अब की अगस्त्य की बारी है पापों के पारावार सजग।
रेशों का रक्त कृशानु हुआ ओ जुल्मी की तलवार सजग।
जानें किस दिन फुंकार उठें पद दलित काल सर्पों के फन,
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।[2]

वेनीपुरी के ये शब्द कदापि अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं कहे जा सकते कि "विश्व साहित्य में क्रान्ति पर जितनी कविताएँ हैं, दिनकर की 'विपथगा' उनमें से किसी के भी समक्ष आदर का स्थान पाने की योग्यता रखती है।"[3]

'रेणुका' में दिनकर की क्रान्ति का स्वर ताण्डव यदि हहराती बाढ़ रूपी नदी है तो 'हुंकार' में उसकी विपथगा क्रान्ति का एक गम्भीर सार है। विपथगा की क्रान्ति सोद्देश्य और सर्वांगपूर्ण क्रान्ति का वह उद्घोष है जो क्रान्ति के पूर्ण स्वरूप और सीमाओं का स्पर्श करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। विपथगा क्रान्ति का वह सुन्दर ओजपूर्ण भावचित्र है जिसमें हम न केवल क्रान्ति के स्वरूप का ही दर्शन कर सकते हैं वरन् 'विपथगा' क्रान्ति के कारण व परिणामों पर भी पूर्ण प्रकाश डालती है। जहाँ एक ओर वह तत्कालीन भारत भू को क्रान्ति से पूर्व की परिस्थितियों में से गुजरने का संकेत करता है वहाँ विपथगा क्रान्ति का वह सूत्र है जो धरती की समस्त सीमाओं का स्पर्श करती हुई प्रत्येक काल और देश में, अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध क्रान्ति के भावों को जन्म देने की क्षमता संजोये है। दिनकर की विपथगा का क्रान्ति-मन्त्र सदैव अजर और अमर रहेगा।

क्रान्ति का तीसरा स्वर 'सामधेनी' में एक आशा, उत्साह और साहस की भावोत्तेजना के साथ प्रकट हुआ है। दिल्ली और मास्को में जंजीरों में कसी हुई जवानी में भी गंगा का पानी खौल रहा है। उसकी अपनी ही धरती ज्वाला उगलने को आतुर है। उसे मास्को से क्रान्ति उधार नहीं लेनी है। वह अन्तरतम से विशुद्ध भारतीय संस्कृति से आप्लावित क्रान्ति को जन्म देना चाहता है, जिसमें स्वदेश का प्यार और मातृभू का दुलार बोल रहा है—

दहक रही मिट्टी स्वदेश की खौल रहा गंगा का पानी।
प्राचीरों में गरज रही है जंजीरों में कसी जवानी।

---

१ हुंकार, पृ० ८६।
२ वही, पृ० ८७।
३ हुंकार, भूमिका।

अर्पित करो समिध आओ हे ! समता के अभिमानी।
इसी कुण्ड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।[१]

उसकी लाल भवानी रूपी क्रान्ति पूर्ण मानवता के सिद्धान्तों पर आधारित है। उसका स्वरूप जहाँ प्रचंड है वहाँ उसमें सौम्य भी भरा हुआ है। उसकी क्रान्ति उन सात्विक भावों से भरी हुई है जिसके पीछे विश्व शान्ति की उदात्त भावना काम कर रही है। उसका उद्देश्य शान्ति है पर क्रिया क्रान्ति पूर्ण है। भारत भूमि से शृंगार करने वाली उसकी क्रान्ति का सुन्दर स्वरूप कितना भावस्पर्शी व मातृभू के प्रेम व हित के राष्ट्रीय भावों से परिपूर्ण है—

कर में लिये त्रिशूल कमंडल दिव्य शोभिनी सुरसरि स्नाता।
राजनीति की अचल स्वामिनी साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता।
भरत भूमि की मिट्टी से शृंगार सजाने वाली।
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व शान्ति का शंख बजाने वाली।[२]

कुछ विचारक समता और क्रान्ति को मार्क्स की ही बपौती समझते हैं। उन्हें जहाँ कहीं समता के साथ क्रान्ति के भाव दीख पड़ते हैं, तुरन्त वे उस पर मार्क्सवादी या साम्यवादी होने का आरोप लगा देते हैं। वे भारतीय संस्कृति के मूल वेद की उस भावना को भूल जाते हैं जो 'संगच्छध्वं संवदध्वं' आदि मन्त्रों में झलकती है। दिनकर के समता या क्रान्ति के भाव मार्क्स. के रथ पर आरूढ़ होकर नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति के रथ पर आरूढ़ हो धर्मध्वज लहराते हुए, आगे बढ़ते हैं।

क्रान्तिकारी दिनकर असमय आह्वान में वीणा के तारों को तोड़-मरोड़कर भैरवी हुंकार में क्रान्ति के लिए शंख निनादित करता है। विश्व के मानचित्र में वह भारत का गौरव-भाल सदा उन्नत देखना चाहता है। तत्कालीन परिस्थितियाँ उसे यौवन के राग शृंगार से हटाकर छलकते अमृत प्याले को ठुकराकर मदमाता गरल पीने के लिए बाध्य कर रही हैं—

फेंकता हूँ लो तोड़ मरोड़ अरी निष्ठुरे बीन के तार।
उठा चाँदी का उज्जवल शंख फूँकता हूँ भैरव हुंकार।
नहीं जीते जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल।[3]

अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध इतना सशक्त स्वर गुंजित करने के उपरांत भी अभी क्रान्तिकारी कवि का हृदय अपने भावों की तुष्टि नहीं कर सका है।

---

[१] सामधेनी, पृ० ६३।
[२] वही, पृ० ६४।
[3] हुंकार, पृ० १०७।

उसकी परिस्थितियाँ उसे बन्धनों में जकड़ रही हैं। वह पराधीन देश का नागरिक है और शासन-चक्र में आबद्ध होने के कारण पराधीनता उसकी वाणी को उन्मुक्त होकर गाने की अनुमति नहीं देती। वह उन्मुक्त वातावरण कदाचित् दिनकर को मिला होता तो इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि वह आकाश में चमकने वाले पुंज दिनकर को धरती पर ला पटक देता। कहीं दिनकर शासन-चक्र के बन्धन में न बँधे होते, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कवि न होकर किसी क्रान्तिकारी दल का नेतृत्व सँभाल, मूक क्रान्ति का साकार नृत्य कराकर ही चैन लेते। इन्हीं भावनाओं का परिचय, उनकी 'परिचय' कविता में स्पष्ट अंकित है। 'परिचय' जहाँ दिनकर के अपने भावों का परिचायक है वहाँ उसमें हर राष्ट्रीय कवि की परिभाषा बिखरी हुई है। महाकवि का वास्तविक स्वरूप उनके 'परिचय' में अन्तर्निहित है—

सुनूँ क्या सिन्धु गर्जन मैं तुम्हारा, स्वयं युग धर्म की हुंकार हूँ मैं।
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का, प्रलय गाण्डीव की टंकार हूँ मैं।
दबी सी आग हूँ भीषण क्षुधा की दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग संसार तू निज को सँभाले प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।
बँधा तूफान हूँ चलना मना है बँधी उद्दाम निर्झर धार हूँ मैं।
कहूँ क्या कौन हूँ क्या आग मेरी! बँधी है लेखनी लाचार हूँ मैं।

श्रद्धा के फूल

कृतज्ञ कवि इस क्रान्ति-यज्ञ का स्वयं पुरोहित है। वह केवल देश के युवकों को स्वतन्त्रता आन्दोलन में झोंककर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेता। देश की स्वतन्त्रता के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाले वीरों का कवि स्तवन करता है जिन्होंने अपना यौवन देश को अर्पित कर लाखों के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये हैं—

पीकर जिनकी लाल शिखाएँ,
उगल रही लू लपट दिशाएँ।
जिनके सिंहनाद से सहमी,
धरती रही अभी तक डोल।
कलम आज उनकी जय बोल।[1]

अपनी प्राण प्रिया के मोह तथा प्राण खण्डों की ममता छोड़ भूख और प्यास की बाधाओं से जूझते हुए, अपने रक्त से देश का नया इतिहास लिखने वालों के चरणों में कवि प्रणाम कर रहा है। काल कूट ही जिनका आहार रहा और जो सदा मरण का त्यौहार मनाते रहे, जिनकी अभिलाषा राष्ट्र के लिए हँसते-हँसते बलि हो जाना मात्र थी, वह अपने कृतज्ञता भरे उद्गार 'प्रणति' में व्यक्त कर रहा है—

---

[1] हुंकार, पृ० ४२।

दुखी स्वयं जग को दुख लेकर,
स्वयं रिक्त सब को सुख देकर।
जिनका दिया अमृत जग पीता,
काल कूट उनका आहार।
जलन एक जिनकी अभिलाषा,
मरण एक जिनका त्यौहार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।[1]

उसकी 'प्रणति' आरती का थाल लिये खड़ी है। वह न केवल उन्हीं का अर्चन करती है जो शहीद हो चुके हैं बल्कि वह उनकी भी उपासिका है जो शहीद हो रहे हैं और इससे भी आगे बढ़कर, आत्मोत्सर्ग की भावना से जो भी आगे आयेंगे वह उन सभी का जय-जयकार करेगी। इस प्रकार यह क्रान्ति-पाठ कृतज्ञता भरे स्वर में क्रान्ति-कारियों का आह्वान कर रहा है—

फिर डंके पर चोट पड़ी है, मौत चुनौती लिये खड़ी है,
लिखने चली आग अम्बर पर, कौन लिखायेगा नाम ?
आने वालो तुम्हें प्रणाम।

'सिपाही' कविता में प्रत्येक व्यक्ति को सैनिकोचित अनुशासन की प्रेरणा देते हुए कवि ने उन अज्ञात सैनिकों के मूक बलिदान का स्मरण कराया है, जिनके साहस और शौर्य की कहानी से संसार अपरिचित ही रह जाता है। किन्तु प्रकृति के वे समस्त उपकरण जो अपने में रक्तिम आभा लिये हुए हैं, उन्हीं अपरिचित सैनिकों के स्थायी स्मारक हैं। उनकी लालिमा सैनिकों के बलिदान को चिरन्तन स्वरूप प्रदान कर रही है। क्षितिज से उगते और डूबते सूर्य की सुनहरी रक्तिम आभा, गुलाब के फूलों में मंदमंद मुस्कराती लाली उन्हीं अज्ञात वीरों की कहानी को अमरत्व प्रदान कर रही है। कवि ने आत्मोत्सर्ग को इसी उदात्त भावना से अनुप्राणित करने का प्रयत्न किया है। जो बलिदान न तो किसी प्रकार का मूल्य ही चाहता है, न किसी प्रकार का स्मारक, वह अपने कर्त्तव्य पर हर तरह के स्वार्थ से ऊपर उठ, एकान्त शान्त उत्सर्ग करने की प्रेरणा दे रहा है।

दिनकर की आत्म-बलिदान की भावना निहत्थे हाथों से दनुजों की तृष्णा शान्ति के लिए मूक बलि दे देने की भावना नहीं है। उसके आत्म-बलिदान में उस सैनिक का आत्म-बलिदान छिपा हुआ है जो स्वयं दानवता का संहार करते हुए मृत्यु का आलिंगन करता है। भारतीय सीमाओं के पार, सुषाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में, आजाद हिन्द फौज ने स्वतन्त्रता का ध्वज फहराया था। आंजाद हिन्द का सैनिक

---

१ हुंकार, पृ० ४३।

अन्तिम समय में सरहद के पार से जो सन्देश दे रहा है उसमें भी आत्म-बलिदान की भावना अन्तर्निहित है, जो मरते-मरते भी औरों के जिलाने की क्षमता रखती है। समरांगण में मृत्यु की अन्तिम श्वासें गिनता हुआ भी सैनिक, अपनी मुट्ठी में स्वतन्त्रता के ध्वज को थामे हुए जो सन्देश दे रहा है, वह अत्यन्त भावपूर्ण है, साथ ही राष्ट्र के जनमानस को एक नई चेतना देता सा प्रतीत हो रहा है—

यह झंडा जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है।
छिन न जाय इस भय से अब भी कसकर पकड़ रही है।
थामो इसे शपथ लो ! बलि का कोई क्रम न रुकेगा।
चाहे जो हो जाय, मगर झंडा नहीं झुकेगा।
इस झंडे में शान चमकती है मरने वालों की।
भीमकाय पर्वत से मुट्ठी भर लड़ने वालों की।[1]

(ग) असन्तोष व तज्जनित विचार-प्रेरणा

एक ओर दिनकर के हृदय से ज्वालामुखी फूट रहा था परन्तु दूसरे क्षण उसकी दृष्टि महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाले कांग्रेस के उस आन्दोलन पर जा टिकती थी जिस आन्दोलन का कलेवर अहिंसा, प्रेम, दया और करुणा को लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य से लगा हुआ था। भारतीय जनमानस भी संघर्ष के उपरान्त अपने तेज और ओज को खोता चला जा रहा था। निरन्तर पराधीनता के कारण उसका क्षात्रतेज भी तिरोहित हो चुका था। १८५७ की विफल क्रान्ति के बाद अब वह फिर से रक्तमयी क्रान्ति के लिए न तो समुद्यत था और न उसमें उसका विश्वास ही शेष रह गया था। फिर भी समाज में एक वर्ग ऐसा था जिसकी शिराओं में पूर्वजों का शौर्य अन्यायी के रक्तपात के लिए मचल रहा था। सुभाषचन्द्र बोस इन्हीं आँखों को लेकर आगे बढ़े। यहाँ तक कि स्वदेश में अनुकूल वातावरण को न पा तथा अपनों ही के द्वारा अपना प्रबल विरोध देख, उन्हें मातृभूमि को छोड़कर, अंग्रेजी शासन की सीमाओं से परे आजाद हिन्द फौज की स्थापना करनी पड़ी।

उधर विदेशी शासक स्वयं यह अनुभव कर रहा था कि भारतीय जनता जाग चुकी है और उसका शासक अधिक दिनों तक भारत में टिक न सकेगा। इसलिए महात्मा गांधी को विदेशी शासक ने अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया। दूसरी ओर गांधीजी के जीवन में समाया हुआ तप और त्याग भारतीय जीवन को मोह रहा था। उसका परिणाम यही हुआ कि गांधीजी के नेतृत्व में चलने वाला आन्दोलन अपेक्षाकृत अन्य आन्दोलनों से अधिक लोकप्रिय हो गया। इस आन्दोलन में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अपना योगदान दे सकता था।

---

[1] सामधेनी, पृ० ६६-६७।

सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के बाद विदेशी शासन एक कुटि-ल नीति के पथ पर चल रहा था। "फूट डालो और राज्य करो" उसकी नीति का महत्त्वपूर्ण सूत्र था। अपनी इसी नीति के आधार पर भारत को दो खण्डों में बाँटने की योजना उसने बहुत पहले ही बना ली थी। अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए उसे भी एक ऐसे ही पक्ष की आवश्यकता थी जो क्षात्र धर्म से कहीं आगे अधिक मानवता-वादी दृष्टिकोण को लेकर भारतीय जनता का सफल नेतृत्व कर सके। यही वह दुर्बल अंग था जिसके कारण कांग्रेस को अंग्रेजों ने प्रथम राजनीतिक संस्था के रूप में बहुत महत्त्व दिया। कांग्रेस के अत्यधिक सरल तथा मानवतावादी दृष्टिकोण का पूरा-पूरा लाभ उठाकर तथा जिन्ना की धर्मान्धता व विष से भरी साम्प्रदायिकता को और अधिक हवा देकर, अन्ततोगत्वा अंग्रेज अपनी कुटिल नीति में सफल हुए और सदा-सदा के लिए भारत उपमहाद्वीप दो खण्डों में विभक्त हो गया।

दूरदृष्टा कवि दिनकर इस वस्तुस्थिति को भली प्रकार भाँप चुके थे। वे जानते थे कि अहिंसा के मार्ग पर चलकर थोथे शान्तिवादी सिद्धान्तों के आधार पर तथा बिना रक्त बहाये की जाने वाली क्रान्ति हमें अपनी मनचाही स्वतन्त्रता कदापि नही दिला सकती। मनोवांछित स्वतन्त्रता तो सशक्त हाथों से, विदेशी शासकों का मान मर्दन करके ही छीननी पड़ेगी। इसलिए काव्य क्षेत्र के उत्तरदायित्व को वहन करते-करते उन्होंने क्षत्रियोचित क्रान्ति का आह्वान किया, परन्तु एक ओर शासन के चक्र में बँधा हुआ कवि खुलकर अपनी विचारधारा को प्रत्यक्ष रूप में जनता-जनार्दन के सम्मुख प्रस्तुत करने में असमर्थ था। शासन की वक्र दृष्टि के नीचे रहते हुए भी उसने सामर्थ्यानुसार जिस क्रान्ति का उद्घोष किया, दुर्भाग्य से उसके समाज के कर्णधार स्वयं उस क्रान्ति के प्रबल विरोधी थे। इन दोनों ही परिस्थितियों से कवि-हृदय में जो असन्तोष की भावना उद्बुद्ध हुई वही असन्तोष उसके काव्य में यत्र-तत्र बिखरा हुआ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अपने असन्तोष के स्वर को कितने संयत शब्दों में उसने व्यक्त किया है—

ऊब गया हूँ देख चतुर्दिक अपने।
अजा-धर्म का ग्लानि हीन प्रवर्तन।
मैं मनुष्य हूँ दहन धर्म है मेरा,
मृत्ति साथ ही अग्नि स्फुलिंग भी हैं मुझ में।

तुम कहते हो शिखा बुझा दो,
तो क्या पौरुष शेष रहेगा ?
तृष्णा हार कर सिंह भले ही फूले,
परमोज्ज्वल दैवत्व प्राप्ति के मद में।

पर हिंस्रों के बीच भोगना होगा,
नख रद के क्षय का अभिशाप उसे ही ।[१]

इसका यह असन्तोष का स्वर विचार-सम्पुष्ट काव्य चेतना से अनुप्राणित है। वह जानता था कि अंग्रेज शासक कितना क्रूर तथा धूर्त हिंस्र जन्तु है। उस समय जब भारत के अधिकांश कवि अजाधर्म की बाढ़ में वह रहे थे, तब शासन-चक्र की नाक के नीचे बैठकर भारतीय जनता में अपने तूर्यनाद से सिंहत्व की भावना भरने वाला एकमात्र कवि दिनकर ही काव्याकाश में प्रचण्ड तेजस्वी रूप में देदीप्यमान हो रहा था। उसके असन्तोष के उत्तर भी जनमानस में नई चेतना को उभारने की क्षमता रखते हैं।

महाकवि दिनकर महात्मा गांधी के उस व्यक्तित्व का अवश्य प्रशंसक था किन्तु समष्टि नेता के रूप में उसने गांधीजी की अहिंसात्मक रीति-नीति का खुलकर विरोध किया। परन्तु उस विरोध में भी उसकी जो हित की भावना अन्तर्निहित है, वह बहुत अधिक महत्त्व रखती है। गांधीजी की अहिंसक नीति से असन्तुष्ट हो 'यज्ञोन्मुखी' में कवि के ये उद्‌गार अदम्य शौर्य और साहस के प्रतीक हैं—

महाश्चर्य संदीप्ति भूलकर अपनी,
सिंह भीत हो छिपा घनान्ध गुहा में,
जी करता है इस कदर्य के मुख पर,
मल दूँ लेकर मुट्ठी भर चिनगारी ।[२]

कवि अपने कर्त्तव्य-पथ से रंचमात्र भी विचलित नहीं हो सकता। काश ! कवि दिनकर की इस भावना का भारतीय कर्णधारों ने स्वागत किया होता, तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता। जब लोकमान्य तिलक सरीखे युगनायक तथा सुभाषचन्द्र बोस जैसे क्रान्तिकारी नेताओं से देश वंचित हो गया, ऐसी स्थिति में इस स्वतन्त्रता की यज्ञाग्नि के पुरोहित का उसे सर्वथा अभाव दृष्टिगत हुआ। 'सामधेनी' में उसकी यही भावना असन्तोष के आवरण में नेतृत्व खोजती हुई तड़प रही है—

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल यजमान अधीर,
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ,
देश को दे ज्वाला के तीर ।[३]

---

[१] हुंकार, पृ० ६६-६७।
[२] वही, पृ० ६५।
[३] सामधेनी, पृ० ६।

ऐसी विषम परिस्थिति में कवि का असन्तोष और भी अधिक उग्र रूप धारण कर रहा है और वह जनता की सुप्त भावनाओं को धिक्कारते हुए कह उठा—

जिनके लिए मैंने कण्ठ फाड़ कर किया नाद।
माधुरी जली मेरी न जला उनका प्रमाद।
आखिर क्लीवों को देख गई धीरता छूट।
धरती पर मैंने छिटक दिया विष कालकूट।[१]

सन् ४२ में भारतीय जनक्रान्ति अँगड़ाई लेकर जब जाग उठी, तब देश के इस छोर से उस छोर तक ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अंग्रेजी शासन इस क्रान्ति की ज्वाला में जलकर भस्मसात् हो जायेगा। करो या मरो की प्रेरणा के साथ 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' के जो सशक्त स्वर दिग्दिगन्त में गूँज उठे उसकी प्रतिक्रिया महात्मा गांधी की अहिंसात्मक नीति पर कुछ विपरीत सी हो गयी जिसके परिणामस्वरूप जनमानस के हृदय में उफनता हुआ तूफान सहसा शान्त हो गया। गांधीजी के इन क्रियाकलापों से, नवयुवकों के हृदय में क्षोभ और असन्तोष की जो लहर व्याप्त हो उठी, दिनकर की कविता 'जवानी के झण्डे' में उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। कल तक जहाँ शेरों की हुंकार से देश का क्षोभ गुंजित हो रहा था, वहाँ आज सहसा कैसी खामोशी व्याप्त हो गयी—

सहम कर चुप हो गये थे समुंदर, अभी सुनके तेरी दहाड़।
जमीं हिल रही थी, जरां हिल रहा था, अभी हिल रहे थे पहाड़।
अभी क्या हुआ किसके जादू ने, आकर के शेरों की सी दी जबान।
खड़ा हो जवानी का झण्डा उड़ा, ओ मेरे देश के नौजवान।[२]

भारतीय नवयुवक को फिर से दहाड़ने की प्रेरणा देते हुए कवि ने उसे अपने स्वातन्त्रय संग्राम के उस रक्त-रंजित इतिहास का स्मरण दिलाया है, जिस रक्तिम नदी को पार करके वह मंजिल के बहुत निकट पहुँच चुका है। अब उसे फिर से एक बार सशक्त रूप से स्वतन्त्रता आन्दोलन को हवा देनी होगी। इसी क्रान्ति की भावना को उद्बुद्ध करने के उद्देश्य से वह 'जवानी का झण्डा' फहरा रहा है—

गरज कर बता सब को मारे, किसी के मरेगा नहीं हिन्द देश।
लहू की नदी तैरकर आ गया है, कहीं से कहीं हिन्द देश।
लड़ाई के मैदान में चल रहे, लेके हम उसका उड़ता निशान।
खड़ा हो जवानी का झंडा उड़ा, ओ मेरे देश के नौजवान।[3]

---

१ सामधेनी, पृ० ५४।
२ वही, पृ० ७१।
३ वही, पृ० ७२।

किन्तु जवानी के इस झण्डे पर गांधीजी की अहिंसात्मक नीति की जो मार पड़ रही थी उससे क्षुब्ध हो दिनकर ने ईश्वर से ही देश की रक्षा के लिए नई प्रेरणा व शक्ति भारतीय जनमानस में फूँकने की प्रार्थना की—

दाता पुकार मेरी संदीप्ति को जिला दे।
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।[१]

देश के कर्णधार भारत की भाग्य नौका को न जाने किधर लिये जा रहे हैं, कहीं ये उसको मँझदार में ही न डुबो दे, यह आशंका कवि को खिन्न किये हुए थी। चारों ओर क्षोम ही क्षोभ दृष्टिगोचर हो रहा था, अब एकमात्र भगवान ही सबका सहायक है। सिंह पुत्र किस तरह से सिर झुकाये खड़े हैं, जन-जीवन में निशा सी स्तब्धता छा गयी है—

आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है।
बल-पुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है।
निर्वाक् है हिमालय गंगा डरी हुई है।
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।[२]

दूसरी ओर साम्यवादी दल जनता को झूठी विश्व मानवता के मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न कर रहा था। उनकी दुष्ट नीति से दिनकर के हृदय में जो भावनाएँ उमड़ पड़ी हैं वह दिल्ली और मास्को में स्पष्ट प्रतिध्वनित हो रही हैं। जहाँ साम्यवादी रीति-नीति से कवि सर्वथा असन्तुष्ट है वहाँ उसके ये उद्गार जनता को साम्यवाद के चंगुल से बचने की चेतावनी दे रहे हैं। जिन लोगों को दिल्ली से भी बढ़कर मास्को आकर्षित कर रहा है उन पर व्यंग करते हुए वे कहते हैं—

भ्रमित ज्ञान से जहाँ जाँच हो रही, दीप्ति स्वातन्त्र्य समर की।
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को बिसार सुधि अपने घर की।
जहाँ मृषा सम्बन्ध विश्व, मानवता से नर जोड़ रहा है।
जन्मभूमि का भाग्य जगत की, नीति-शिला पर फोड़ रहा है।[3]

इस प्रकार दिनकर के असन्तोष से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि वह न तो कांग्रेसी अहिंसात्मक नीति को पसन्द करता है और न ही साम्यवादी हिंस्र आन्दोलन को। दिनकर का आन्दोलन एक नये ओज व तेज को लिये हुए पूर्णतः वह राष्ट्रीय

---

[१] सामधेनी पृ० ५६।
[२] वही, पृ० ५७।
[3] वही, पृ० १०७।

आन्दोलन है जिसमें भारतीय संस्कृति तथा मानवता के वे यथार्थ आदर्श कूट-कूट कर भरे हुए हैं जिनमें अतुल शौर्य, साहस, धर्मनिष्ठता, समता तथा मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम की भावनाएँ सन्निहित हैं। उसका एकमात्र उद्देश्य मातृभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त करा स्वतन्त्रता के उस उत्तुंग शिखर तक ले जाना है जहाँ एक ऐसे समाज की स्थापना हो जो सुख, शान्ति, समता, बन्धुत्व के मानवीय गुणों से परिपूर्ण हो। इन्हीं समस्त अभावों को देख-देखकर दिनकर के हृदय में रह-रहकर असन्तोष की लहरें उठती हैं और वह ज्ञान व तर्क के आधार पर वर्तमान में चल रही रीति-नीतियों पर कुठाराघात करता है।

दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं में दो सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया गया है। एक तो वह देशवासियों को 'शठे शाठ्यम् समाचरेत्' या 'विषस्य विषमोषधम्' की यथार्थवादी नीति पर चलने की प्रेरणा देता है और दूसरी ओर सामाजिक शोषकतावादी नीति का तिरस्कार करता है जिसने समाज के अन्दर एक ऐसा महान् अन्तर डाल रखा है जिससे एक वर्ग तो केवल ऐश्वर्य और भोग-विलास में रत रहता है और दूसरा वर्ग पसीने की बूँदें बहाकर भी दो समय रोटी और दो गज वस्त्र के के लिए भी तरसकर रह जाता है।

विचारों का प्रेरणा स्रोत

कवि का 'कुरुक्षेत्र' इसी चिन्तन को लेकर आगे बढ़ा है। अपनी समस्त शक्ति को सँजोकर उसने क्रान्ति का उद्घोष किया, परन्तु समाज का प्रमुख वर्ग उसकी भावनाओं को हृदयंगम न कर सका, तब उसे इतिहास के तदनुरूप पात्रों का सहारा लेना पड़ा जिनके प्रति भारतीय जनता श्रद्धा और आदर की भावना रखती है। 'कुरुक्षेत्र' के पृष्ठों पर एक ओर जहाँ यद्धभीरु युधिष्ठिर पश्चाताप के आँसू बहाता है, वहाँ भीष्म हिंसा-अहिंसा, पाप-पुण्य, सुख-शान्ति आदि के कारण व परिणामों पर प्रकाश डालते हुए युधिष्ठिर की शंकाओं का पूर्णतया परिहार करते हैं। महात्मा गांधी की अहिंसक तथा अत्यन्त आदर्शवादी नीति से क्षुब्ध हो 'हिमालय' कविता में कवि ने अहिंसात्मक नीति को सम्बोधित करते हुए कहा था—

> रे रोक युधिष्ठिर को तू न यहाँ, जाने दे उसको स्वर्ग धीर।
> पर फिरा हमें गाण्डीव गदा, लौटा दे अर्जुन भीम वीर।[1]

इन पंक्तियों में गांधीजी के प्रति दिनकर का असन्तोष और युद्ध नीति में आध्यात्मवादी प्रवृत्ति का विरोध तथा साहस व शौर्य का अनुमोदन स्पष्ट झलकता है। दिनकर अपनी रीति-नीति को तथा अहिंसक आन्दोलन के प्रति अपने तर्कपूर्ण असन्तोष को

---

[1] रेणुका, पृ० ७।

'कुरुक्षेत्र' में विचार सम्पुष्ट काव्य चेतना के आधार पर प्रतिपादित करता है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—

> रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
> रोग लेकिन आ गया जब पास हो,
> तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या,
> शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से।[1]

इस मिष्टान्नवादी प्रकृति के प्रति कवि का असन्तोष झलकता है। रोग की विशुद्ध चिकित्सा तो तिक्त औषधि से ही सम्भव है। अत्याचार करने वाले से कहीं अधिक अत्याचार सहने वाला पापी होता है। स्वत्व की रक्षा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पाप नहीं, पुण्य है। भीष्म के मुख से इस वीरोचित भाव को कवि यों प्रकट करता है—

> छीनता हो स्वत्व कोई और तू,
> त्याग तप से काम ले यह पाप है।
> पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
> बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

वह विनय, तप और त्याग का विरोधी भी नहीं है किन्तु ये गुण व्यक्तिगत जीवन में आध्यात्मिक विकास के लिए अवश्य श्रेयस्कर हैं किन्तु समाज व राष्ट्र की रक्षा के लिए उपर्युक्त गुण, दोष बनकर विघातक सिद्ध होते हैं। कवि-हृदय में हिंसा और अहिंसा के प्रश्न को लेकर जो अन्तर्द्वन्द्व एक लम्बी अवधि से चला आ रहा था, स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्तिम चरण पर बैठकर उसका सुन्दर विचारपूर्ण चिन्तन मस्तिष्क के आधार पर 'कुरुक्षेत्र' के अध्यायों में किया गया है। उस समय न केवल अहिंसात्मक नीति के आधार पर कांग्रेस विदेशी शासकों से ढुलमुल नीति बरत रही थी किन्तु ऐसी देश विघातक प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के सामने भी वह त्याग के नाम पर घुटने टेकती हुई दिखाई दे रही थी जिससे दिनकर के हृदय में क्षोभ और भीषण अन्तर्द्वन्द्व छिड़ गया था। उसी के परिणामस्वरूप 'कुरुक्षेत्र' में उसका हृदय कहीं अधिक गम्भीर रूप धारण कर बोल रहा है। उसका उद्देश्य भारतीय जनमानस में उस क्षात्र धर्म की भावना को भरना था जो किसी समय अर्जुन के हृदय में कृष्ण ने और युधिष्ठिर के मन में भीष्म ने भरी थी।

भारतीय जनमानस अर्जुन की तरह व्यामोह में फँसा हुआ था। वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर एक भीषण रक्तपात की काल्पनिक स्थिति से बचने के उद्देश्य से भारत

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० १९।

माता के विभाजन को भी अंगीकृत करना चाहता था। ऐसे समय दिनकर की वाणी से 'कुरुक्षेत्र' की जो गीता प्रस्फुटित हुई है, भले ही उसका प्रभाव तत्कालीन समाज पर इतनी तीव्रता से न पड़ा हो, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त आज दिनकर की कुरुक्षेत्रीय भावना शासन व जनता दोनों का समान रूप से पथ-प्रदर्शन करती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। जनता के हृदय से दिनकर का वह स्वर आज देश के इस छोर से उस छोर तक प्रतिध्वनित हो रहा है जिसमें गांधी का न तो विनय शेष है, न ले-देकर शान्ति स्थापित करने वाली नीति ही।

हिंसा और अहिंसा के बीच में समष्टि और व्यक्ति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कवि की यह विभाजक रेखा ऐसे यथार्थवादी सिद्धान्तों की प्रस्थापना कर रही है जिसमें व्यष्टि और समष्टि दोनों का ही विकास सम्भाव्य है—

व्यक्ति का है धर्म तप करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी।
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता है हमें तप त्याग को।

जब राष्ट्र का सामना पशु बल से होता है, उस समय मानवता की भावना प्रभाव-शून्य हो जाती है। उस समय राष्ट्र के शस्त्र बल का प्रयोग ही प्रभावपूर्ण होगा। विशुद्ध अंतःकरण से नेहरू के अन्तर्मन से "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का जो स्वर फूटा था, देखते ही देखते हिमालय के शिखरों पर उसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ा। मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति हिंस्र पशुओं पर कभी भी प्रभाव नहीं डाल सकती—

कौन केवल आत्म बल से जूझ कर, जीत सकता देह का संग्राम है।
पाशविकता खड्ग कब लेती उठा, आत्म बल का एक बल चलता नहीं।[1]

शान्ति का स्वर यदि कभी सफल भी हो सकता है तो उसके लिए अपरिमेय शक्ति-संचय की भी आवश्यकता होती है। हम क्षात्र शक्ति के पुंज बनकर ही मानवता के वास्तविक सिद्धान्तों का उचित मूल्यांकन कराने में समर्थ हो सकते हैं। दुर्बल हृदय से निकली हुई दया की भावना भीरुता से लांछित होती है। दुर्बल हाथों से दिया क्षमा दान कायरता की परिभाषा बनकर रह जाता है। इसलिए राष्ट्र में भुजंग की सी शक्ति को धारण करने की यह प्रेरणा कितनी तर्क-संगत है। जब तक दुष्टों का दमन करने के लिए हम शक्ति रूपी भयंकर से भयंकर गरल को असीम ओज और तेज के रूप में धारण नहीं कर लेते तब तक हमारी दया, करुणा, क्षमा आदि समस्त भावनाएँ दुर्बलता की ही परिचायिका रहेंगी। कांग्रेसी रीति-नीतियों से क्लांत दिनकर

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० २२।

का प्रतिक्रियात्मक हृदय किस प्रकार राष्ट्र में नई शक्ति का संचार करने के लिए प्रयत्नशील है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या ? जो दंतहीन, विषरहित विनीत सरल हो।[1]

इस तरह दिनकर की स्वतन्त्रता से पूर्व की काव्यसाधना भारतीय स्वतन्त्रता को चिरस्थायी और सशक्त बनाने की वह पृष्ठभूमि है जिस पर ही एक न एक दिन राष्ट्र अपने आप को सँवार सकेगा।

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० ३५।

पञ्चम किरण

वर्तमान के व्योम पर
(स्वातन्त्र्योत्तर काल)

वर्तमान के व्योम पर (स्वातन्त्र्योत्तर काल)

(क) यथार्थवादी स्वर

(ख) असन्तोष का स्वर

(ग) क्रान्तिकारी स्वर

वर्तमान के व्योम पर
(स्वातन्त्र्योत्तर काल)

हर्ष और विषाद

१५ अगस्त, १९४७, निशा का अर्द्धप्रहर स्वतन्त्रता देवी की आरती उतार रहा था। उन्मुक्त गगन में लाल किले की प्राचीर पर भारत का राष्ट्रीय तिरंगा ध्वज फहर उठा था। स्वतन्त्रता का मंगल प्रभात अपनी मुस्कान भरी आभा चारों ओर बिखेर रहा था। भारतीय उद्यान में स्वतन्त्रता की कोयल कूक उठी। उसके स्वर में स्वर देकर दिनकर के कण्ठ से जो हर्षोद्गार फूटा, वह आज भी उस दिन के उल्लास की छटा छिटका रहा है—

परवशता सिन्धु तरण करके तट पर स्वदेश पग धरता है।
दासत्व छूटता है सिर से पर्वत का भार उतरता है।
मंगल मुहूर्त कवि ! उगो हमारे क्षण ये बड़े निराले हैं।
हम बहुत दिनों के बाद विजय का शंख फूंकने वाले हैं।
भगवान् साथ हों आज हिमालय अपनी ध्वजा उठाता है।
दुनिया की महफिल में भारत स्वाधीन बैठने जाता है।[1]

स्वतन्त्रता प्राप्ति का महायज्ञ, अहिंसक आन्दोलन की भावना तथा क्रान्तिकारी उत्तेजना का मिश्रित परिणाम लेकर आया था जिसे हमने आज जैसे-तैसे पूर्ण किया और खण्डित भारत की स्वतन्त्रता के दायित्व को अपने कन्धों पर रखा। स्वतन्त्रता प्राप्ति से भी कहीं अधिक स्वतन्त्रता की रक्षा का दुर्वह दायित्व हमें उस दिन लेना पड़ा था, किन्तु अभी स्वतन्त्रता की उषा मुस्कान भी बिखेर न पायी थी कि यह विभाजित स्वतन्त्रता रक्तमयी हिंसा से बचने के लाखों उपाय खोजने के बाद भी रक्त-रंजित हो उठी। जब साम्प्रदायिक उत्तेजना मानवता के सिर पर दैत्य के रूप में मँडरा रही थी तो मानों अहिंसक आन्दोलन स्वयं पश्चाताप कर रो उठा था। प्रसन्नता वहाँ विषमता में परिणत हो गयी। भारत का हृदय कुटिल शासकों द्वारा खण्डित किया जा चुका था। तब दिनकर का यह उद्घोष चुनौती पूर्ण स्वर में कह उठा—

आजादी नहीं चुनौती है यह बीड़ा कौन उठायेगा।
खुल गया द्वार पर कौन देश को मन्दिर तक पहुँचायेगा।

---

[1] धूप और धुआँ, पृ० ३८-३९।

है कौन हवा में जो उड़ते इन सपनों को साकार करे ।
है कौन उद्यमी नर जो इस खण्डहर का जीर्णोद्धार करे ।
मां का अंचल है फटा हुआ इन दो टुकड़ों को सीना है ।
देखें देता है कौन लहू दे सकता कौन पसीना है ।[1]

उधर दानवता के हाथ भारत के किरीट कश्मीर की ओर भी आगे बढ़ रहे थे, जबकि महात्मा गांधी को भी अहिंसा के आदर्शों को तिलांजलि देकर भारतीय सेना की पीठ थपथपानी पड़ी थी। स्वत्व रक्षा के लिए भारत का प्रथम सैनिक अभियान दिनकर की भावनाओं का मानो स्वागत करता हुआ आगे बढ़ रहा था। लौह पुरुष पटेल के प्रयत्नों द्वारा दिनकर के स्वप्नों का भारत साकार रूप धारण करने को था।

जब देश में वह झूठी भूख प्रदीप्त हो चुकी थी जो लम्बे समय से ज्वरग्रस्त मनुष्य के उदर में स्वस्थ होने के उपरान्त जगा करती है, अनेक देशभक्त पद और कुर्सियों की होड़ में अपना-अपना स्थान निर्धारित करने के लिए प्रयत्नशील थे, राष्ट्रकवि दिनकर तब भी कर्त्तव्य के पथ पर सजग रहे और सैनिकों के सम्बन्ध में लिखा गया उनका प्रयाण गीत आशीष के स्वर में राष्ट्र को उत्साह से भर रहा था—

जिम्रो जिम्रो अय देश ! कि पहरे पर ही जगे हुए हैं हम ।
वन पर्वत हर तरफ चौकसी में ही लगे हुए हैं हम ।
हिन्द सिन्धु की कसम कौन उस पर जहाज ला सकता है ।
सरहद के भीतर कोई दुश्मन कैसे आ सकता है ।
पर की हम कुछ नहीं चाहते अपनी किन्तु बचायेंगे ।
जिसकी उँगली उठी उसे हम यमपुर पहुँचायेंगे ।
हम प्रहरी यमराज समान ।
जिम्रो जिम्रो अय हिन्दुस्तान ![2]

प्रत्यक्ष में कुटिल विदेशी शासक भारत को दो खण्डों में विभाजित कर रहा था परन्तु अपनी कुटिल चाल के पीछे वह जो षडयंत्र रच रहा था उन षडयन्त्रों में एक ऐसा गर्हित स्वप्न छिपा था, जिसमें वह महान् भारत को अनेक रियासत रूपी खण्डों में विभक्त कर सदा के लिए विशाल राष्ट्र की शक्ति को छिन्न-भिन्न करना चाहता था। परन्तु आधुनिक युग के कौटिल्य सरदार पटेल ने अपने नीति-चातुर्य से देखते-देखते छह सौ रियासतों को एक ही विशाल बन्धन में ऐसा ग्रथित कर दिया कि भारत

---

[1] धूप और धुआँ, पृ० ४२ ।
[2] वही, पृ० ३६ ।

फिर से एक संगठित रूप में आबद्ध हो गया। साम्प्रदायिकता के विषैले कीटाणुओं का कुछ प्रभाव हैदराबाद के निजाम पर भी गहरा पड़ा था परन्तु लौह पुरुष ने योग्य चिकित्सक के समान अवसर पाकर आखिर नश्तर चला ही दिया। उधर जाने-पहचाने कश्मीर के मोर्चे पर आगे बढ़ती हुई हमारी सेनाएँ सहसा रुक गयीं और भारत ने पाकिस्तान के आक्रमण के विरुद्ध, कश्मीर के विवाद को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत कर दिया। कश्मीर विवाद को सदा-सदा के लिए एक उलझन बनाये रखने की इस चाल के पीछे निश्चय ही उन कुटिल देशों का अप्रत्यक्ष हाथ रहा है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपना दलीय बहुमत रखते थे। इन्हीं देशों की कुटिल नीति का यह परिणाम है कि आज तक भारत का अविभाज्य अंग कश्मीर पाकिस्तानी आक्रमण से मुक्ति न पा सका और यह प्रश्न एक ही देश के दो खण्डों के बीच विषम समस्या के रूप में स्थित है।

आदर्शों की ओट में

भारत के कर्णधारों ने गांधीजी की आदर्शवादी अहिंसात्मक नीति को राष्ट्रीय नीति का मुख्य आधार बनाया। गांधीजी की सत्य अहिंसात्मक नीति एकांगी नीति थी। गांधीजी के व्यक्तित्व में इस नीति के पीछे जो आध्यात्मिक दृढ़ता और तप-त्याग की शक्ति थी उसी शक्ति के आधार पर उनकी सत्य, अहिंसा कुछ जीवन लेकर आगे बढ़ती थी किन्तु गांधीजी की विरासत में भारतीय शासकों ने उस सत्य और अहिंसा के बाह्य स्वरूप को ही अपनी नीति का आधार बनाया और वे उस शक्ति की सर्वथा उपेक्षा कर गये जो महात्मा गांधी के इस बाह्य स्वरूप की आन्तरिक शक्ति थी। आध्यात्मिक दृढ़ता, तप-त्याग, संयम के उन सभी गुणों को तिलांजलि देकर थोथे गांधीवाद के सिद्धान्तों पर कांग्रेस भारत के भाग्य का निर्माण करना चाहती थी। महात्मा गांधी के आध्यात्मिक मूल्यों और तप-त्याग की उपेक्षा का ही परिणाम यह हुआ कि देश के शासक तथा देश की जनता दोनों में ही ऐसे दोषों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें स्पष्ट रूप से एकरूपता झलक रही थी। उधर जनता के प्रतिनिधि पद-लोलुपता का फाग खेल रहे थे। येन-केन प्रकारेण अपने स्वार्थ की पूर्ति ही उनका मुख्य लक्ष्य बन गया। शासन सूत्र का हर पुर्जा रिश्वत, भ्रष्टाचार और घूंसखोरी का शिकार हो चुका था। इधर जनता में काला बाजार, कर्तव्यहीनता तथा अनेक संगठनों का निर्माण कर अपनी-अपनी दूकान चलाने की सिद्धियाँ जोर पकड़ रही थीं।

स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत का यही करुणाजनक दृश्य सभी की आँखों के सम्मुख स्पष्ट था। सामाजिक सुधार की भावना अवश्य कुछ सफलता की ओर बढ़ रही थी। इसी धरातल पर कवि दिनकर के स्वातन्त्र्योत्तर काल के काव्य पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है। दिनकर, दिनकर ही हैं। उनका स्वरूप

न तो घटता है, न बढ़ता है। वे रेणुका से लेकर परशुराम की प्रतीक्षा तक एक ही ओज और तेज को लेकर भारतीय जनमानस के धरातल को आलोकित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनके इस आलोक में कहीं उषा की सुनहरी आभा, कहीं मध्यान्ह की प्रचण्डता और कहीं अन्तरराष्ट्रीय धरातल को आलोकित करने के उद्देश्य से सन्ध्या-कालीन शान्त आभा कुछ भिन्नता के दर्शन कराती सी प्रतीत होती है। किन्तु दिनकर स्वयं में एकरूप तेजस्वी दिनकर ही है।

भावों की एकरूपता

स्वातन्त्र्योत्तर काल के उनके राष्ट्रीय काव्य-कलेवर को भी उन्हीं तीन रूपों में विभक्त कर उस पर विचार किया जायेगा। केवला इतना भर अन्तर है कि स्वा-तन्यत्र्पूर्व काव्य-कलेवर की पृष्ठभूमि स्वातन्त्रयोत्तर काल में पूर्ण रूप से बदल चुकी है। अब न तो उसका देश पराधीन है, न उसे भीतर किसी सशस्त्र क्रान्ति को जन्म देना ही है। अब उसका यथार्थवादी स्वर नये धरातल पर प्रस्फुटित हुआ है। उस स्वर में विदेशी शासन के अन्याय-अत्याचार का स्थान, शासन और जनता में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, घूँसखोरी और कालाबाजार ले चुके हैं। असन्तोष तथा तज्जनित विचार प्रेरणा के स्वर में उसका लगभग वही स्वर गूँज रहा है जो स्वतन्त्रता से पूर्व जन प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में था। शासन की नीति-रीति के प्रति उसका असन्तोष यहाँ पर भी पूर्ण क्षोभ लिये दृष्टिगोचर होता है और उसी असन्तोष के निराकरण के लिए राष्ट्रीय विचारों द्वारा उसने जनता और शासक दोनों को प्रेरणा देने का प्रयत्न किया है। उसका क्रान्तिकारी स्वर अब एक ऐसी क्रान्ति को जन्म देना चहता है जिससे उसका जनतंत्र सशक्त हो और भारत की सीमाओं में घुसने वाले हिंस्र पशुओं को क्षत्रियोचित उत्तर दे सके। इसी रूप में स्वातन्त्र्योत्तर काल की दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं का मूल्यांकन किया जायेगा।

(क) यथार्थवादी स्वर

एक ओर भारत का विभाजन, पाकिस्तानी कबाइलियों द्वारा योजनाबद्ध रूप से कश्मीर पर आक्रमण, साम्प्रदायिक रक्त घटना-चक के रूप में हमारी विनयशीलता, अहिंसात्मकता तथा आत्मत्याग की भावना का कटु फल हमें भुगता रहा था; दूसरी ओर इन्हीं समस्त घटनाओं की प्रतिकियास्वरूप मानव का मस्तिष्क सीमाओं को लाँघकर एक नया षडयन्त्र रच गया। ३० जनवरी, १९४८ की सन्ध्या, अपनों पर अपनों का आघात ले उपस्थित हुई और राष्ट्रपिता बापू की छाती को गॉडसे की तीन गोलियों ने छलनी कर डाला तथा स्वतन्त्रता संग्राम का महारथी सदा के लिए हम से जुदा हो गया। सारा भारत सहसा स्तब्ध रह गया। जनता के हृदय में जो क्षोभ और आवेश उमड़ रहा था, महात्मा गांधी के बलिदान ने उसे शान्त कर दिया। एक बार फिर से लोगों ने गांधीजी के निर्दिष्ट पथ पर चलने का संकल्प किया। तत्का-

लीन प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अहिंसात्मक तथा शान्तिवादी नीति पर चलने की बार-बार घोषणा की जाती थी। भारतीय जनमानस स्वतन्त्रता से पूर्व भी गांधीजी के त्याग के कारण आँख मूँदकर उनके संकेत का पालन कर रहा था, स्वतन्त्रता के बाद जब अहिंसात्मक नीति के भयंकर दुष्परिणामों को प्रत्यक्ष रूप से देख लिया तो जनता के हृदय में अहिंसक नीति के प्रति जो क्षोभ की भावनाएं प्रज्जवलित हुई थीं उन्हें एक बार फिर महात्मा गांधी ने अपने रक्तरंजित बलिदान से शान्त कर उसे अहिंसात्मक नीति पर चलने को प्रेरित किया। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक शोक की लहर व्याप्त हो गयी। महात्मा गांधी की निर्मम हत्या पर दिनकर का भी हृदय काँप उठा। कवि ने भरे हृदय से उस महामानव को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की—

बापू सचमुच ही गये, निखिल भूमंडल का शृंगार गया।
बापू सचमुच ही गये, विकल मानवता का आधार गया।
यह लाश मनुज की नहीं मनुजता के सौभाग्य विधाता की।
बापू की अरथी नहीं चली अरथी यह भारत माता की।
यह अवधपुरी के राम चले वृन्दावन के घनश्याम चले।
शूली पर चढ़ कर चले खृष्टि गौतम बुद्ध निष्काम चले।

व्यक्ति के रूप में महामानव के प्रति अपनी श्रद्धा और स्नेह के भाव प्रारम्भ से ही कवि ने प्रकट किये हैं। 'बापू' कविता संग्रह इस बात का सुन्दर प्रमाण है। आज दिनकर का हृदय उस महामानव के लिए बिखर रहा था। गांधी को खोकर कवि ने युग-नेता जवाहर पर अपनी पूरी आस्था प्रकट की। अभी लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल का शासन भारत में था और जनता वास्तविक जनतन्त्र की प्रतीक्षा कर रही थी। अत्यन्त आशावादी दृष्टिकोण को लेकर कवि ने जनता के विचारों को स्वर दिया। 'जनता और जवाहर' में कवि कहता है—

इस महासिन्धु के प्राणों में आलोड़न फिर भरना होगा।
जनतन्त्र बसाने के पहले जन को जाग्रत करना होगा।
हैं पूछ रहे जय के निनाद कब तक यह रात खतम होगी ?
सूखेंगे भीगे नयन और वेदना देश की कम होगी।
झूलता तुम्हारी आँखों में जो स्वर्ग हमारी आशा है।
तुम पाल रहे हो जिसे वह भारत भर की अभिलाषा है।[1]

जहाँ कवि एक ओर जनतन्त्र के लिए व्याकुल है, वहाँ वह जनतन्त्र को लाने से पूर्व जन-जागरण की अपेक्षा रखता है क्योंकि भारतीय जनमानस का यथार्थ दर्शन

---

[1] धूप और धुआँ, पृ० ६३-६५।

कवि प्रारम्भ से ही करता चला आ रहा है। वह जानता है कि भारत का भावुक जन हृदय एक बार जिसे विश्वास दे बैठता है तो बस फिर एक मिट्टी के पुतले की तरह विश्वास के संकेतों पर ही आँख मूँदकर चलने लगता है, फिर भले ही उसे संकटों और विपदाओं का सामना क्यों न करना पड़े।

जनतन्त्र का उदय

२६ जनवरी, १९५० को भारत में जनतन्त्र की घोषणा की गयी जिसकी प्रतिज्ञा कई वर्ष पूर्व रावी के तट पर की गयी थी। भारत के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। देश ने अपना संविधान बनाया और संविधान के अनुसार ऊँच-नीच के भेद को दूर कर प्रत्येक वयस्क को मताधिकार प्रदान किया। विश्व भर में यह अनूठा जनतन्त्र एक उदाहरण लेकर प्रस्तुत हुआ। सिद्धान्ततः भारतीय जनतन्त्र एक उदात्त एवं भव्य कल्पना को साकार रूप प्रदान करता है परन्तु उसका वास्तविक लाभ जनता तभी उठा सकती है जबकि क्रियात्मक रूप से जनता के बौद्धिक व आर्थिक स्तर को ऊपर उठाया जाय। 'जनतन्त्र का जन्म' कविता भारतीय जनमानस का सुन्दर चित्र उपस्थित करती है—

सदियों की ठंडी बुझी राख सुगबुगा उठी।
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है।
दो राह ! समय के रथ का घुर्घुर नाद सुनो।
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
जनता ! हाँ मिट्टी की अबोध मूरतें वही।
जाड़े पाले की कसक सदा सहने वाली।
जब अंग-अंग में लगे साँप हों चूस रहे।
तब भी न कभी मुँह खोल दर्द कहने वाली।[1]

कवि के सपनों का जनतन्त्र भारतीय श्रमिकों व कृषकों के रूप में जनता की सेवा करने वाले अनथक व्रतियों का था। उसका जनतन्त्र प्रासादों और महलों में रहने वाले उन शोषकों का नहीं था जो जनता का रक्त चूसचूस कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उनका जनतन्त्र एकांगी स्वार्थ साधकों के वर्गमात्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता है अपितु वह तैंतीस कोटि भारत के नर-नारियों के सौभाग्य-सिन्धु को तरंगित करने वाला, तैंतीस कोटि मानवों की सुख-समृद्धि का समान रूप से पोषण करने वाला विराट् जनतन्त्र है—

सब से विराट् जनतंत्र जगत् का आ पहुँचा।
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो।

[1] धूप और धुआँ, पृ० ६८।

अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है।
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

किन्तु यह जनतन्त्र जन-जागृति से पूर्व ही अपना ध्वज लहराता आ गया है जिसके परिणामस्वरूप अन्याय और अभाव के कहीं अधिक बढ़ जाने की सम्भावना दीख रही है। जहाँ देश का ताज कृषकों और श्रमिकों के सिर पर रखा जाने वाला था, जो ग्रामों में जनता के बीच तप और त्याग की भावना से पूरित सच्चे जन-सेवक हैं, किन्तु जनतन्त्र का असली उद्देश्य धरा का धरा ही रह गया। यहाँ कुछ और ही चित्र दिखाई दे रहे थे। कल के शोषक गांधी टोपी पहनकर आज के जन-सेवक बन बैठे। दिनकर ने कहा—

आरती लिये तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मंदिरों राज प्रासादों तहखानों में।
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में खलिहानों में।[1]

उजड़ते गाँव, उमड़ता वैभव

स्वतन्त्र भारत की सुख-समृद्धि के स्वप्न ४० लाख गाँवों में बिछाने थे, परन्तु स्वतन्त्र भारत की समस्त सुख-समृद्धि उसके बड़े-बड़े नगरों में सिमटी चली आ रही है। दिल्ली इसी समृद्धि की अधिनायिका है। इस रेशमी नगर में गाँवों का दुख-दर्द सुनाई भी नहीं पड़ता। जिनके खून और पसीने से दिल्ली में यह वैभव छा रहा है, दिल्ली उनके अभावों को भुलाती चली जा रही है। जनता के प्रतिनिधि भी दिल्ली के हास-विलास में आकर डूब जाते हैं। इस प्रकार धनपतियों की इन्द्रपुरी के साज अब भी सज रहे हैं और भारत के ४० लाख गाँवों में रहने वाली भारत की वास्तविक आत्मा आज भी तड़प रही है। 'भारत का यह रेशमी नगर' कविता में भारत के इसी यथार्थ स्वरूप के दर्शन होते हैं—

भारत धूलों से भरा आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में।
दिल्ली में तो खूब ज्योतियों की चहल पहल
पर भटक रहा है सारा देश अंधेरे में।

जिनके श्रम से नगरों के अभाव की पूर्ति होती है वे ही ग्राम आज के अभावों के शिकार हो रहे हैं। आज भी भारत का अन्नदाता किसान-परिवार पेट पर भूख बाँधे सोता है। रेशमी धागों का निर्माण करने वाले आज तन ढाँकने के लिए अपनी वस्त्र

---

१ धूप और धुआँ, पृ० ७१।

की आवश्यकता भी पूर्ण नहीं कर पाते और उधर दिल्ली का कोना-कोना रेशमी धागों से लिपट रहा है, मानो देश की स्वाधीनता, सुख-समृद्धि केवल दिल्ली की स्वाधीनता व सुख-समृद्धि मात्र है। इसी विडम्बना का सुन्दर यथार्थ चित्र इन पंक्तियों में समाया हुआ है—

रेशमी कलम से भाग्य लिखने वाले।
तुम भी अभाव से ग्रस्त हो रोये हो?
बीमार किसी बच्चे की दवा जुटाने में,
तुम भी क्या घर भर पेट बाँध कर सोये हो?
देखा है? ग्रामों की अनेक रंभाओं को,
जिनकी आभा पर धूल अभी तक छाई है।
रेशमी देह पर जिन अभागिनों की अब तक,
रेशम क्या साड़ी भी सही नहीं चढ़ पाई है।[1]

भारत के भाग्य विधाता लोगों को धैर्य रखने की सलाह देते हैं। जनता के दुःख-दर्दों को दूर करने के लिए योजनाएँ बनाते हैं, परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं का जो चक्र चल रहा है उसका भी लाभ वर्ग विशेष ही उठाता चला जा रहा है और ग्रामवासी यथापूर्व अभावों के शिकार बने हुए हैं। यह जनतन्त्र कैसा जिसमें स्पष्ट रूप से दो वर्गों के मध्य अन्तर झलकता है? जबकि भारत के सभी-ग्राम दुख-दर्द की पश्चिमी हवा से त्रस्त हैं तब भारत की राजधानी व उप-राजधानियों में सुख की भीनी-भीनी सुगन्ध लिये पुरवैया की लहरें चल रही हैं—

चल रहे ग्राम कुंजों में पछिया के झकोर,
दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।
है विकल देश सारा अभाव के तापों से,
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।
हिल रहा देश कुत्सा के जिन आघातों से,
वे नाद तुम्हें ही नहीं सुनाई पड़ते हैं।
निर्माणों के प्रहरियों! तुम्हें ही चोरों के,
काले चेहरे क्या नहीं दिखाई पड़ते हैं?

ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वराज्य दिल्ली की दीवारों में कैद हो गया है। भारत में स्वराज्य भी आया और जनतन्त्र भी, परन्तु दो दशक के उपरान्त भी आज देश की स्थिति निरन्तर गिरती चली जा रही है। भारत में जनतन्त्र का जो सूर्य उगा था वह ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं और राजभवनों में बन्द कर दिया गया है। इन्द्र

---

[1] दिल्ली।

के ऐरावत रूपी पूँजीपति जनतन्त्र की पावन गंग-धार को रोक रहे हैं। शहरों के उस पार उजड़े गाँवों के धरातल पर भारत के नन्हे-मुन्ने दूध के लिए तड़प रहे हैं और भारत की नारी दो गज कपड़े के टुकड़े के लिए तरस रही है। स्वराज्य का यह ऐश्वर्य शहरों में बन्द पड़ा है—

> सकल देश में हालाहल है दिल्ली में हाला है।
> दिल्ली में रोशनी शेष भारत में अंधियाला है।
> पूछ रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज।
> इतने वर्ष हो गये राह में अटका कहाँ स्वराज ?[1]

बढ़ती अराजकता

देश की यथार्थ स्थिति का वर्णन दिनकर की भिन्न-भिन्न कविताओं में बिखरा पड़ा है किन्तु 'एनार्की' और 'समर शेष है' कविता में देश के सर्वांगपूर्ण यथार्थ का स्पष्ट चित्र हमें प्राप्त होता है। स्वतन्त्रता की इस लम्बी अवधि के उपरान्त देश में अराजकता बढ़ती चली जा रही है और हर दिशा में देश ह्रासोन्मुख हो रहा है। चारों ओर भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, जातिवाद, आर्थिक शोषण, अनुशासनहीनता तथा उच्छृंखलता और स्वेच्छाचारिता पनपती जा रही हैं। इसका स्पष्ट चित्र 'एनार्की' में अंकित है। राज्य की सम्पत्ति का व्यक्तिगत समृद्धि के लिए दुरुपयोग किया जाता है। अनेक योजनाओं में लगायी जाने वाली धन-राशि नेताओं और ठेकेदारों द्वारा झूठे आय-व्यय दिखाकर हड़प ली जाती है। जब ऐसी घटनाओं की ओर शासकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है उस समय वे उस बात का समाधान यूं करते हैं—

> मान लो कभी चूर घुन थोड़ी पाते हैं।
> भारत से बाहर तो फेंक नहीं आते हैं।
> जो भी बनवाये अपना ही व' भवन है।
> देश में ही रहता है देश का जो धन है।[2]

देश में न तो नागरिक ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, न शासक ही। हर व्यक्ति आजादी के नाम पर स्वच्छन्द और उच्छृंखल हो गया है। नियमों तो तोड़ते हुए भी न तो कोई तनिक घबराता है, न हिचकिचाता है। शासन-सूत्र भी इतना ढीला पड़ चुका है कि जनता न तो पुलिस से भय खाती है, न किसी राज्याधिकारी से। राज्याधिकारियों से तो उनका चपरासी भी नहीं डरता है। चोरों के गिरोहों से पुलिस के सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। इस प्रकार सारा राष्ट्रीय जीवन अस्त-व्यस्त सा हो गया है।

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७६-७७।
२ वही, पृ० ६१।

स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थ को न समझते हुए स्वतन्त्रता के नाम पर ऐसे कार्य किये जाते हैं जो कदापि देश-हित में नहीं कहे जा सकते—

सुनता न कोई फरियाद है।
देखिये जिसे वही जोर से आजाद है।[1]

चारों ओर भ्रष्टाचार का बोलबाला है। सभी खाद्य पदार्थों में खुलकर मिलावट की जाती है। यहाँ तक कि नकली ओषधियों का व्यापार भी जोर पकड़ता जा रहा है। चोरों और डाकुओं से सरकार हमारी रक्षा कैसे कर सकती है जबकि पुलिस के उच्चाधिकारी इन लोगों से भी बढ़कर जनता को डरा-धमकाकर घूँस लेते हैं—

अजब हमारा यह तंत्र है।
नकली दवाइयों का व्यापारी स्वतंत्र है।
पुलिस करे जो कुछ, पाप है।
चोर का जो चचा है पुलिस का भी बाप है।[2]

देश के भविष्य का निर्माण करने वाले छात्र-वर्ग का हाल और भी बुरा है। उनका लक्ष्य पढ़ाई से हटकर केवल हड़ताल करना व तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों तक सीमित हो गया है। यदि देश में सभी में समानता का चिन्ह कहीं दिखाई पड़ता है तो वह है एकमात्र दूसरों की परवाह किये बिना अपनी मनमानी चलाकर स्वार्थ सिद्ध करने में।

अपनी ढफली, अपना राग

देश में जितने भी राजनीतिक दल हैं, सभी अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। एक ओर कम्युनिस्ट साम्यवादी चीन को राष्ट्र का शत्रु नहीं, मित्र मानते हैं। उनकी दृष्टि में साम्यवाद ही देश की समस्याओं का एकमात्र हल है। दूसरी ओर सोशलिस्ट समाजवाद की व्याख्या में ही लीन हैं। जनसंघी अपने को ही विशुद्ध भारतीय मानते हैं। उनकी दृष्टि में कांग्रेस और समाजवादी पार्टी में कोई अन्तर नहीं। बेचारी कांग्रेस स्वय दो दलों में विभक्त है, दोनों भी अपने-अपने मार्ग को विशुद्ध गांधीवादी मानते हैं। पर सच तो यह है कि दोनों ही गांधीजी के सिद्धान्त को ठीक-ठीक नहीं समझ पा रहे हैं। एक रूस से मैत्री का हाथ बढ़ाना चाहता है तो दूसरा अमरीका से। तीसरा चाहता है कि तकली चलाकर ही हम देश की उन्नति करें। स्वराज्य का अर्थ केवल शोर मचाना मात्र रह गया है। रचनात्मक कार्य ज्यों के त्यों पड़े हैं। दूसरी ओर, राजाजी, लोहिया, जयप्रकाश नारायण अपना-अपना राग अलाप रहे हैं।

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६१।
२ वही, पृ० ६२।

मन्त्रिमण्डल में भी एकता नहीं है, एक राष्ट्रीयकरण के औचित्य को मानता है, दूसरा व्यक्तिगत पूँजी स्वातन्त्र्य पर बल देता है। कुछ आदर्शवादी सेना पर अधिक व्यय को अनावश्यक बताते हैं तो दूसरी ओर यथार्थवादी अणुबम की बातें करते हैं।

देश की वैदेशिक नीति की डाँवाडोल स्थिति यह है कि हम यह भी नहीं जानते कि कौन हमारा हितचिंतक है।

'एनार्की' कविता में देश में फैली अराजकता का जो यथार्थ चित्रण कवि ने किया है वह चित्र बरबस हमें राष्ट्र के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश कर देता है। इस प्रकार जिस आशाओं से भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की थी उन आशाओं पर तुषारपात हो चुका है।

राष्ट्रकवि

राज्य सभा के सदस्य होते हुए भी दिनकर का यह यथार्थ चित्रण उनके अप्रतिम साहस और स्पष्टवादिता का सुन्दर उदाहरण है। राष्ट्रकवि दिनकर सदैव अपने कवि कर्त्तव्य की ओर सजग रहे हैं। कर्त्तव्य का पालन करते हुए वे शासन-सूत्र की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। स्वतन्त्रता के बाद भी कवि दिनकर अत्यन्त प्रामाणिकता से जनता और शासन के हितचिंतक रहे हैं। यही कारण है कि आज जहाँ जनता दिनकर को राष्ट्रकवि के रूप में स्वीकार करती है वहाँ शासक दल भी उनके प्रति आदर के भाव रखता है। कई आलोचक दिनकर पर यह आरोप लगाते हैं कि उनकी प्रतिभा मन्द पड़ चुकी है परन्तु 'परशुराम की प्रतीक्षा' के द्वारा कवि ने उन्हें क्रियात्मक उत्तर दिया है। कुछ प्रतीक्षा के बाद ही सही, अन्ततः राष्ट्र-कवि परशुराम के रूप में ही प्रकट हुए। राष्ट्र उनके लिए सर्वोपरि है। राष्ट्र की हर धड़कन के साथ उनका हृदय स्पन्दित होता है।

उनका मानव कर्त्तव्य भीरु नहीं है। हर कीमत पर मानवता की रक्षा करना उनका ध्येय रहा है। उनका स्वर पीड़ित मानवता के स्वर को वाणी प्रदान करने वाला वह सशक्त स्वर है जो जनमानस में नई शक्ति व नव चेतना का संचार कर देता है। पराधीन भारत में अंग्रेजों के अन्याय और अत्याचारों से झुलसते देश का यथार्थ चित्रण कर जनमानस में पौरुष के भाव भरने वाला कवि आज भी चुप नहीं रह सकता। उसकी वाणी स्वयं अन्तर्मन से फूट पड़ती है। जो कुछ कानों से सुनता व आँखों से देखता है, उसकी अनुभूति व संवेदना बहुत तीव्र होती है। कवि के यथार्थ-वादी स्वर से राष्ट्रहित की वह भावना प्रबुद्ध होती है जो प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-चिन्तन व स्वराष्ट्र चिन्तन की ओर प्रेरित करती है।

(ख) असन्तोष का स्वर

भारत के इस यथार्थ करुण दृश्य को देखकर आज भी कवि-हृदय में जनता और शासन के प्रति असन्तोष की भावनाएँ कार्य कर रही हैं। जनता के प्रति उनका

असन्तोष इसलिए है कि स्वतन्त्र भारत के नागरिक होते हुए भी उनमें कर्त्तव्यनिष्ठा व अपने अधिकारों की सजगता के प्रति उपेक्षा है और शासन के प्रति कवि का असन्तोष अधिक उग्र रूप में है। अहिंसा और शान्ति के नाम पर देश को निर्बल और निस्तेज बनाने का जो उपक्रम चल रहा है, कवि को वह असह्य है। दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में यह असन्तोष तथा तज्जनित विचारप्रेरणा यत्र-तत्र बिखरे रूप में हमें मिलते हैं।

आज जो देश में गणतन्त्र की दशा है, कवि उससे बहुत क्षुब्ध है। यह तो उच्छृंखलता का तन्त्र चल रहा है और देश में अराजकता फैलती प्रतीत हो रही है। तभी तो वे कहते हैं—

गण जन किसी का न तंत्र है।
साफ बात है कि भारत स्वतंत्र है।
भिन्नता सँभाले तार तार की।
राज करती है यहाँ चैन से एनार्की।[१]

सामाजिक असन्तोष

शासन के प्रति देश में सर्वत्र असन्तोष की लहर व्याप रही है। सर्वत्र हाहाकार का स्वर सुनाई पड़ रहा है। 'नींव का हाहाकार' कविता इसी असन्तोष को व्यक्त करती है—

काँपती है वज्र की दीवार।
नींव में से आ रहा क्षीण हाहाकार।[२]

इस हाहाकार के पीछे जहाँ शासन की अदूरदर्शिता बोल रही है वहाँ इस हाहाकार में पूँजीपतियों द्वारा शोषित दीन-हीन जनता का वह असन्तोष भी सुनाई पड़ रहा है, जिसकी कल्पना स्वतन्त्र भारत में नहीं की जा सकती थी। दिनकर का असन्तोष काँटों का गीत बनकर हृदय में एक चुभन लेकर प्रस्तुत हुआ है। विदेशी शासक को जैसे अपना ताज गँवाना पड़ा वही हाल पूँजीपतियों की पूँजी का भी होने वाला है—

बेपनाह जिस तरह रहे उड़ राजाओं के मुकुट हवा में।
इसी तरह ये नोट तुम्हारे, पापी उड़ जाने वाले हैं।[3]

हृदय के वे भाव जो स्वतन्त्रता के समय फूल बरसा रहे थे, आज शूल बनकर अपना असन्तोष व्यक्त कर रहे हैं। साम्यवाद से भय खाकर जनता का शोषण

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६८।
२ नीलकुसुम, पृ० ६९।
3 वही, पृ० ६७।

करने वाले कांग्रेस में घुसकर कितना ही अपने को बचाने का यत्न करें किन्तु गांधी-वाद और सर्वोदय की धारा कभी भी पूंजीपतियों की पोषक नहीं बन सकती—

कहो मार्क्स से डरे हुओं का, गांधी चौकीदार नहीं है।
सर्वोदय का दूत किसी संचय का पहरेदार नहीं है।[1]

जो असत्य को आश्रय देते हैं, जिनका शरीर हिंसा के कुत्सित भावों से परिपूर्ण है ऐसे व्यक्ति कभी भी गांधी के नाम पर नहीं पनप सकते। पूंजीपतियों के प्रति दिनकर का यह असन्तोष उसी स्वर में बोल रहा है जिस स्वर में वह स्वतन्त्रता से पूर्व बोला करता था। असन्तोष-जनित उसकी चेतावनी उस हिंस्र क्रान्ति से भारतीय समाज को बचाना चाहती है, जो कभी भी हवा का झोंका पाकर प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी—

हठी, तुम्हारे पापों से, फिर एक प्रलय छाने वाला है।
गांधी ने भूचाल किया, तूफान वही लाने वाला है।[2]

कवि अपनी हार्दिक सहानुभूति कृषकों के साथ रखता है। जमींदारों के प्रति किसानों के मन में जो असन्तोष है, कवि-हृदय से वह 'भूदान' कविता में स्पष्ट झलक रहा है। विनोवा का भूदान आन्दोलन जमींदारों के लिए एक स्वर्ण सन्धि है जो उन्हें कृषकों के हृदय में धधकती ज्वाला से बचा सकती है। आज विनोवा कृष्ण के रूप में जमींदारों और कृषकों के बीच स्नेह संधि कराने आया है। जमींदारों को चाहिए कि वे कृषकों के असन्तोष को समाप्त करने के लिए भूदान करें, अन्यथा—

बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुल कर हल्ला बोलेगी।
तुम दोगे क्या चीज वही जो चाहेगी सो लेगी।
कृष्ण दूत बन कर आया है संधि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय कहीं वामन को पड़ा विराट्।[3]

दिनकर के समाज के प्राण असन्तोष के धूम में उद्विग्न हैं। 'कवि और समाज' कविता में स्पष्ट रूप से समाज के असन्तोष को, उनके समाज के भीतर छाये हुए अन्तर्दाह को व्यक्त करता है। उसकी कविता कल्पना की उड़ानें भरकर जनता का मनोरंजन नहीं करतीं अपितु चुन-चुनकर जनता के हृदय की पीड़ा व असन्तोष को सशक्त चेतावनी भरा स्वर प्रदान करती हैं—

रागिनी तुम्हारी धमनी में बजने वाली,
मैं दाह तुम्हारे भीतर भरे अनल का हूँ।

---

[1] नीलकुसुम, पृ० ६४।
[2] वही, पृ० ६८।
[3] वही, पृ० ७३।

शंपाओं की हूँ कड़क तुम्हारे ही नभ की,
गर्जन मैं तुम में छिपे हुए बादल का हूँ।[१]

समाज के दुःख-दर्द में कवि अपना दुःख-दर्द भूल चुका है। समाज की पीड़ा आज स्वयं उसकी पीड़ा बनकर बोल रही है। उसका समाज युग-युग से राजनीतिक एवं सामाजिक शोषण का शिकार होता रहा है। स्वतन्त्रता के उपरान्त भी उसके सुनहरे स्वप्नों पर तुषारपात हो रहा है। सामाजिक शोषण का वही चक्र, शासन के प्रतिनिधियों की स्वार्थलिप्साएँ, जनता के हृदय में एक नये असन्तोष व निराशा को जन्म दे रही हैं। महाकवि दिनकर विदेशी शासन के समय भी जनमन के हृदय के असन्तोष को व्यक्त करता आया है और आज फिर जब वह जनता में असन्तोष की भावनाओं को देख रहा है तो वह सामाजिक दुर्दशा से पीड़ित होकर बोल उठा है—

अपनी पीड़ा कहने का कब अवकाश मिला ?
मैं सदा तुम्हारा दर्द बोलता आया हूँ।
जिन के ऊपर सौ चट्टानें थीं पड़ी हुई,
उन बेकलियों का भेद खोलता आया हूँ।[२]

जनता के हृदय का असन्तोष दूर करने का कवि ने बीड़ा ही उठा लिया है। वह उन समस्त कारणों को नष्ट करने के लिए कृतसंकल्प है जो जनता के हृदय में असन्तोष को जन्म देते हैं। दिनकर की वाणी समाज को कंकाल बनाने के विरुद्ध अपनी असन्तोषाग्नि बरसाती ही रहेगी। जब तक जनता के हृदय का दाह नष्ट नहीं हो जाता, उसकी वंशी से यही स्वर निकलते रहेंगे। जब तक शोषक समूह नष्ट नहीं हो जाता, जब तक जनता के हृदय में यह ज्वालामुखी धधकता ही रहेगा तब तक कवि के स्वर से भी अनल वृष्टि होती ही रहेगी। जनता के हृदय का यह अनल, शासकों तथा शोषकों द्वारा किये जा रहे अन्यायों की वह असन्तोषात्मक प्रतिक्रिया है जिसे कवि अपनी सशक्त वाणी से प्रकट कर रहा है—

है शेष यज्ञ जब तक अशेष हत भागों का,
शिंजिनी धनुष की तब तक नहीं नरम होगी।
शीतल होगा जब तक जन मन का ताप नहीं,
वंशी के डर की आग कहाँ से कम होगी।
जब तक ज्वालामुखी ये तुम्हारे जलते हैं,
संतप्त कण्ठ कंठीरव मूक नहीं होगा।

---

१ नीलकुसुम, पृ० ७६।
२ वही, पृ० ७७।

छूटते रहेंगे बाण पंथ में पड़ा हुआ,
जब तक विशाल पर्वत दो टूक नहीं होगा।[1]

एक ओर दीनहीन जनता विकल होकर तड़प रही है और दूसरी ओर समाज का एक वर्ग वैभव और विलास की बेसुध आनन्दनिद्रा में मग्न है। यही हाल शासन की उन मखमली कुर्सियों पर बैठने वालों का भी है, जो अपनी स्वार्थसाधना में तल्लीन होकर जनता की सुध-बुध खो बैठे हैं। परन्तु कवि अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग है और वह शोषित जनता का प्रतिनिधित्व करते हुए, जनता के हृदय में उभरते असन्तोष को चेतावनी भरे स्वर में 'कवि और समाज' में व्यक्त कर रहा है—

कहता हूँ जो मखमल भोगियों श्रवण खोलो,
टुक सुनो विकल यह नाद कहाँ से आता है।
है आग लगी या कहीं लुटेरे लूट रहे हैं,
वह कौन दूर पर गाँवों में चिल्लाता है।
जनता की छाती बिंधे और तुम नींद करो,
अपने भर यह जुल्म नहीं होने दूँगा।
तुम बुरा कहो या भला मुझे परवाह नहीं,
पर दोपहरी में तुम्हें नहीं सोने दूँगा।[2]

'कवि और समाज' कविता कवि और समाज के असन्तोष को प्रकट करने वाली उच्च कोटि की कविता है। 'धूप और धुआँ' काव्य संग्रह में कवि के असन्तोषात्मक भाव सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। 'जनता और जवाहर', 'पंचतिक्त भारत', 'मरघट की धूप' आदि कविताओं में असन्तोष का ही स्वर स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। कवि दिनकर का असन्तोष मस्तिष्क को कुछ सोचने के लिए विवश करता है और उसे एक ऐसी प्रेरणा प्रदान करता है जिससे असन्तोष के कारणों का निराकरण हो सके। उसके ऐसे भावों को ही असन्तोषजनित विचार-प्रेरणा का नाम दिया गया है। 'समर शेष है' में कवि इसी विचार-प्रेरणा से जनमानस को उद्बुद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है। दिनकर का समर एक साथ दो क्षेत्रों में चल रहा था। एक ओर वह विदेशी शासक को हटाने तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के निमित्त समर कर रहा था, दूसरी ओर उसका समर सामाजिक भेदभाव तथा विषमता के विरुद्ध छिड़ा हुआ था। समाज में चल रहे शोषण तथा अपने लोगों द्वारा किये जा रहे अन्यायों के विरुद्ध वह लड़ रहा था। स्वतन्त्रता प्राप्ति का उसका समर १५ अगस्त, १९४७ को समाप्त हुआ, किन्तु सामाजिक शोषण तथा भेदभाव की नीति के विरुद्ध उसका समर अभी शेष है।

---

१ नीलकुसुम, पृ० ७८।
२ वही, पृ० ७९।

'समर शेष है' कविता में कवि की आत्मा भारत की दुर्दशा को देख तड़प उठी है। वह वास्तविक जनतन्त्र के लिए संघर्ष को जारी रखने का सन्देश देता है। जब तक भारत की दीन-हीन जनता नंगी और भूखी है तब तक यह समर कैसे रुक सकता है? वास्तविक स्वराज्य भारत की ४० कोटि जनता की खुशहाली में ही जीवित रह सकता है। ऐसी विषम परिस्थिति में वह किस मुख से स्वतन्त्रता का शृंगार-गान गाये? वह कहता है—

कुंकुम ले पूजूँ किसे? सुनाऊँ किसको कोमल गान।
तड़प रहा आँखों के आगे भूखा हिन्दुस्तान।[1]

जब तक देश में ऊँच और नीच का भेद समाप्त नहीं होगा, गरीब और अमीर के मध्य की खाई पाटी न जायेगी तब तक कवि के शब्दों में अभी यह समर चलता ही रहेगा। भारत में जनतन्त्र वास्तविक जनतन्त्र का स्थान नहीं ले लेता, जनता के हृदय में तोष समा नहीं सकता—

समर शेष है जनगंगा खुल कर लहराने दो।
शिखरों को डूबने और मुकुटों को बह जाने दो।
पथरीली ऊँची जमीन है तो उस को तोड़ेंगे।
समतल पीटे बिना समर की भूमि नहीं छोड़ेंगे।
समर शेष है चलो ज्योतियों के बरसाते तीर।
खंड खंड हो गिरे विषमता की काली जंजीर।[2]

आज उसे सर्वत्र अंधकार ही अंधकार दिखाई दे रहा है। जनता की असीम शक्ति भी दुर्बल बन कराह रही है—

बल रहते ऐसी निर्बलता?
स्वर रहते स्वर वालों के शब्दों का अर्थाभाव।
दोपहरी में ऐसा तिमिर नहीं देखा था।[3]

'तब भी आता हूँ मैं' कविता में असन्तोष के अंधकार में प्रकाश की किरण लेकर आने के लिए प्रयत्नशील है। सर्वत्र असन्तोष का धुआँ ही धुआँ उसे त्रस्त कर रहा है। विपदा के घनघोर बादलों को चीरकर आशा की किरणें समाज को आलोकित करेंगी इसी आशा के साथ अपना असन्तोष व्यक्त कर रहा है—

धुआँ धुआँ सब ओर चतुर्दिक घुटन भरी है,
आँख मूँदने पर भी तो अब दीप्ति नहीं आती,

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७६।
२ वही, पृ० ७७।
3 वही, पृ० ७२।

तिमिर व्यूह है ध्यान गीत का मन काला,
धूम ध्वान्त फूटता कला की रेखाओं से,
ओ विशाल तमतोम चतुर्दिक घिरी घटाओ !
कब जनमेगी अशनि तुम्हारी व्याकुलता से ?
धुआँ और उमस में जो छटपटा रहा है,
वह प्रकाश कब तक खुल कर बाहर आएगा ।[१]

इतनी सामाजिक और राजनीतिक विपदाओं के बाद भी भारत का असहाय मनुष्य क्यों अपनी करुण गाथा को सशक्त वाणी नहीं दे पा रहा है ? कवि चाहता है कि हम सब अपने दुःख-दर्दों को एक स्वर में कहना सीखें। देश की सामाजिक स्थिति का करुण चित्र कवि के स्वर में फूट पड़ा है। जन्म लेते ही शिशु को किन-किन संकटों से गुजरना होता है। अब तो दया, करुणा, प्रेम और सहानुभूति के स्वर्गीय भाव भी भारत भू से विदा होते जा रहे हैं। प्रणय भी व्यापार बन रहा है। श्रमिक पिस रहा है। पूंजीपति इन्द्र श्रमिकों के स्वेद से अपने ऐश्वर्य और विलास के बगीचों को सींच रहे हैं।

राजनीतिक असन्तोष

युद्ध काव्य की पाद टिप्पणी में कवि का राजनीतिक असन्तोष जनता और शासक दोनों पर ही बरस पड़ा है। जनता से वह इसलिए असन्तुष्ट है कि जनता एक ओर तो शासन के प्रति असन्तोष व्यक्त करती है और दूसरी ओर चुनाव के समय अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हो, उपेक्षावृत्ति का परिचय देती है। शासन की उस तटस्थ प्रेक्षकों की सी नीति पर वह क्षुब्ध है जो चीन द्वारा तिब्बत को हड़प लेने के समय अपनायी गयी थी—

कौन पाप है ? याद भेड़िये जब टूटे थे,
तेरे घर के पास दीन दुर्बल भेड़ों पर,
पचा गया था क्रोध सोच कर तू यह मन में,
कौन विपद में पड़े बली से बैर बढ़ाकर ।[२]

साथ ही साथ कवि उन मूल कारणों की ओर भी दृष्टिपात करता है जिसके कारण चीन ने भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया था। जनता और शासन दोनों ही अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहे हैं। आलस्य उनके जीवन का अभिन्न अंग बनता चला जा रहा है। हर आलसी और बेईमान को वह चीनी दुश्मन की उपमा देता है—

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७४ ।
२ वही, पृ० ५५ ।

और आज भी जिस पापी का सही नहीं ईमान,
(भले वह नेता हो शासक हो या दूकानदार हो)
चीनी है दुश्मन है सबके लिए काल है।[1]

कवि पहले से ही खिन्न था किन्तु भारत की उत्तरी सीमा पर चीन द्वारा छेड़े गये दुर्द्धर्ष से उसका असन्तोष आक्रोश बनकर फूट पड़ा है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के मूल में उसका यही असन्तोष बोल रहा है। वर्तमान जन-नायक उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं। उनकी रीति-नीति से कवि-हृदय क्षुब्ध होकर परम शौर्य और तेज के प्रतीक परशुराम की प्रतीक्षा करने के लिए विवश हो चुका है। विदेशी आक्रमण से आक्रान्ता भारती की सीमाएँ उसे और उसकी दुर्बलता को चुनौती देती प्रतीत हो रही हैं। अपनी दुर्बलता पर न केवल जनमानस क्षुब्ध है अपितु भारत की सेना में भी असन्तोष फैलता चला जारहा है। इसलिए अनुशासन की भित्तिका चीरकर सैनिक के मुख से उसके हृदय का स्वर हार्दिक रोष प्रकट करता है। कुछ आलोचक सैनिक द्वारा इस तरह का कथोपकथन अनुशासन की दृष्टि से उचित नहीं समझते, किन्तु कवि-हृदय सामाजिक भावनाओं की प्रतिध्वनि मात्र व्यक्त करता है। जब शासन-चक्र निरन्तर एक ऐसे पथ पर आगे बढ़ता है जहाँ उसका स्वाभिमान पग-पग पर कुचला जाता हो, तब एक सैनिक जिसके पास हृदय और मस्तिष्क दोनों ही हैं, कुछ उद्वेलित हो उठता है। चीन के सीमा-संघर्ष में निहत्थे शूरवीर सैनिकों का रक्तपात कुछ सोचने के लिए विवश करता है। यद्यपि भारतीय सैनिकों ने ऐसे कठिन समय में भी प्राणोत्सर्ग करके अपने अनुशासन का पूर्णतया पालन किया, किन्तु कवि उसके अन्तर के भावों को 'परशुराम की प्रतीक्षा' में व्यक्त किये बिना नहीं रह सका।

प्रत्येक राष्ट्र में एक ऐसा अवसर आता है जब शासन चक्र शासन करने में सर्वथा अयोग्य सिद्ध होता है। ऐसे समय सैनिक शक्ति जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर क्रान्ति के लिए विवश हो उठती है। यद्यपि यह कार्य अनुशासन की दृष्टि से हेय है किन्तु क्रान्तिवादी कवि औचित्य पर आधारित सैनिक क्रान्ति को हेय नहीं मानता। महाकवि दिनकर एशिया के अन्य राष्ट्रों की वर्तमान स्थितियों से भली प्रकार परिचित थे। अनेक नवोदित स्वतन्त्र प्रजातन्त्रीय देशों में सैनिक क्रान्तियाँ हुईं, उसके कुछ सुपरिणाम तथा दुष्परिणाम भी अवश्य हुए किन्तु सबसे बड़ा दुष्परिणाम प्रजातन्त्र के लोप के रूप में सामने आया। अतः कवि ने कहीं भी अपनी लेखनी से न सैनिक के मुख से ऐसी क्रान्ति को प्रोत्साहित किया है, न अनुमोदित ही। एक सैनिक के मुख से असन्तोष के उद्‌गार अवश्य प्रकट किये हैं जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से भावी आशंकाओं की ओर धूमिल संकेत है। कवि समय रहते देश

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ५५।

को ऐसी परिस्थितियों से बचाने का इच्छुक जान पड़ता है जिससे इन विषम परिस्थितियों के परिणाम भारत में भी प्रजातन्त्र की इतिश्री को लेकर न उपस्थित हो सकें। सैनिक क्रान्ति उचित हो या अनुचित, किन्तु वह एक ऐसी परिणति है जो अनायास ही हो जाती है और दूसरे देशों द्वारा आगे-पीछे अनुमोदन भी प्राप्त कर लेती है।

यह स्पष्ट है कि भारत के सैनिक महान्, साहसी, देशभक्त और योद्धा रहे हैं किन्तु एक ओर दुश्मन आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित था और दूसरी ओर हमारे सैनिकों के हौसले बुलन्द तो थे किन्तु ऐसे शस्त्रों का अभाव उन्हें हँसते-हँसते रणक्षेत्र में ही बलि हो जाने के लिए विवश कर रहा था। ऐसी स्थिति में सैनिकों के हृदय में क्षोभ का उठना अत्यन्त स्वाभाविक था। कवि ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता से इसी असन्तोष को वाणी प्रदान की है। इस तरह कवि को सैनिक अनुशासन में बाँधने का प्रयत्न करना उचित तथा तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। कवि का यह अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों है कि वह प्रत्येक कोने की क्षीणता को सबल स्वर दे।

दिनकर का सैनिक, 'परशुराम की प्रतीक्षा' में प्रथम पृष्ठ पर ही असन्तोष की ज्वालाओं में झुलस रहा है। सैनिक का असन्तोष कभी प्रजातन्त्र के लिए घातक सिद्ध हो सकता है अतः कवि ने उसे व्यक्त कर, आने वाली विपदा का परिहार ही किया है। कवि का रक्तरंजित प्रश्न है—

> गरदन पर किसका पाप वीर ! ढोते हो ?
> शोणित से तुम किसका कलंक धोते हो ?[1]

जिसका उत्तर वर्तमान शासकों की नीति के प्रति पूर्ण असन्तोष से भरा हुआ है। युद्ध के क्षेत्र में भगवान् कृष्ण की वाणी से निकले हुए गीता के अमर सन्देश में भी जो बुद्ध के त्रिपिटक निकाय का अभिप्राय खोजते हैं, ऐसे शासकों पर क्षात्र धर्म से अनुप्राणित सैनिक की श्रद्धा स्थिर भी कैसे रह सकती है ? उसका धर्म सदा से अजा धर्म से घृणा करता आया है। साहस, बल तथा शौर्य का जो प्रतीक है वह शासकों की शस्त्र त्यागकर तकली चलाने की नीति से कैसे सन्तुष्ट हो सकता है ? उसका क्षोभ से भरा उत्तर है—

> गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते हैं।
> तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं।
> शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का।
> सिखलाते हैं शेरों को धर्म अजा का।
> हम उसी धर्म की लाश यहाँ ढोते हैं।
> शोणित से संतों का कलंक धोते हैं।[2]

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १।
[2] वही, पृ० १।

भारत-चीन संघर्ष के समय देश के जिन नौनिहालों का रक्त हिमगिरि की वर्फीली चट्टानों में लोहित कुण्ड बन गया है अन्ततः इस रक्तपात का उत्तरदायी कौन है ? किनकी अदूरदर्शिता के कारण आज देश के नौजवानों को निहत्थे वधशाला में रक्त बहाना पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कवि इसका दायित्व उस महाशासक पर डाल रहा है, जो प्रत्यक्ष में देवता है, किन्तु राष्ट्र के महान् दायित्व को सँभालने में सर्वथा अक्षम है क्योंकि उसके द्वारा दिये गये आदेश, देश के लिए विघातक सिद्ध हो गये हैं—

घातक है जो देवता सदृश दिखता है।
लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं गोत्र प्यारा है।
समझो उस ने ही हमें यहाँ मारा है।[1]

उसका समस्त शासन चक्र स्वार्थियों, चाटुकारों तथा जातीयता के विषैले कीटाणुओं से आक्रान्त है। शासन की बागडोर सँभालने वाले जनता के ये सब प्रतिनिधि जान-बूझकर सत्य से आँखें मूँद असत्य को प्रोत्साहित कर रहे हैं। देशहित की भावना से अधिक परिजनों की हित-भावना उन्हें स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रेरित कर रही है। जिनके आश्रय में चोर और ठग पनप रहे हैं, ऐसे अपने कर्त्तव्य से विमुख राजतन्त्र के प्रति उसके हृदय में असन्तोष की ज्वाला धधक रही है—

जो सत्य जान कर भी न सत्य कहता है।
या किसी लोभ के वश मूक रहता है।
उस कुटिल राजतंत्री कदर्य को धिक् है।
वह मूक सत्य हन्ता कम नहीं वधिक है।[2]

पर भारत प्रजातन्त्रीय देश है। केवल शासकों पर ही समस्त दायित्व डाल देने से काम नहीं बनता। आज कौन ऐसा है जो इस पराजय के दायित्व से बच सकता है ? चारों ओर पथभ्रष्ट मनोवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं—

यह पाप उन्हीं का हम को मार गया है।
भारत अपने घर में ही हार गया है।[3]

केवल वाणी द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का यशोगान करने वाला, क्षात्र तेज सर्वथा विमुख हो चुका है। जनतन्त्र के प्रहरी कवि, कलाकार और पत्रकार जो देश की भावाग्नि के उद्गाता है, स्वयं दिग्भ्रमित हो बुद्ध, अशोक और गांधी के आदर्शों

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ३।
[2] वही, पृ० ३।
[3] वही, पृ० ३।

की दुहाई दे-देकर राष्ट्र की बलि चढ़ाना चाहते हैं। इसी थोथी शान्ति की मृगतृष्णा राष्ट्र को शक्ति तथा पौरुषहीन बना रही है—

नेता निमग्न दिन-रात शान्ति चिन्तन में।
कवि कलाकार ऊपर उड़ रहे गगन में।
यज्ञाग्नि हिन्द में समिध नहीं पाती है।
पौरुष की ज्वाला रोज बुझी जाती है।[1]

असन्तोष की इसी ज्वाला से दिनकर के विचार-स्फुलिंग राष्ट्र को नया सम्बल देते हैं। जिस धरातल पर उनका राष्ट्रीय चिन्तन खड़ा है वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' में बहुत अधिक स्पष्ट तथा परिमार्जित रूप में प्रकट हुआ है। पाप और पुण्य के विवेचन में कवि पराजय को सबसे बड़ा पाप मानता है। आध्यात्मिक मूल्यों पर पाप की परिभाषा में घटित होने वाले कार्य राष्ट्र की रक्षा के लिए वीरता को जयमाल पहनाने के लिए पुण्य बन जाते हैं। उसका पुण्य असि-धार की छाया में ही फलता-फूलता है। जो राष्ट्र क्षात्र धर्म से विमुख हो जाता है उसका भाग्य स्वयं दुर्भाग्य बनकर पराजय का कारण बन जाता है। म्यान में पड़ी हुई तलवारों को राष्ट्र के भाग्य निर्माण के लिए बाहर निकाल सशक्त हाथों में धारण करने की प्रेरणा उसके आक्रोश में सर्वत्र बिखरी पड़ी है—

तलवारें सोती जहाँ बन्द म्यानों में।
किस्मतें वहाँ लड़ती हैं तहखानों में।[2]

इस प्रकार दिनकर का असन्तोष जन-जन के हृदय में एक सशक्त विचार-प्रेरणा को प्रोत्साहित कर एक ऐसी व्यापक जन-क्रान्ति को जन्म देना चाहता है जो क्रान्ति राष्ट्र के समस्त आभ्यन्तरीय दोषों को भस्म कर एक सशक्त प्रजातन्त्र का निर्माण करेगी। दिनकर की यही कान्ति की भावना नये क्षात्र तेज और पौरुष को जगाना चाहती है जो पौरुष राष्ट्र पर किये जाने वाले बाहर के उन सभी आक्रमणों का मुँहतोड़ उत्तर दे सकता है। दिनकर का असन्तोष व्यक्ति विशेष, वर्ग विशेष या किसी एकांगी स्वरूप को लेकर प्रस्फुटित नहीं होता। उसके असन्तोष के स्वर में सम्पूर्ण राष्ट्र का वह दुःख-दर्द भरा है जिसका दायित्व सब पर समान रूप से डाला जा सकता है। उसका यही असन्तोष एक नई भाव-क्रान्ति के स्तर को लेकर प्रस्फुटित हुआ है।

(ग) क्रान्तिकारी स्वर

कवि दिनकर जनता के वास्तविक प्रतिनिधि रहे हैं। जन-शक्ति पर उनका अडिग विश्वास है। क्रान्ति जनता की संगठित शक्ति से ही उद्‌बुद्ध होने वाली वह

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ४।
२ वही, पृ० ४।

प्रतिक्रिया है जो जनता को अधिकारों से वंचित किये जाने पर तथा अन्याय, अभाव और अत्याचारों से एक दिन स्वयं ही फूट पड़ती है। विद्रोह की भावना को लेकर जब जन-शक्ति विकराल रूप धारण करती है उस समय राज्य शक्ति के ताज भी हवा में उड़ने लगते हैं, धरा काँपने लगती है।

आज का भारतीय जनतन्त्र जनता की महान् शक्ति का परिचायक है। 'जन-तन्त्र का जन्म' कविता में कवि ने जनता के इसी विराट् स्वरूप को सामने रखने का प्रयत्न किया है। वह चाहता है कि जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को समान विकास व उन्नति के अवसर तथा साधन प्राप्त हों। यदि ऐसा न हो पाया तो जनता में विद्रोह की भावना अवश्य ही फैलेगी। इसी की ओर इंगित करते हुए वह कहता है—

> लेकिन होता भूडोल बवंडर उठते हैं,
> जनता जब कोपाकुल हो भृकुटी चढ़ाती है।
> हुंकार से महलों की नींव उखड़ जाती,
> साँसों के बल से ताज हवा में उड़ते हैं।
> जनता की रोके राह समय में ताव कहाँ।
> वह जिधर चाहती काल उधर ही मुड़ता है।[1]

जनता को इस आत्मस्वरूप के दर्शन कराना कवि का मुख्य उद्देश्य है। जब तक जनता अपनी शक्ति की सही कल्पना नहीं कर पाती तब तक वह किसी भी क्रान्ति के लिए सन्नद्ध नहीं हो सकती।

जनक्रान्ति के स्रोत

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त आज भी देश में सर्वत्र असमानता, ऊँच-नीच, अन्याय, अभाव एवं विषमता की रेखाएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। एक ओर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएं तथा गगनचुम्बी प्रासाद और दूसरी ओर दीन-हीन श्रमिकों, किसानों की घास-फूस की झोंपड़ियों में छिपा हुआ विषाद कवि को उद्वेलित कर रहा है। धनिकों के ऊंचे प्रासादों की वज्र सी दीवारों की नींव में शोषितों का हाहाकार उसे स्पष्ट सुनाई दे रहा है। उसका यही हाहाकार प्रलय का विकराल रूप धारण करने के लिए विवश होता सा दीख रहा है। यदि समय रहते असमानता की यह खाई नहीं पाटी गयी तो निश्चय ही एक बार देश में जन-क्रान्ति होकर रहेगी—

> अनसुनी करते रहे इस वेदना को,
> एक दिन ऐसा अचानक हाल होगा।
> वज्र की दीवार यह फट जायेगी,

---

[1] धूप और धुआँ, पृ० ७०।

लपलपाती आग या सात्त्विक प्रलय का रूप धर कर,
नींव की आवाज बाहर जायेगी।[१]

आज भी भारत पर विनोबा जैसे सन्तों की महान् कृपा है जो भूपतियों को ऐसा अवसर प्रदान कर रही है जिससे विना रक्तमयी क्रान्ति के यह खाई पाटी जा सके। विनोवा के भूदान आन्दोलन का सा उदाहरण विश्व में कहीं अन्यत्र दिखाई न देगा —

स्वत्य छोड़कर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण,
बड़ी कृपा उसकी भारत में माँग रही वह दान।[२]

भारतीय समाज के सामने आज एक ही विकल्प है--या तो वह विनोबा, गांधी के त्यागपूर्ण आदर्शों का ईमानदारी से अनुसरण करे या फिर क्रान्ति के लिए तैयार हो जाय—

पहुँच गई है घड़ी फैसला अब करना ही होगा।
दो में एक राह पर पगले! पग धरना ही होगा।
गांधी की लो शरण बदल डालो मिल कर संसार।
या फिर रहो कल्कि के हाथों कटने को तैयार।[३]

परन्तु दिनकर का हृदय तव कहीं और विक्षुब्ध हो उठता है जब शासक निर्माणों के प्रहरी बनकर देश में समानता तथा गांधीवाद के आदर्शों की दुहाई देते हुए भारत की राजधानी में रहते हैं और उनकी नाक के नीचे ही लोभ के ये प्रेत गरीबों का रक्त चूस-चूसकर उस रेशमी नगर में नित नया रँग भरते हैं। इन चोरों के काले चेहरे देश के निर्माण के नाम पर अपने ही भाग्य का निर्माण करते चले जा रहे हैं। जनता निर्माण और योजना के लाभ से वंचित ही रहती है। कोरे आश्वासन जनता के धैर्य को और अधिक थाम नहीं सकते। जनता अपने शोषण से विक्षुब्ध हो रही है। इसके विनाशकारी परिणामों से आशंकित हो कवि स्पष्ट रूप से चेतावनी भरे स्वर में कहता है—

तो होश करो दिल्ली के देवो! होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है।
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की साँसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।[४]

---

१ नीलकुसुम, पृ० ७०।
२ वही, पृ० ७३।
३ वही, पृ० ७३।
४ दिल्ली।

इसी अभाव तथा सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अभी जनता का समर शेष है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सामाजिक समानता के स्वप्न धरे रह गये हैं। तब क्रान्ति के लिए कवि मचल रहा है। जब जनता वज्र के समान इन्द्र के इन ऐरावतों पर टूटेगी तब ये पूँजीपति तथा उनके वाहन नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे। उसका समर तब तक जारी है जब तक सारा भारत न्याय, समता के आधार पर क्रियात्मक रूप में वास्तविक लोकतन्त्रात्मक समाजवाद को साकार नहीं कर लेता—

> समर शेष है इस स्वराज्य को सत्य बनाना होगा।
> धारा के मग में अनेक पर्वत जो खड़े हुए हैं।
> गंगा का पथ रोक इन्द्र के गज जो अड़े हुए हैं।
> कह दो उनसे झुके अगर तो जग में यश पाओगे।
> अड़े रहे तो ऐरावत पत्रों से वह जाओगे।[1]

यदि स्वराज्य इसी तरह भारत के रेशमी नगर में बन्दी होकर रह जायेगा तो पापिनी दिल्ली पर जनता के क्षोभ का वज्र एक न एक दिन निश्चय ही टूटेगा—

> समर शेष है यह प्रकाश बन्दी गृह से छूटेगा।
> और नहीं तो तुझ पर पापिनी महावज्र टूटेगा।[2]

'एक बार फिर स्वर दो' में कवि ने आने वाले उस तूफान की ओर इंगित किया है जो तूफान समस्त अन्याय और अभाव को नष्ट करके ही दम लेगा। आज गांधीवाद के सिद्धान्त धधकती ज्वालाओं में से गुजर रहे हैं। वे या तो कुन्दन के समान निखर उठेंगे या फिर भस्म हो धूल-धुसरित हो जायेंगे। बेबस आँखें आशा बाँधे बैठी हैं और भारतीय जनता काल्पनिक सुख की आशाओं में अपने दर्द को खामोशी से पी रही है। कवि सबको जगाना चाहता है। आज का यह क्रूर समाज उनकी आँखों की यह व्यथा पढ़ नहीं पा रहा है। यदि जन-जन की इस वेदना का परिहार न हुआ तो एक न एक दिन इसी मूक वाणी से विप्लव के स्वर गूँज उठेंगे—

> एक बार फिर स्वर दो।
> कहो शान्ति का मन अशान्त है, बादल गुमर रहे हैं,
> तप्त ऊमसी हवा टहनियों में छटपटा रही है,
> गांधी अगर जीत कर निकले तो जल धारा बरसेगी,
> हारे तो तूफान इसी ऊमस से फूट पड़ेगा।[3]

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७७।
[2] वही, पृ० ७७।
[3] वही, पृ० ७२।

देश की यह स्थिति भरी दुपहरी में अन्धकार के छा जाने के समान है। युग के द्वार टूट चुके हैं, भविष्य की आशाएँ धूमिल हो रही हैं। वीरोचित वाणी में कवि ने आशा भरे स्वर में कहा है कि हम फिर एक बार इन सब स्थितियों का साहस के साथ सामना करेंगे। गांधीजी के सिद्धान्त आग उगलना भी जानते हैं। वह एक सम्भाव्य क्रान्ति की ओर संकेत कर रहा है। यदि गांधी का छत्र ओढ़कर पूँजीपतियों का वर्ग इसी प्रकार शोषण करता रहा तो फिर मार्क्स की बौछार से देश को बचाना कठिन है—

> ना, गांधी सेठों का चौकीदार नहीं है,
> न तो लौहमय छत्र जिसे तुम ओढ़ बचा लो,
> अपना संचित कोष मार्क्स की बौछारों से।[1]

'तब भी आता हूँ मैं' में कवि की क्रान्ति अशनि की तरह आपदाओं और संकटों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए मचल रही है। वह समझता है कि आज का शासन तन्त्र यदि ढीला रहा तो देश अवश्य एक न एक दिन डूबेगा—

> सरकार से न यदि ऊबेगा।
> डूबेगा अवश्य यह सारा देश डूबेगा।
> वैषम्य शेष यदि रहा शान्ति डोलेगी।
> अराजकता के इस रण पर चढ़कर महाक्रान्ति बोलेगी।[2]

'एनार्की' कविता के ये उद्‌गार कवि-हृदय से प्रस्फुटित हो अभी नौ दिन भी पूरे नहीं हो पाये थे कि देश की उत्तरी सीमाएँ दुश्मनों से घिर गयीं। उसकी क्रान्ति जो देश की भीतरी सीमाओं में नये जागरण के लिए मचल रही थी, इस संकट की वेला में महा-क्रान्ति का रूप धारण कर युद्ध की आग उगलने के लिए तैयार हो गयी।

महाक्रान्ति की युद्ध चेतना

हिमालय की उपत्यकाओं पर खेले हुए उस रक्तिम फाग में कवि का गौरव आहत होकर घायल शेर की भाँति दहाड़ रहा है। उसे युद्ध के दो मोर्चों पर एक साथ लड़ने के लिए तैयार होना है। एक मोर्चा उसका भीतर की थोथी शान्ति-रीति-नीति का है जिसके कारण भारत को अपने ही घर में रहना पड़ा है और दूसरा मोर्चा उसे भारती की सीमाओं पर लेना है जहाँ बाहरी दुश्मन देश के भू-भाग को हड़पने के लिए क्षुब्ध भेड़िये के समान आँखें गड़ा रहे हैं। इन दोनों ही मोर्चों के लिए उसके विचार क्रान्ति से ओतप्रोत हैं। अपनों से किया जाने वाला उसका समर जहाँ क्रान्ति

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७४।
[2] वही, पृ० ६०।

है वहाँ देश की सीमाओं की रक्षा-हेतु शत्रु से किया जाने वाला युद्ध महाक्रान्ति कहला सकता है।

वह देश की जनता में क्षात्रतेज को जगाने के लिए कृत-संकल्प है। उसका यही क्षात्र तेज परशुराम के रूप में अवतरित होने की प्रतीक्षा कर रहा है। उसकी महाक्रान्ति की यह ज्वाला भारतीय नौजवानों के उस लोहित कुण्ड से उठने वाली है जिसका निर्माण हिमालय की बर्फीली चट्टानों में शूरवीरों ने अपने रक्त से किया है। जिस लोहित कुण्ड में एक बार परशुराम का कुठार पापमुक्त हो वज्र बन गया था, आज फिर से देश के अस्त्र इस अग्नि कुण्ड से वज्र बनकर निकलेंगे—

निर्जर पिनाक हर का टंकार उठा है।
हिमवंत हाथ में ले अंगार उठा है।
ताण्डवी तेज फिर से हुंकार उठा है।
लोहित में था जो गिरा कुठार उठा है।[1]

सैनिकों के हृदय के अटल विश्वास को लेकर उसने घोषणा की है कि हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए हंस-हँस ज्वालाओं से जूझ रहे हैं। हम अपनी सीमाओं से पीछे नहीं हट सकते। परम्परागत भारतीय सैनिक का शौर्य, कवि की गौरवमयी गिरा से मुखरित हो रहा है—

सामने देश माता का भव्य चरण है।
जिह्वा पर जलता हुआ एक बस प्रण है।
काटेंगे अरि का मुण्ड कि स्वयं कटेंगे।
पीछे परन्तु सीमा से नहीं हटेंगे।[2]

वह निराश नहीं है। उसे विश्वास है कि भारत का सैनिक रक्त की नदी में तैरता हुआ भी हिमालय की रक्षा करेगा। परन्तु आवश्यकता है देश में सोये हुए जन-शक्ति के पौरुष को जगाने की ! हमें देवता समझ छलने वाले धूर्त, शक्ति के सामने ही नत-मस्तक होंगे। यह युद्ध केवल सीमा तक ही सीमित नहीं है, यह हमारी स्वतन्त्रता की परिधि पर चोट है। भारत माता के किरीट की रक्षा के लिए 'जनमे हैं तो दो बार नहीं मरना है', उनका अदम्य विश्वास, शौर्य और वीरता का ही पूजक है। वे चाहते हैं कि एक बार विना युद्ध हुए भारत का भाग्योदय नहीं हो सकता—

नाचे रण चंडिका कि उतरे प्रलय हिमालय पर से।
फटे अतल पाताल कि झरझर झरे मृत्यु अम्बर से।

---

[1] परशुराम प्रतीक्षा, पृ० ३१।
[2] वही, पृ० ७।

झेल कलेजे पर किस्मत की जो भी नाराजी है।
खेल मरण का खेल मुक्ति की यह पहली बाजी है।
सिर पर उठा वज्र आँखों पर ले हरि का अभिशाप।
अग्नि स्नान के बिना धुलेगा नहीं राष्ट्र का पाप।[1]

आज उसका एकमात्र उद्घोष 'हतो वा प्राप्यसे स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्' का है। वह भारत को भभूत रमाकर बैठे हुए तपस्वी के भेष में नहीं देखना चाहता बल्कि आज उसके हाथ में रक्त से सनी उस धार को देखना चाहता है जो बैरी का पूर्ण प्रतिशोध लेकर ही अपने परम धर्म का पालन करेगी। भारत के जन-मानस को तुच्छ स्वार्थ और लोलुपता के धरातल से ऊपर उठाकर उसमें विजय प्राप्ति की महान् भावना को भरना चाहता है—

लौलुप्य लालसा जहाँ वहीं पर क्षय है।
आनन्द नहीं जीवन का लक्ष्य विजय है।[2]

भारतीय जन-मानस को सिंह की तरह वीर बनने की प्रेरणा देता हुआ कहता है—'मेषत्व छोड़ मेषो तुम व्याघ्र बनो रे'। सृष्टि के कण-कण में वीरता और शौर्य को भरने वाला दिनकर स्वयं में भी तो प्रचण्ड है। कवि के शब्दों में तोपों का गर्जन और उसकी भावनाओं में तलवार की चमचम स्वयं ही झलकती है। उसे भारतीय जनता की शक्ति में पूर्ण विश्वास है—

जनता जगी हुई है।
भारत भूमि में किसी पुण्य पावक ने किया प्रवेश।
धधक उठा है एक दीप की लौ सा सारा देश।
खौला रही नदियाँ मेघों में शंपा लहक रही है।
फट पड़ने को बिकल शैल की छाती दहक रही है।
गर्जन, गूँज, तरंग, रोष, निर्घोष हाँक हुंकार।
जाने होगा शमित आज क्या खाकर पारावार?[3]

पानी मे भी आग लगाने वाली जनता आज जगी हुई है। उसका विश्वास है कि केवल विरोध-पत्र भेजकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने वाले जनता की आवाज को पहचानेंगे—

वैसे तो मन मार शील से हम विनम्र जीते हैं।
आततायियों का शोणित लेकिन हम भी पीते हैं।

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ४२।
२ वही, पृ० २८।
३ वही, पृ० ४१।

मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार।
सावधान ! ले रहा परशु फिर नवीन अवतार।[१]

कवि भारत के युवकों का ध्यान उनकी जवानी की ओर खींचता है क्योंकि वह जानता है कि किसी भी देश की युवा शक्ति ही उसकी वास्तविक शक्ति होती है। जवानी वह नहीं है जो नारी के कोमल सुहाग से खेलती है बल्कि जवानी ज्वालाओं से जूझने वाली, चट्टानों से टकराने वाली, सूर्य को हाथ में उठा पटकने वाली वह शक्ति है जिसको एक नई हवा देने का प्रयत्न कवि ने अपनी 'जवानियाँ' में किया है—

व' देख लो खड़ी है कौन तोप के निशान पर।
व' देख लो अड़ी है कौन जिन्दगी की आन पर।
व' कौन थी जो कूद के अभी गिरी है आग में।
अलभ्य भेंट काल को चढ़ा रही जवानियाँ।[२]

आसमान के उस पार वह वीरों की एक स्वर्गीय नई धरती की कल्पना करता है। हर सैनिक को छलाँग लगाकर उस धरती को प्राप्त करना है। यही भाव 'हिम्मत की रोशनी' मे दिये गये हैं—

न रुकना है तुझे झंडा उड़ा केवल पहाड़ों पर।
विजय पानी है तुझको चाँद सूरज पर सितारों पर।
वधू रहती जहाँ नरवीर की तलवार वालों की।
जमीं वह इस जरा से आसमां के पार है साथी।[3]

आज के भारत का सैनिक लोहे का मर्द है। उसे अपना स्वागत फूलों की कलियों से या मोदक भरे थालों से नहीं करवा लेना है। उसका आहत गौरव व स्वाभिमान एक टीस को लिये तड़प रहा है—

तड़प रही घायल स्वदेश की शान है।
सीमा पर संकट में हिन्दुस्तान है।
तिलक चढ़ा मत और हृदय में हूक दो।
दे सकते हो तो गोली-बन्दूक दो।[४]

कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति को आध्यात्मिक अर्चन का गौरव न देकर वह उनकी पूजा को वीरता का अर्चन मानता है। उसकी दृष्टि में वह सन्त, सन्त नहीं जो जाति को दन्तहीन करना चाहता है। वह जीवन की परिभाषा शान्ति में नहीं खोजता। स्वयं जीवन में उसे जीवन का शौर्य बोलता दिखाई देता है—

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ४२।
२ वही, पृ० ३५।
3 वही, पृ० ३९।
४ वही, पृ० ४०।

विज्ञान, ज्ञान बल नहीं, न तो चिन्तन है।
जीवन का अन्तिम ध्येय स्वयं जीवन है।

कवि न केवल देश की क्षात्रशक्ति को जाग्रत करने के लिए प्रयत्नशील है किन्तु वह विगत वर्षों में क्षात्रशक्ति को निर्बल करने वाले क्रियाकलापों के लिए राष्ट्र के शासकों से भी पश्चात्ताप कराना चाहता है। क्रान्ति के उद्घोष से स्वतन्त्रता का अर्चन करने वाले क्रान्तिकारियों के समक्ष शान्तिवादी और विनय की पराजय को स्वीकार करते हुए क्षमायाचना के स्वर में मनाता है—

हम समझ गये हैं खूब धर्म के छल को।
बम की महिमा को और विनय के बल को।
जा कहो करें अब क्षमा नहीं, रूठें वे।
बम उठा बाज के सदृश व्यग्र टूटें वे।[1]

कवि का विश्वास 'शापादपि शरादपि' की भूमिका पर आधारित है। वेद के 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह' के आदेश को राष्ट्र से पालन कराना चाहता है। इसीलिए वह किसी भी ऐसी एकांगी शक्ति का उपासक नहीं है जो केवल क्षात्र-धर्म की ही प्रेरणा देता हो, किन्तु उसकी क्षात्र शक्ति आध्यात्म शक्ति से उद्बुद्ध वह क्षात्र शक्ति है, जिसमें ब्रह्मोचित मानवता तथा क्षत्रियोचित वीरता हो। अतः वह अनेक शूरवीर क्षत्रिय पात्रों को छोड़ अजेय परशुराम की प्रतीक्षा कर रहा है। नये भारत के भाग्य विधाता के एक हाथ नें परशु और दूसरे हाथ में कुश को रखा है। वह न केवल रिपुदल का संहारक है अपितु देश की क्लैव्य शक्तियों को भी भस्मसात् करने का सामर्थ्य लिये है—

है एक हाथ में परशु, एक में कुश है।
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है।[2]

देश की वर्तमान सीमा समस्या का हल सिवा रण के कुछ नहीं है। भारतवासियों की निद्रा भग्न हो चुकी है। वह घोषणा करता है—रण में समग्र भारत को ले जाना है। बलिदान देना केवल सैनिकों का काम नहीं। सभी को अपने-अपने क्षेत्रों में सैनिक की भाँति जूझना होगा। चाहे फिर वह खेत और खलिहान ही क्यों न हों—

सरहद पर ही नहीं मोरचे खुले हुए हैं।
खेतों में खलिहान बैठकों बाजारों में।[3]

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १०।
[2] वही, पृ० १५।
[3] वही, पृ० ५६।

कर्त्तव्य की पुकार

कवि की दृष्टि केवल हिमालय को लाँघने वाले शत्रुओं पर ही नहीं है, अपितु देश के भीतरी दुश्मनों के प्रति भी वह सजग है। देश के हर छल-छिद्र का सजग प्रहरी की तरह अनुशीलन करते हुए प्रत्येक वर्ग की क्षीणताओं पर निर्मम प्रहार कर उसे संकट के समय अपने कर्त्तव्य की याद दिला रहा है। पूँजीपतियों को इस संकट के समय स्वर्णदान देकर देश के हाथ मजबूत करने चाहिए। अपने धन के सदुपयोग की सलाह देता हुआ चेतावनी भरे स्वर में संग्रह की दुष्प्रवृत्ति को लक्ष्य में रख कहता है—

> तूफान उठेगा प्रलय बाण छूटेगा।
> है जहाँ स्वर्ण, बम वहीं स्यात् फूटेगा।[1]

श्रमिकों को आलस्य छोड़, हड़तालों की विघातक प्रवृत्तियों से परे हट, युद्ध में अपना क्रियात्मक योगदान देने के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि युद्ध के समय हड़ताल करना देश की शक्ति को निर्बल करने का सा प्रयास समझा जाता है—

> सीं लें जबान चुपचाप काम पर जायें।
> हम यहाँ रक्त, वे घर में स्वेद बहायें।[2]

कवि पूँजीपति और मजदूर वर्ग दोनों को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाकर, उनका आह्वान इस युद्ध में कर रहा है, मानों न्यायतुला लेकर वह वाद, वर्ग के बन्धन से ऊपर उठ एक स्वर से राष्ट्र को सशक्त बनाने के लिए कृत-संकल्प है। साथ ही वह शासन शूत्र को अनुशासित तथा अधिक कठोर बनाना चाहता है। शासन का अनय उसे असह्य है—

> जा कहो पुण्य यदि बढ़ा नहीं शासन में।
> या आग सुलगती रही प्रजा के मन में।
> तामस बढ़ता ही गया ढकेल प्रभा को।
> निर्बाध पंथ यदि मिला नहीं प्रतिभा को।
> रिपु नहीं यही अन्याय हमें मारेगा।
> अपने ही घर में फिर स्वदेश हारेगा।[3]

इतिहास के उन शूरवीर महारथियों का स्मरण कराकर वह देश की सुप्त चेतना को झकझोर रहा है। भारतीय गौरव की रक्षा करने वाले शूरवीरों का स्मरण उसे नया साहस प्रदान करता है। स्वतन्त्रता संघर्ष के अमर बलिदान उसकी काव्य साधना के प्रेरणा स्रोत हैं—

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ५।
२ वही, पृ० ५।
३ वही, पृ० ६०।

साधना स्वयं शोणित कर धार रही है।
सतलज को साबरमती पुकार रही है।[1]

अमर सेनानी भारतीय हृदय सम्राट सुभाषचन्द्र बोस की याद कर कवि उन्हें टेर रहा है। पूर्ण राष्ट्रीयता से आप्लावित हो वीर भगतसिंह के साथ-साथ टीपू सुल्तान, अशफाक उल्लाखाँ और उस्मान का भी स्मरण उसे साथ ही हो आया है जिन्होंने जातीयता के धरातल से ऊपर उठकर हँसते-हँसते मातृ-भू के चरणों में अपने शीश न्यौछावर कर दिये थे। साम्प्रदायिकता की खाई को पाटकर वह देश की रक्षा के लिए हिन्दू, सिख, ईसाई सभी को कटिबद्ध कराना चाहता है—

माँगो माँगो वरदान धाम चारों से।
मंदिरों मस्जिदों गुरुद्वारों से।
जब मिले काल जय महाकाल बोलो रे।
सत् श्री अकाल सत् श्री अकाल बोलो रे।

इस राष्ट्रीय जागरण में न केवल पुरुष बल्कि नारी को भी चण्डिका बन पुरुष के कंधे से कंधा लगाकर अपना विशिष्ट योगदान करना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि भारत की नारी सदा से ही त्याग व बलिदान की भावना से अनुप्राणित होकर अपने पति को रणक्षेत्र में जूझने का साहस प्रदान करती आयी है। राजपूताने की हाड़ा रानी ने पति को निश्चिन्त होकर शत्रुओं से जूझने का अवसर देने के लिए अपने शीश को काटकर पति के पास भिजवा दिया था। रानी कैकेई ने दशरथ के रथ का चक्र टूट जाने पर कंधा लगाकर अर्द्धांगिनी का कर्त्तव्य निभाया था। इन्हीं प्राचीन कथाओं की ओर इंगित करते हुए कवि इस संकट काल में भारतीय नारी के सहयोग की अपेक्षा करते हुए कहता है—

जब भी उठती हुंकार युद्ध ज्वाला है।
चण्डिका कान्त को मुण्डमाल देती है।
रथ के चक्के में भुज डाल देती है।[2]

वह नर-नारी के प्रेम को भी युद्ध की ज्वाला में घृताहुति के रूप में झोंक देना चाहता है क्योंकि वह जानता है कि वीरता ही नर का भूषण है और सदा से नारी ने वीर पुरुष की अर्चना की है। सच्चा प्रेम बलि होने का पाठ सिखाता है—

पाओ रमणी का हृदय विजय अपना कर।
या बसो वहाँ बलिदान बीज बोती है।
तलवार प्रेम से और तेज होती है।[3]

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १०।
[2] वही, पृ० १९।
[3] वही, पृ० २०।

सहसा उसका ध्यान चित्तौड़ की धू-धू करती हुई चिताओं की ओर आकृष्ट हो गया है जहाँ देश के स्वाभिमान की रक्षा के लिए राष्ट्र की रमणियाँ खुशी-खुशी ज्वालाओं का आलिंगन करती रही हैं। बिना नारी के योगदान के विजय का यह महायज्ञ पूरा नहीं हो सकता। नारी को अपने परम्परागत कर्त्तव्य की याद दिलाते हुए, जौहर की ज्वालाओं से कवि के कुछ भाव-स्फुलिंग प्रस्फुटित हो रहे हैं—

हारे नर को देख देवियाँ दबी ग्लानि के भार से।
जल उठती हैं अगर काट सकती न कण्ठ तलवार से।[1]

युद्ध एक आपद्धर्म

आवश्यकता से अधिक धर्म की धरा पर चलने वाले, धर्म भीरुओं को अहिंसा के दीन चिन्तन से ऊपर उठाकर कवि एक नये धर्म की धरा पर ला खड़ा करना चाहता है और यह धर्म आपद्धर्म है। युद्ध की धरा पर हार सब से बड़ा पाप है और विजय ही सबसे बड़ा धर्म है। आज कोयल की मधुर कूक नहीं, बाज का स्वरूप चाहिए। अहिंसा के समस्त धर्म बन्धनों को छोड़कर, धर्म की रक्षा हेतु ही युद्ध के आपद्धर्म पर चलना होगा। शूरता इस धर्म का पहला लक्षण है—

शूरता स्वस्थ जाति का चिर अनिद्र जाग्रत स्वभाव।
शूरत्व मृत्यु के बरने का निर्भीक भाव।
शूरत्व त्याग, शूरता बुद्धि की प्रखर आग।
शूरत्व मनुष्य का द्विधा मुक्त चिन्तन है।[2]

हिमालय की बर्फीली चट्टानों पर भारतीय वीर सैनिकों का जो रक्त जम चुका है वह अग्नि कुण्ड के रूप में भारतीय आत्मा को फौलादी पुरुष बनाने का सामर्थ्य रखता है। कवि जनता का प्रतिनिधि है, उसे भारतीय जनता पर पूर्ण विश्वास है, किन्तु आज वह भारत के कर्णधारों के पीछे उस रीति-नीति पर विश्वास नहीं करता, जो भारत के जनमानस को दिग्भ्रमित कर रही है। वह चाहता है कि जनता इन कर्णधारों के पीछे आँख मूँदकर चलने की प्रवृत्ति का त्याग करे और दिग्भ्रमितों का स्वयं पथ-प्रदर्शन करे। कवि जाग्रत भारतीय जन-समूह को अपनी शक्ति पर विश्वास रख युद्ध में उत्साह से भाग लेने की प्रेरणा दे रहा है। उद्दाम ध्वंसक शक्ति के द्वारा ही भारत के शत्रुओं को मुँहतोड़ उत्तर दिया जा सकता है। इस समय तो—

पर्वत-पति को आमूल डोलना होगा।
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा।

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० २०।
२ वही, पृ० ५०।

असि पर अशोक को मुण्ड तोलना होगा।
गौतम को जय-जय कार बोलना होगा।[१]

आज गांधीजी के सिद्धान्तों को कसौटी पर कसने का समय है। बिना शस्त्र के तपस्या भी सफल नहीं होती। अरि का मान मर्दन सशस्त्र सेनाएँ ही कर सकती हैं। विश्वामित्र को भी यज्ञ की रक्षा करने के लिए राम-लक्ष्मण को खड़ा करना पड़ा था। बिना शस्त्र-बल के शास्त्रों की रक्षा करना भी कठिन हो जाता है—

आज अहिंसा नहीं, कसौटी पर गांधी की आग है।
जहाँ शस्त्र बल नहीं, शास्त्र पछताते या रोते हैं।
ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप से मिलती है।
जब पहरे पर स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं।[२]

सत्य और अहिंसा के आदर्श, आदर्शवादी मानव-संस्कृति के आधार बन सकते हैं परन्तु हिंस्र पशुओं से संस्कृति की रक्षा, बिना हिंसा के सम्भव नहीं। जब देश ज्वर-ग्रसित हो रहा हो तो उसे कवोष्ण पानी ही पिलाना पड़ेगा—

कच्चा पानी ठीक नहीं है, ज्वर ग्रसित देश है।
उबला हुआ समुष्ण सलिल है पथ्य वही परिशोधित जल दे।[3]

गांधी, बुद्ध और अशोक के दर्शनों से राष्ट्र की रक्षा कठिन है। राष्ट्र-रक्षा तो शस्त्रों से ही सम्भव है। आज देश के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने के लिए तथा उन आदर्शों की रक्षा करने के लिए ही उन आदर्शों को भूलना होगा। यह संकट स्वयं गांधी, गंगा, गौतम पर ही संकट है—

गांधी बुद्ध अशोक नाम हैं बड़े दिव्य स्वप्नों के।
भारत स्वयं मनुष्य जाति की बहुत बड़ी कविता है।'
गांधी बुद्ध अशोक अब विचारों से नहीं बचेंगे।
उठा खड्ग यह और किसी पर नहीं।
स्वयं गांधी गंगा गौतम पर ही संकट है।[४]

इतिहास के पृष्ठों में ऊँचे आदर्श वाले पुरुषों के नाम अवश्य लिखे जाते हैं परन्तु हारने वालों के लिए इतिहास ने स्वयं आंसू बहाये हैं। दुर्बल अशक्त कायरों को इतिहास ने कभी क्षमा नहीं किया है। यही इतिहास का सर्वोपरि न्याय है। इसी कलंक

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १२।
२ वही, पृ० ४५।
3 वही, पृ० ४६।
४ वही, पृ० ६०।

से बचने के लिए तथा गांधी की रक्षा के लिए ही कवि युद्ध में विजयी बनने की प्रेरणा देते हुए देशवासियों को जगा रहा है—

> देशवासी ! जागो ! जागो !
> गांधी की रक्षा करने गांधी से भागो ।[1]

राष्ट्रीयता की चरम सीमा पर पहुँचकर वह सभी सम्बन्ध और नातों का आधार राष्ट्र-विजय को ही बताता है। यदि राष्ट्र विजयी है तभी हमें, पति-पत्नी, पिता-पुत्र के रूप में जीने का अधिकार है—

> विजयी अगर स्वदेश, प्रिया प्रियतम का फिर नाता है।
> विजयी अगर स्वदेश पुरुष फिर पुत्र त्रिया माता है।[2]

शान्तिवादियों को, शान्ति की बार-बार रट लगाने वालों को कवि ने दुत्कारा है। आज देश के अन्दर पुत्र के लिए पिता-माता, भाई के लिए बहन, पति के लिए पत्नी आँसू बहा रही है। ये आँसू क्या उस छीछालेदर शान्ति के नारों का दुष्परिणाम नहीं हैं ? शान्ति के नाम पर कपोत उड़ाने वालों को सम्बोधित करते हुए वह कहता है—

> माताओं को शोक युवतियों को विषाद है।
> बेकसूर बच्चे अनाथ होकर रोते हैं।
> शान्ति वादियो ! यही तुम्हारा शान्ति वाद है।
> अब मत लेना नाम शान्ति का जिह्वा जल जायेगी ।[3]

आज तो वह भारत को क्रान्ति की ओर ले जाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है। ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए, शत्रु से दो-दो हाथ करने की इच्छा से देश की युवा शक्ति मचल रही है। विश्वासघाती शत्रु ने आज हमें ललकारा है, उसे वीरोचित पाठ सिखा कर ही भारत दम लेगा—

> यह नहीं शान्ति की गुफा, युद्ध है रण है।
> तप नहीं आज, केवल तलवार शरण है।
> ललकार रहा भारत को स्वयं मरण है।
> हम जीतेंगे यह समर, हमारा प्रण है।[4]

दिनकर उस दिन की बाट जोह रहे हैं जब देश का प्रत्येक युवक परशुराम की तरह क्रुद्ध नाहर के रूप में अरि का मान मर्दन करेगा। निश्चय ही 'परशुराम की प्रतीक्षा'

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ५८ ।
[2] वही, पृ० ४८ ।
[3] वही, पृ० ५७ ।
[4] वही, पृ० १२ ।

से फूटा हुआ दिनकर का यह ओजस्वी स्वर भारतीय दिग्दिगन्त को झकझोर कर नव-चैतन्य प्रदान करेगा। शासन चक्र के महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन हो, दिनकर ने यथार्थ के धरातल पर शासकों की कटु से कटुतम आलोचना कर कवि कर्त्तव्य का दृढ़ता से पालन किया है। उसका हृदय पवित्र है, उसकी वाणी से कटु सत्य के जो स्वर फूट पड़े हैं उनमें भी पूरी पवित्रता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के इस कटु अमृत को पीकर भारत की युवा शक्ति वज्र पुरुष वन भारत माता के गौरव की रक्षा का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त कर सकेगी। इससे जनता और शासक दोनों ही ऐसे महान् ओज और तेज को प्राप्त करेंगे जिसके द्वारा भारत पर भीतर और बाहर से आने वाली समस्त आपदाओं की काली घनघोर घटा विदीर्ण हो जायेगी और भारत का सौभाग्य सूर्य अपनी सुनहरी रश्मियों से भारत-भू को आलोकित करेगा।

बढ़ते कदम

सन् १९६२ में चीनियों द्वारा हिमाचल की गोद में भारतीय सैनिकों के बहाये गये लहू से क्लान्त हो दिनकर ने जिस 'परशुराम की प्रतीक्षा' और उस लोहित कुण्ड से निकले हुए परशु की जो कल्पना की थी, वह जब ५ सितम्बर, १९६५ के दिन भारत के किरीट पर पाकिस्तान ने हाथ डालने का दुष्प्रयास किया तो लाल बहादुर शास्त्री के नेतृत्व में साकार हो उठी। भारत की जनता में यह विश्वास हो गया कि नये इतिहास के प्रणेता प्रधान मन्त्री लाल बहादुर के हाथों में भारत पूर्ण सुरक्षित है।

निश्चय ही अग्नि कुण्ड से तपकर निकले हुए हमारे नैट विमान परशु सी कठोरता को धारण करने का साहस सँजो रहे हैं। पाकिस्तान के सैबर जैट व पैटर्न टैंक जिस वज्र की मार से छिन्न-भिन्न हुए हैं, भारतीय सैनिकों की उस सशक्त मार को सदियों तक दुश्मन भुला न पायेगा। भारत के वीर सैनिकों ने दुश्मन के जिस विधि छक्के छुड़ाये हैं उससे कवि दिनकर का हृदय पुलकित हो उठा और तभी तो उसके कण्ठ से मर्दों का गीत फूट पड़ा जो युवा शक्ति को अपने रक्त से युद्ध की प्यास बुझाने की प्रेरणा दे रहा है—

> शस्त्रों के नहीं, मर्दों के गीत गाओ।
> युद्ध का देवता पुराना रक्त नहीं पीता है।
> वह उन्हें खाकर जीता है, जो इन्सानियत के सिर ताज
> और अगली पीढ़ी की जान हैं, यानी जो ताजे हरे,
> कच्चे और नौजवान हैं।[1]

आज ऐसा लगता है कि हम साँचे में ढलकर एक कौम वन गये हैं। शताब्दियों के

---

१ धर्मयुग, ३१ अक्टूबर, १९६१।

वाद भारत ने युद्ध का एक खण्ड काव्य लिखा है। शताब्दियों के हिन्दुस्तान ने इतने अद्भुत शौर्य से आकाश पर हस्ताक्षर किये हैं। हम में विश्वास जागा है कि हम मात्र उपदेष्टा नहीं योद्धा भी हैं।[१] ३० सितम्बर को कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए दिनकर के ये शब्द काव्य की तरह ही ओजस्वी व प्रभावोत्पादक हैं।

विश्व रंगमंच के कुटिल राजनीतिज्ञों को यह कल्पना तक न थी कि गांधी का देश लाल बहादुर के रूप में परशुराम सा ओज और तेज भी धारण कर सकता है। राष्ट्रकवि दिनकर के हृदय से उद्बुद्ध भावों का यह मूर्तरूप कवि की भाव-सफलता पर जन-जन की मुस्कान विखेरता दृष्टिगोचर होता है। राष्ट्रकवि की राष्ट्रीय भावनाएँ यथार्थ के उस धरातल पर एक न एक दिन (परिस्थितियों से विवश होकर ही क्यों न हो) खड़े होकर राष्ट्र को सोचना होगा। इस प्रकार दिनकर आज वर्तमान भारत को उस अतीत गौरव की ओर धकेल रहा है, जिस गौरव की कल्पना बाल कवि के रूप में दिनकर ने अपनी प्रथम उषा में की थी। किन्तु भारत का वर्तमान स्वरूप दिनकर की सुनहरी कल्पनाओं का आभास ही पा सका है। राष्ट्रकवि के सपनों का भारत पूर्ण रूप से तभी साकार होगा जब भारत का भीतरी समाज पूर्ण समता तथा न्याय के आदर्शों पर, शौर्य और वीरता के साथ मंजिल की ओर आगे बढ़ेगा तथा उसका भविष्य दिनकर की रक्तिम आभा को लेकर भविष्य में वह छटा छिटकायेगा जिससे समस्त विश्व आलोकित हो उठेगा।

राष्ट्रीय काव्य में दिनकर युग-युगों तक दिनकर की ही तरह जगमगाता रहेगा। जिस प्रकार सूर्य अपने उदय से विश्व को दिशा बोध कराता है ठीक उसी प्रकार दिनकर का ओजस्वी काव्य सदैव राष्ट्र को सही दिशा दिखाता रहेगा। हिन्दी साहित्य की राष्ट्रीय काव्य धारा में दिनकर के भाव वह ज्योतिस्तम्भ हैं जिससे भूला भटका राष्ट्र वास्तविक पथ को प्राप्त कर फिर से विश्व-गुरु के गौरवपूर्ण पद को सुशोभित कर सकेगा।

---

[१] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७-१०-६५।

षष्ठ किरण

भविष्य की भाव रश्मियाँ

भविष्य की भाव रश्मियाँ

(क) राष्ट्रीय स्वर

(ख) अन्तरराष्ट्रीय स्वर

भविष्य की भाव रश्मियाँ

आशावादी दिनकर

राष्ट्रकवि दिनकर की काव्य-साधना एक सुनहरे भविष्य का निर्माण करना चाहती है। उज्ज्वल भविष्य की कामना लेकर उनकी कविता सदैव राह खोजती रही है। कवि का स्वर सदा से आशावादी है। आशा के पुष्प भविष्य में ही खिला करते हैं। जो कवि भविष्य से सर्वथा उदासीन हो जाता है, उसके भाव अश्रु बनकर स्वयं ही विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु दिनकर का कवि अश्रु बहाना नहीं जानता। बड़ी से बड़ी विपदा तथा महापतन के दुर्द्धर्ष दृश्य देखकर भी वह सदा साहसी बन, हर पतन और विनाश से प्रेरणा का सम्बल ले, कहीं अधिक साहस और शौर्य से आगे बढ़ने के लिए, नई गति व शक्ति प्राप्त करता रहा है।

पराधीन देश, तड़पती दासता, पिसती हुई मानवता के बीच नई आशा किरण को लेकर दिनकर हिन्दी-काव्य-गगन में उदित हुए। कल्पना के झूले में उनके माता-पिता ने जो नाम उन्हें दिया, उनका जीवन उन्हीं इतिहास प्रसिद्ध राम के ही गुणों और आदर्शों को धारण कर सिंह की तरह जीवनयापन करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। जिस प्रकार गांधीजी के सपनों का भारत रामराज्य में था, ठीक उसी प्रकार श्री रामधारी के सपनों का मानव राम है। गांधीजी की कल्पना, राज्य में राम के आदर्शों की स्थापना करना चाहती थी, किन्तु दिनकर राज्य में राम के आदर्शों को स्थापित करने से पूर्व राम को उत्पन्न करना चाहते हैं। इसलिए जन-जन को राम बनाने की प्रेरणा उनके स्वर में अनायास ही फूट पड़ी है—

> वे पियें शीत तुम आतप घाम पियो रे।
> वे जपें नाम तुम बन कर राम जियो रे।[1]

कवि जनमानस में राम के प्रति श्रद्धा के भाव भरकर, उन्हें केवल राम के पुजारी के रूप में देखना नहीं चाहता, वरन् भारतीय जनमानस को राम बना, विश्व से पूजित होने का स्वप्न देखता है। रामधारी की जीवन-व्याख्या स्वयं रामधारी की संज्ञा में परिपूर्ण है और उनका उपनाम दिनकर राष्ट्र की तेजस्विता का द्योतक है। नाम और उपनाम दोनों की सार्थकता जीवन और काव्य में अक्षरशः यथार्थ सिद्ध हो चुकी है। जिस असीम ओज और तेज को लेकर दिनकर उठे, उनका वह ओज और

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० २७।

तेज, उत्तरोत्तर प्रचण्ड और प्रखर होता चला गया है। उस दिशा में वे भौतिक दिनकर के समक्ष ही ठहरते हैं। उनके काव्य में नित नवीन उषा की प्रभा, मध्याह्न की प्रखरता व सान्ध्य सुषमा के दर्शन होते हैं। उनकी शान्ति उग्र और प्रचण्ड तेज के पीछे निवास करती है जिसे सम्भवतः वे भारत के भविष्य में देखते हैं। शान्ति उनका मार्ग नहीं है अपितु यह उनके भविष्य की वह मंजिल है जिसे प्राप्त करने के लिए वे सदा से भारतीय जनता का आह्वान करते आये हैं—स्वान्तःसुखाय नहीं, लोकहिताय।

हिन्दी साहित्य के सूर्य महाकवि तुलसीदास रामचरितमानस का निर्माण स्वान्तःसुखाय करने की घोषणा कर गये और मानस की रचना के बाद उनके हृदय में निश्चय ही अपार सुख व सन्तोष उपजा होगा। किन्तु आधुनिक राष्ट्रीय काव्य के सूर्य दिनकर का काव्य पूर्णतः लोकहिताय लिखा गया है। जब तक लोक में वास्तविक रूप से सुख और शान्ति की सृष्टि नहीं हो जाती तब तक दिनकर का अन्तःकरण सन्तोष का स्पर्श भी नहीं कर सकता। वह तो जन-जन के दुःख-दर्द को मोल लेता, तथा जन-जन के पूर्ण हित की कामना करते हुए आगे बढ़ता है।

उनके विचारों का भविष्य सुनहरी कल्पना मात्र नहीं है, वह यथार्थ के उन आदर्शों पर खड़ा होगा जिनको आज नहीं तो कल राष्ट्र को अपनाना ही होगा। दिनकर के काव्य में नये भारत राष्ट्र की उज्ज्वल कल्पना छिपी है। परन्तु उनके विचारों का भारत, भूमि की सीमाओं का भारत नहीं है, वरन् ऐसी उदात्त भावना का भारत है जिसे राष्ट्रीयता के पूर्ण आदर्शों को प्राप्त कर अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप धारण करना होगा—

> भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है।
> एक देश का नहीं शील, यह भूमण्डल भर का है।
> जहाँ कहीं एकता अखण्डित जहाँ प्रेम का स्वर है।
> देश देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट रूप से दिनकर के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी भविष्य की राष्ट्रीय भावनाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक भाग भारत राष्ट्र के भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाला राष्ट्रीय स्वर और दूसरा भारत राष्ट्र के माध्यम से विश्व में आलोक छिटकाने वाला अन्तरराष्ट्रीय स्वर।

इन्हीं दो रूपों में हम दिनकर की काव्यगत भविष्य की भावनाओं का उल्लेख करें। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है कि उनके ये दोनों स्वर एक दूसरे के पूरक हैं। अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से ही वे एक ऐसे स्वर्णिम विश्व का निर्माण करने जा रहे हैं, जहाँ समता और शान्ति का पूर्ण स्वरूप दृष्टिगोचर होगा।

---

१ नीलकुसुम।

(क) राष्ट्रीय स्वर

कवि के अतीत गौरव-गान में तथा वर्तमान की व्यथा में एक सुनहरे भविष्य की मौन कल्पना बोलती प्रतीत होती है। उसके सपनों का भविष्य अतीत के उन सांस्कृतिक आदर्शों पर खड़ा है, जिन आदर्शों के द्वारा युगों-युगों तक भारत ने विश्व को शान्ति और मानवता का सन्देश दिया था। उसकी रेणुकामयी चिनगियाँ, हुंकार में दहाड़ता उसका हृदय, कुरुक्षेत्र में गूँजता हुआ उसका युद्ध दर्शन, रश्मिरथी में बोलती हुई सामाजिक विषमता, एक नये भारत के निर्माण के लिए तड़प रही हैं। परशुराम की प्रतीक्षा इन समस्त परिस्थितियों से उभार कर एक ऐसे सत्यं शिवं सुन्दरं की भवितव्यता की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करती दृष्टिगोचर होती है।

वह यथार्थवादी है, इसलिए प्रथम राष्ट्रवादी, फिर अन्तरराष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होता है। जो पहले राष्ट्रीयता को धारण नहीं कर सका, वह अन्तरराष्ट्रीयता की उदात्त भावना को कैसे आत्मसात् कर सकता है? उसकी राष्ट्रीयता अन्तर-राष्ट्रीयता से पृथक किसी प्रकार का भी मूल्य नहीं रखती या यह कहें कि कवि की राष्ट्रीयता अन्तरराष्ट्रीयता का वह प्रथम सोपान है, जिस पर आरूढ़ होकर वह समस्त विश्व को विश्व बन्धुत्व की ओर ले जाने का सामर्थ्य सँजोता है। स्वयं कवि के शब्दों में प्रत्येक देश की अपनी समस्याएँ, अपनी परिस्थितियाँ और प्रश्न हैं। उन्हीं के अनुरूप वहाँ समाज और कला का स्वाभाविक विकास होना चाहिए। जहाँ अन्तरराष्ट्रीयता के एक ढांचे को आदर्श मानकर उसे सभी देशों पर लादने की कोशिश की जाती है वहाँ समाज और साहित्य दोनों ही के रूप अप्राकृतिक एवं अनुकरणशील हो जा सकते हैं। हमारे यहाँ की कला कृतियों की जाँच हमारी ही आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि पर की जानी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीयता के नारों के बीच राष्ट्रीयता को दबा देने का प्रयास हमारे लिए मंगलकारी नहीं हो सकता।

आदर्शवादी राष्ट्रीयता

दिनकर ने जब से काव्याकाश में पदार्पण किया, तभी से वह अतीत के आदर्शों का पुजारी रहा है। इसलिए कि भारत के अतीत आदर्श किसी विशेष भू-भाग के या किसी सीमा में बँधे हुए एकांगी आदर्श नहीं है अतः रेणुका से ही उसके काव्य ने विश्व बन्धुत्व तथा विश्व शान्ति के मन्त्र जपे हैं। कवि परिस्थितियों से प्रताड़ित विश्व मानवता को निरन्तर आसुरी वृत्ति की ओर बढ़ता हुआ देखकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' में राष्ट्रीयता की एक ऐसी शक्ति को जन्म देना चाहता है, जिस शक्ति के द्वारा वह विश्व में मानवता के वास्तविक मूल्यों की स्थापना कर सके।

---

१ दिनकर, मिट्टी की ओर, पृ० १६६।

विश्व में व्याप्त स्वार्थ की भावनाएँ भारतीय संस्कृति को कुचलने के लिए उद्यत हैं। भारत की सीमाएँ उस संस्कृति की परम रक्षिका हैं। जब तक हम अपनी सीमाओं पर उमड़ने वाली विपदाओं से दो चार नहीं होते, तब तक अपने आदर्शों को कदापि विश्व में मानवता नहीं दिला सकते। पंचशील और सह-अस्तित्व की भावना भी सशक्त हाथों से ही अंकुरित की जा सकती है। इसलिए उसके सपनों का भारत एक ऐसा सशक्त राष्ट्र होगा जो किसी भी दिशा से बढ़ते हुए शत्रुओं के कदमों को पूरी तरह से न केवल रोकने में समर्थ होगा अपितु वह अरि का अच्छी तरह से मान मर्दन करके ही चैन की साँस लेगा।

निर्बल आत्मा में आदर्श संस्कृति का निवास कदापि सम्भव नहीं। हमारे आदर्श हमारी दुर्बलता को देखकर स्वयं हमसे दूर होते चले जा रहे हैं। वह निर्बलता को एक बार भारत की इंच-इंच भूमि से निकाल कर समूचे राष्ट्र में वीरता के ऐसे भाव जगाना चाहता है, जिसके आधार पर भारत अपनी संस्कृति और आदर्शों की रक्षा कर सकेगा। आज हमारा विश्व-शान्ति का उद्घोष, हमारी दुर्बलता के कारण हमारा उपहास करता सा प्रतीत होता है। शान्ति दुर्बलता में कदापि स्थिर नहीं रह सकती। शान्ति का निवास तो शेर की उस गुफा में ही सम्भव है, जहाँ अशान्ति स्वयं प्रविष्ट होने तक के लिए थर्राती है। उसके भविष्य का भारत ऐसा ही सिंहमय भारत होगा जिसकी भृकुटी मात्र से ही विश्व वास्तविक आदर्शों पर चलने के लिए बाध्य रहेगा। धरती को धँसाने की क्षमता, तूफानों को उठाने का साहस, सागर को मुट्ठी में बाँधने की हिम्मत उसके भविष्य के भारत में स्पष्ट झलकती है—

बाँहों से हम अम्बुधि अगाध थाहेंगे।
धँस जायेगी यह धरा अगर चाहेंगे।
तूफान हमारे इंगित पर ठहरेंगे।
हम जहाँ कहेंगे मेघ वहीं घहरेंगे।[1]

विरोध-पत्रों से या शान्ति के नाम पर की जा रही अपीलों से विश्व कदापि युद्ध की विभीषिका से बच नहीं सकता। स्वार्थ-लिप्सु हिंस्र-पशु विश्व से मानवता के आदर्शों को सर्वप्रथम विनष्ट करना चाहते हैं। इसीलिए आज भारत की ओर उन लुब्ध भेड़ियों की दृष्टि गढ़ी हुई है। बड़े राष्ट्रों के वंचक हमारी मानवतावादी प्रवृत्तियों का उपहास करते हैं, किन्तु जब हम अपने में असीम शक्ति का संचार कर लेंगे तब की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न होंगी—

जो असुर हमें सुर समझ आज हँसते हैं।
वंचक श्रृगाल भूँकते सांप डसते हैं।

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७।

कल यही कृपा के लिए हाथ जोड़ेंगे।
भृकुटि विलोक दुष्टता-द्वन्द्व छोड़ेंगे।[१]

अभिशाप नहीं वरदान

वर्तमान में राष्ट्र के लिए हमने जो रक्त बहाया है, उसका सुन्दर परिणाम एक न एक दिन अवश्य निकलेगा। हिमालय की उपत्यकाओं में दुष्ट चीनियों का प्रतिरोध करते हुए, देश के वीर सैनिकों ने, मातृभूमि की रक्षा के लिए जो आत्मोत्सर्ग किया है, उनका यह अमर बलिदान रंग लाकर ही रहेगा। इसी आशावादी स्वर में उनका सशक्त स्वर, सबल भविष्य का स्वप्न देख रहा है जिसमें उद्दाम राष्ट्र की उदात्त कल्पना अन्तर्निहित है—

पर, हमने तो सींचा है उसे लहू से,
चढ़ती उमंग की कलियों की खुशबू से।
क्या यह अपूर्व बलिदान पचा वह लेगी?
उद्दाम राष्ट्र क्या हमें नहीं वह देगी?[२]

शंकर के ताण्डव नृत्य में, दिगम्बरी के विप्लव में, विपथगा की झंकारों में, वह जिस भविष्य की कल्पना कर रहा था, आज उसका वही भविष्य ज्वालामुखी सी आग उगलती, सिंह सी दहाड़ती अपने ध्वनि-प्रभंजन से भू को कँपानेवाली तोपों की गड़-गड़ाहट में बोल रहा है। यद्यपि चीनियों के आक्रमण ने हमें कुछ हद तक मात दी है, किन्तु उसका यह आक्रमण हमारे लिए निश्चय ही वरदान सिद्ध होगा। सोता शेर आहत हो गया है किन्तु अब वह कहीं और अधिक विकराल रूप धारण कर किसी भी दिशा से होनेवाले अरि के आक्रमण का सशक्त प्रत्युत्तर दे सकेगा।

सदियों से निद्रामग्न भारत की निद्रा आज सहसा भग हुई है। सारा का सारा इतिहास आज स्वयं स्तम्भित हो गया है क्योंकि युगों-युगों से भारत के सशक्त प्रहरी हिमालय को आज पहली बार आक्रान्त होना पड़ा है। हमारी पंचशील की शान्ति शिला पर, अहिंसक नीति पर, यह जो प्रहार हुआ है इससे निश्चय ही शिव का तृतीय नेत्र खुलेगा और हिमालय से एक ऐसी अजस्र धार फूटेगी जिससे एक नये इतिहास तथा सुन्दर भविष्य का निर्माण होगा। अतः चीनियों का आक्रमण भले ही अभिशाप प्रतीत हो रहा हो किन्तु यह वरदान सिद्ध होकर रहेगा—

कुछ सोच रहा है समय राह में थम कर।
है ठहर गया सहसा इतिहास सहम कर।

---

[१] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ८।
[२] वही, पृ० १३।

सदियों में शिव का अचल ध्यान डोला है।
तोपों के भीतर से भविष्य बोला है।
चोटें पड़ती यदि रहीं शिला टूटेगी।
भारत में कोई नई धार फूटेगी।[1]

हिमालय की बर्फीली चट्टानों को चीरकर जो ज्वालामुखी फूटा है वह अब शान्त नहीं हो सकता। उसी ज्वाला के प्रकाश में भारत का सुनहरा भविष्य निर्मित होने जा रहा है। जहाँ उसकी जन-शक्ति विष्णु का निर्माणात्मक रूप लेगी वहाँ उसमें शंकर की ध्वंसात्मक, आसुरी प्रवृत्तियों को नष्ट करने की अप्रतिम शक्ति भी होगी। अध्यात्म-चिन्तन की साधना और तपस्या की भूमि हिमालय से अब एक नई शक्ति का उदय होगा। उत्तराखण्ड से प्रस्फुटित यह अविजेय शक्ति, पौरुष और वीरता की अनुपम प्रतीक होगी—

हाँ वही रूप प्रज्ज्वलित विभासित नर का।
अंशावतार सम्मिलित विष्णु शंकर का।
हाँ वही दुरित से जो न सन्धि करता है।
जो संत धर्म के लिए खड्ग धरता है।[2]

भारत का भाग्य-पुरुष

नये भारत का भाग्य-पुरुष एक हाथ में संत धर्म का रक्षक परशु और दूसरे हाथ में दीन-दलितों पर सुख की वृष्टि करने वाली तथा शान्ति के भाव बरसाने वाली कुश को लेकर आयेगा। उनका परशुराम कोई अवतारी पुरुष नहीं है। इसी भारतीय युद्धभीरु महामानव को कवि दिनकर परशुराम बनाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है। जन-जन को जाति और गोत्र के बंधन से ऊपर उठाकर वह एक ऐसे ब्राह्मणोचित ओज तथा क्षत्रियोचित तेज को हम में और तुम में भरने के लिए आकुल है—

यह वज्र वज्रों के लिए सुमों का सुम है।
यह और नहीं कोई केवल हम तुम है।
यह नहीं जाति का न तो गोत्र बंधन का।
आ रहा मित्र भारत भर से जन-जन का।[3]

इस प्रकार दिनकर की आशाओं का भविष्य 'परशुराम की प्रतीक्षा' में झाँक रहा है। उनकी समस्त काव्य-साधना की सफलता भविष्य की प्रतीक्षा में निहित है। उनका परशुराम न केवल बाहरी आक्रमणों का संहारक है अपितु वह भीतरी रिपुओं के भी

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १४।
[2] वही, पृ० १४।
[3] वही, पृ० १५।

विनाश की क्षमता रखता है। उसके हृदय में कृषकों के प्रति अपार प्रेम तथा श्रम के प्रति अधिक मोह है। इसलिए वह धानों और चट्टानों को सींचकर ही अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेगा—

हर धड़कन पर वह, सजग मेघ सिहरेगा।
गत और अनागत बीच व्यग्र विहरेगा।
बरसेगा बन जलधार तृषित धानों पर।
बन तड़िद्धार छूटेगा चट्टानों पर।[1]

उसके चिन्तन में विद्युत् सा तेज और उसके स्वर में धरा को कम्पित करने वाला गर्जन होगा, जो पाप और अत्याचारों पर पावक बरसायेगा। वही भारत के भविष्य का भाग्य-विधाता है जिसमें अपने पूर्वजों का त्याग, शौर्य-पराक्रम दोनों ही समान रूप से रहेंगे—

गांधी गौतम का त्याग लिये आता है।
शंकर का शुद्ध विराग लिये आता है।
सच है आँखों में आग लिये आता है।
पर यह स्वदेश का भाग लिये आता है।[2]

वह पुरुष मानवता के आदर्शों का प्रतीक होगा। उसका स्वरूप आज के पद-लोलुप तथा धन-लोभी पुरुष का सा नहीं होगा और न वह थोथे आदर्शों पर राष्ट्रगौरव की बलि देनेवालों का पुरुष ही होगा। वह तो एकमात्र, मातृभूमि का परम उपासक तथा सेनानी की तरह देश का रक्षक होगा, राष्ट्र-रक्षा के लिए हर तरह के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग वह निःशंक होकर करेगा। राष्ट्र ही उसके लिए सर्वोपरि होगा। राष्ट्र की रक्षा और राष्ट्र का गौरव-वर्द्धन ही उसका एकमात्र लक्ष्य होगा—

मत डरो संत यह मुकुट नहीं माँगेगा।
धन के निमित्त यह धर्म नहीं त्यागेगा।
तुम सोओगे तब भी यह ऋषि जागेगा।
ठन गया युद्ध तो बम-गोले दागेगा।[3]

आज के राष्ट्र के स्वाभिमान पर गहरी चोट पड़ी है, उसका गौरव आहत हो चुका है। आहत नाग की भाँति फुफकारते हुए स्वदेश उस प्रचण्ड पावक को प्रज्ज्वलित करेगा जिसकी अग्नि-शिखा से एक यज्ञपुरुष का जन्म होगा। यह पुरुष भारत का

---

[1] परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १७।
[2] वही, पृ० १६।
[3] वही, पृ० १६।

यही विशाल जन-समुदाय होगा, जो सांस्कृतिक रूप से पुरातन किन्तु वैचारिक दृष्टि से बिलकुल नया रूप धारण कर उपस्थित होगा—

विक्रमी रूप अर्जन जेता का।
आ रहा स्वयं यह परशुराम त्रेता का।
यह उत्तेजित साकार क्रुद्ध भारत है।
यह और कोई नहीं विशुद्ध भारत है।[१]

आज केवल योजनाओं के लम्बे-चौड़े रूप बताकर भारत की भोली जनता को मोह लिया जाता है, परन्तु ऐसे गरजने वाले बादलों से जनता कैसे सन्तुष्ट हो सकती है ? उसे तो ऐसे नेता की आवश्यकता है जो वाणी और क्रिया की एकात्मकता का उदाहरण प्रस्तुत करे। साथ ही साथ निर्भीकता से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले भारत पुरुष की कल्पना कवि के शब्दों में—

रह जायेगा वह नहीं ज्ञान सिखला कर।
दूरस्थ गगन में इन्द्र-धनुष दिखला कर।
वह लक्ष्यबिन्दु तक तुम को ले जायेगा।
उँगलियाँ थाम मंजिल तक पहुँचायेगा।[२]

कवि का क्लैव्य-धर्म पर विश्वास नहीं है। वह पापियों और अत्याचारियों के लिए वज्रसम कठोर है। उसका विश्वास मधुमयी शान्ति छाया से दूर विजयी होकर जीने में है। उसके जीवन का एकमात्र गान वह अनल है जिसमें पापों को नष्ट कर पुण्य की ज्योति प्रज्ज्वलित करने की क्षमता है। वह सत्य और अहिंसा के नाम पर दाहहीन मृतजीवन से प्यार करना नहीं सिखाता, वह तो ऐसे भाग्य-पुरुष पर विश्वास करता है जो एकमात्र अंगारों से प्यार करने वाला पौरुषभरा पुरुष हो। तभी तो वह संकेत करता है—

सिखलायेगा वह ऋत एक ही अनल है।
जिन्दगी नहीं वह जहाँ नहीं हलचल है।
जिन में दाहकता नहीं, न तो गर्जन है।
सुखकी तरंग का जहाँ अन्ध वर्जन है।
जो सत्य राख में सने रुक्ष रूठे हैं।
छोड़ो उन को वे सही नहीं झूठे हैं।[3]

उसके भविष्य की कल्पना में राष्ट्र जहाँ विज्ञान का धनी होगा वहाँ धर्म का धनी

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १६।
२ वही, पृ० १७।
3 वही, पृ० १८।

भी होगा। विज्ञान और धर्म का सामंजस्य ही राष्ट्र का मुख्य आधार होना चाहिए। कवि चाहता है कि भारत की विदेश नीति भी द्विधा बन्धन से मुक्त होकर एक सुस्थिर व दृढ़ नीति हो। उस नीति में क्षात्र शक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। राष्ट्र का जनमानस जब अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र की उन्नति में अपनी उन्नति समझेगा तभी भारत का भाग्योदय सम्भव है—

जब वह आयेगा द्विधा द्वन्द्व बिनसेगा।
आलिंगन में अवनी को व्योम कसेगा।
विज्ञान धर्म के धड़ से भिन्न न होगा।
भवितव्य भूत गौरव से छिन्न न होगा।[1]

उसका विश्वास है कि भारतराष्ट्र की समस्त जनशक्ति, न्याय और समता के आधार पर, एकमात्र मानववर्ग में सन्निहित होकर विश्व के समक्ष एक अनुकरणीय आलोक-पथ का निर्माण करेगी। वह राष्ट्र से ऊँच-नीच, जात-पाँत, वर्ग, वाद आदि के भेदों को दूर कर देना चाहता है। कवि राष्ट्र से दीनता को हटा, पूंजीवाद को मिटा कर, न्याय और समता के आधार पर नया निर्माण करने के लिए उत्सुक है। वह समाज में वीरता और पौरुष के नये भाव फिर से भरने के लिए कृतसंकल्प है।

इस प्रकार कवि अपनी भविष्य की भाव रश्मियों से आलोकित एक नूतन पथ की ओर राष्ट्र को अग्रसर करना चाहता है। उसके राष्ट्र की नींव अतीत के उस गौरवपूर्ण धरातल पर रखी जायेगी, जिस नये भवन की हर ईंट वज्र के समान कठोर होगी, जिसकी भित्तिका को कोई भी विदेशी शक्ति गिराने की कल्पना भी नहीं कर सकेगी। उसे शक्तिशाली पोषकों की आवश्यकता है, शोषकों की नहीं। योग्यता और कर्त्तव्य के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति उन्नत होकर, राष्ट्र का मूक सेवक बन जियेगा और राष्ट्र के लिए ही जीवनोत्सर्ग भी करेगा। दिनकर ने आदर्श राष्ट्रपुरुष की कल्पना इन शब्दों में की थी—

शैल-शिखर सा प्रांशु गम्भीर जलधि सा।
दिनमणि सा समदृष्टि विनीत विजय सा।
झंझा सा बलवान् काल सा क्रोधी।
धीर अचल सा प्रगतिशील निर्झर सा।[2]

डॉ० सावित्री सिन्हा के शब्दों में चीन का आक्रमण वह घटना है जिसने दिनकर की यह आस्था दृढ़ कर दी है कि लाल लपट से गांधी की, भारत की और भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए हमें सैन्य शक्ति का पूर्ण सहारा लेना पड़ेगा। अपने

---

१ परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १७।

२ हुंकार, पृ० ६८।

जीवन-दर्शन में युद्ध को भी उतना ही प्रधान स्थान देना होगा, जितना परमार्थ और मानवतावाद को। मानवतावाद भारत का साध्य लक्ष्य होगा और सैन्य शक्ति उस का साधन।[1]

(ख) अन्तरराष्ट्रीय स्वर

किन्तु दिनकर का राष्ट्र स्वयं में ही पुष्पित व पल्लवित होकर जीना नहीं चाहता, वरन् वह अपने मानवीय आदर्शों की सुरभि को दिग्दिगन्त में फैलाकर, वसुधा पर एक नयी सृष्टि के निर्माण की कल्पना करता है। जिस धरा पर दिनकर की ज्योति से आलोकित, शांतिशशि सुषमा की वह नई छटा छिटकाना चाहता है, जिसमें समस्त मानव-जाति विश्व-बन्धुत्व का अनुभव कर सकेगी। विश्व शान्ति तथा विश्व कल्याण की भावना धरती के कोने-कोने को आप्लावित कर, जनतन्त्र की शक्ति को चिर अमरता प्रदान करती रहेगी।

इसी आदर्शोन्मुख राष्ट्रीयता से ओतप्रोत कवि दिनकर, अन्तरराष्ट्रीय लोक को आलोकित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहा है। उसकी अन्तरराष्ट्रीयता 'रेणुका' के प्रथम रेणुओं में स्पष्ट झलक रही है। विश्वदेवता को हविष् चढ़ाने की उसकी भावना 'कस्मैदवाय' कविता में स्पष्ट प्रतिभासित हो उठी है—

गूँज शान्ति की सुखद साँस सी कलुषपूर्ण युग कोलाहल में।
बरस सुधामय कनक-वृष्टि-सी ताप-तप्त जग के मरुथल में।
खींच मधुर स्वर्गीय गीत से जगती को जड़ता से ऊपर।
सुख की सरस कल्पना सी तू छा जाये कण-कण में भूपर।
धर्म-भिन्नता हो न सभी जन शैल तटी पर हिलमिल आयें।
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में भावुक भक्ति-मुग्ध-मन गायें।
हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।[2]

भविष्य की आहट

यही विश्व-बन्धुत्व की भावना दिनकर की 'हुंकार' में आहट बनकर भविष्य की ओर इंगित कर रही है। कवि केवल भारत की स्वतन्त्रता के लिए ही उत्सुक नहीं था, किन्तु समस्त पराधीन देशों की स्वतंत्रता की मंगल-कामना 'भविष्य की आहट' कविता में स्पष्ट रूप से झलकती है। उपनिवेशवादी साम्राज्य-लिप्सु देशों ने समस्त एशिया तथा अफ्रीकी देशों को दासता के पाश में आवद्ध कर लिया था। धरती के महाखण्ड, पराधीन एशिया की स्वतन्त्रता व एकता का सशक्त शंख कवि ने बहुत पहले ही फूंका था—

---

१ युगचारण दिनकर, पृ० ६७।
२ रेणुका, पृ० ३१।

अखण्ड पादचाप ने सचेत शैल को किया।
चिंघार सिंहनी जगी जगा विराट् एशिया।[1]

'भविष्य की आहट' कविता में एशिया के नव जागरण का वर्णन है। २०वीं सदी की सब से बड़ी घटना एशिया का जागरण है। विराट् एशिया की भावना कवि के हृदय को स्फूर्ति देती सी प्रतीत होती है। राष्ट्र के सुख-दुख से तरंगित कवि के हृदय में विश्व-बन्धुत्व की भावना भी हिलोरें ले रही है। उनकी स्वदेश प्रेम की लहरें विश्व प्रेम से मिलने के लिए भुजाएँ फैला रही हैं। जर्मनी का राष्ट्र-प्रेम विश्व के लिए विघातक सिद्ध हुआ। इंगलैण्ड, इटली, जापान आदि का राष्ट्र-प्रेम ऐहिकता मूलक स्वार्थपरता के कारण मोह बनकर दूसरे देशों का अहित सोचने लगता है पर दिनकर का राष्ट्रवाद इन सबसे परे है।

दिनकर की तीक्ष्ण प्रतिभा ने भविष्य की आहट पहचान ली थी। पं० नेहरू के एक एशिया का सुनहरा स्वप्न वर्षों पहले दिनकर की लेखनी द्वारा साकार हो उठा था—

खेलने हिम शृंग पर चढ़कर लगीं।
रश्मियाँ क्या एशिया के प्रात की ?[2]

भारत अपने प्रेम की भुजाएँ फैलाये हुए एशिया के सभी देशों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आतुर है। भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व ही, भारतीय जनमानस में फैली हुई विश्व-बन्धुत्व की उत्कट अभिलाषा नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है—

चूमता चढ़ बढ़ हिमालय व्योम को।
हिन्द सागर है निनादित रोर से।
सिन्धु से दजला मिली भागीरथी।
फूलती पा प्रेम येलो ओर से।[3]

कवि जानता है कि विश्व भर को शान्ति का सन्देश सुनानेवाला देश यही भारतवर्ष हो सकता है, जो राष्ट्रीयता की संकुचित परिधि को लाँघकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी मैत्री का हाथ आगे बढ़ाने में उत्सुक है। उसकी मैत्री किसी स्वार्थ पर आधारित न होकर जियो और जीने दो के मानवतावादी दृष्टिकोण को लिये हुए है। कवि के नयनों में वर्षों पहले से भारत का नेतृत्व झूल रहा था—

---

१ हुंकार, पृ० ७७।
२ वही।
३ वही।

किस अनागत लग्न की महिमा अरी।
कीर्ण पुण्य प्रकाश नव उत्कर्ष का ?
दे रहा सन्देश पीड़ित विश्व को।
शृंग चढ़ जयशंख भारतवर्ष का।[1]

संसार के भिन्न-भिन्न देशों के हत्याकाण्ड, नृशंस अत्याचारों को देखकर कवि का हृदय संकुचित राष्ट्रवाद से हट गया। राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता की उदात्त कल्पना बहुत पहले से ही कवि के मानस में जग चुकी थी। इटली, जर्मनी, जापान आदि की फासिस्टवादी नीति का घोर विरोध करते हुए कवि ने पादाक्रान्त देशों के प्रति अपनी सम्वेदना प्रकट की थी—

राइन तट पर खिली सभ्यता,
हिटलर खड़ा कौन बोले।
सस्ता खून यहूदी का है।
नाजी निज स्वस्तिक धोले।[2]

विश्व की क्रियाओं से प्रभावित होकर उसकी उपयुक्त अभिव्यक्ति कर अपने देशवासियों को विश्व की गतिविधि से परिचित कराकर एक सुन्दर रागात्मक सम्बन्ध की कड़ी कवि ने जोड़ी है। विश्व में एकता तथा शान्ति की कल्पना, एशिया के सुदृढ़ पारस्परिक संगठन के आधार पर ही कवि ने बहुत पहले व्यक्त कर दी थी। आज भी अन्तरराष्ट्रीय संघ में अफ्रेशियाई देशों की एकता ही विश्व शान्ति की दिशा में प्रयत्नशील है।

हुंकार के गर्जन में की गयी भविष्यद्रष्टा कवि की मृदुल कल्पना साकार होने के लिए मचल रही है।

शान्ति के आधार

कवि समस्त मानव समाज के श्रेय का चिन्तक है। वह निःशस्त्रीकरण तथा शान्ति को अंगीकार करना चाहता है, परन्तु इसके लिए समस्त विश्व को एक ही धरातल पर खड़े हो सोचने की आवश्यकता है। विश्व में शान्ति की स्थापना दो ही उपायों से सम्भव है। प्रथम यह कि समस्त विश्व को शस्त्रहीन बना दिया जाय या फिर प्रत्येक राष्ट्र हर तरह के समस्त भीषणतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो। किन्तु कुछ राष्ट्र तो शस्त्रास्त्रों से परिपूर्ण हों और कुछ शस्त्रहीन होने की सोचें यह दिनकर को अभीष्ट नहीं। एक ओर चीन जैसे विस्तारवादी हिंस्र देश अणुबम जैसी शक्ति का विकास करें और दूसरी ओर हम अणुबम न बनाने की घोषणा करें तो यह कैसी अदूरदर्शितापूर्ण बात होगी—

---

१ हुंकार, पृ० ४२।
२ वही, पृ० ४२।

रण रोकना है तो उखाड़ विष दंत फेंको,
वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो।
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल का लकूट-विष भर दो।[1]

आज विश्व में शान्ति के छद्म भरे स्वर गूँज रहे हैं किन्तु उसके पीछे स्वार्थपूर्ण विषभरी योजनाएँ विकसित हो रही हैं। एक ओर शान्ति की बातें की जाती हैं और दूसरी ओर अशान्ति के मूल कारणों को सींचा जाता है। ऐसी थोथी शान्ति का भण्डा फोड़ कवि ने इन शब्दों में किया है—

शान्ति सुशीतल शान्ति कहाँ वह समता देने वाली।
देखो आज विषमता की ही वह करती रखवाली।
आनन सरल वचन मधुमय है तन पर शुभ्र वसन है।
बचो युधिष्ठिर इस नागिन का विष से भरा दशन है।[2]

कितना सुन्दर व्यंग्य आज के अन्तरराष्ट्रीय पारस्परिक सम्बन्धों पर चरितार्थ हो रहा है! हम पंचशील के सिद्धान्तों को हृदय से अंगीकार करते हैं और विश्व में शान्ति चाहते हैं, पर छल और कपट से पंचशील के सिद्धान्तों को अंगीकार करते हुए भी किस प्रकार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर पाशविक आक्रमण कर देता है! ऐसी स्थिति में शान्ति की कल्पना, आत्मप्रवंचनामात्र रहेगी। जब तक प्रत्येक राष्ट्र हृदय से शान्ति नहीं चाहेगा तब तक शान्ति का स्वर अरण्यरोदनमात्र रहेगा। भीष्म के शब्दों में इसका कारण—

क्योंकि युधिष्ठिर एक सुयोधन अगणित अभी यहाँ हैं।
बढ़े शान्ति की लता हाय! वे पोषक द्रव्य कहाँ हैं।
शान्ति बीन तब तक बजती नहीं सुनिश्चित सुर में।
स्वर की शुद्ध प्रतिध्वनि जब तक उठे नहीं उर उर में।[3]

साम्राज्यवादी देश, उपनिवेश तथा गुट बनाकर छोटे राष्ट्रों के विकास में बाधक बनते हैं। ऐसी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का जब तक उन्मूलन नहीं होगा तब तक राष्ट्रों के उन्मुक्त विकास तथा शान्ति के प्रयास कभी भी सफल नहीं हो सकेंगे—

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष,
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो।

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० १२५।
२ वही, पृ० ४५।
३ वही, पृ० ४३।

रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिरायें तोड़ो डालियाँ कुतर दो।[१]

इन समस्त विघातक प्रवृत्तियों के मूल में राष्ट्रों का स्वार्थ ही कार्य करता है। व्यक्तिगत भोगवाद की लिप्सा समष्टि में साम्राज्यवाद को जन्म देती है। यदि इन सभी समस्यांओं की जड़ से चिकित्सा करनी है तो इस भोगविलास व स्वार्थ की वृत्ति को तराशना होगा। मानव-मात्र को समता के समस्त अधिकार तथा विकास के समान अवसर देने होंगे तभी मनुष्य-मनुष्य के बीच की यह खाई पाटी जा सकेगी—

जब तक मनुज मनुज का यह सुख-भाग न सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल संघर्ष नहीं कम होगा।[२]

भाग्यवाद मानव समाज का प्रबल शत्रु है उसे भुज-बल से श्रमवाद में बदलना होगा। व्यक्ति का भाग्यवाद ही विकसित होकर राजतन्त्र के रूप में परिणत होता है जो प्रजातन्त्र का मार्ग अवरुद्ध करता है। श्रमवाद पर आधारित राष्ट्र ही प्रजातन्त्रीय आदर्शों पर सफलतापूर्वक चल सकेगा। अतः जब तक व्यक्ति के श्रम का उचित मूल्यांकन न होगा तब तक सुख-शान्ति के स्वप्न, आकाश-कुसुम की तरह मानवता को छलते रहेंगे। स्वार्थ के परित्राण पाने के लिए शास्त्र की आवश्यकता अनुभव की जाती रहेगी —

जब तक स्वार्थ-शैल मानव के मन का चूर न होगा।
तब तक नर समाज से असि-धर प्रहरी दूर न होगा।[3]

व्यक्तिगत शान्ति और विश्वशान्ति परमार्थ की भावनाओं में ही निवास करती है। शान्ति का मूल स्रोत समता व न्याय ही है। सामाजिक असन्तोष के धरातल पर शान्ति का स्वप्न कभी भी साकार नहीं होगा—

शान्ति नहीं तब तक जब तक सुख, भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।[४]

समन्वय की ओर

द्वितीय विश्वयुद्ध के सन्दर्भ में लीग ऑफ नेशन्स के शान्ति स्थापित करने के सारे प्रयत्न धूमिल होने पर भी 'कुरुक्षेत्र' का कवि आशावादी स्वर में, गम्भीर

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० १२६।
२ वही, पृ० १२८।
3 वही, पृ० १४७।
४ वही, पृ० ३१।

चिन्तन के साथ, समस्त मानव हित की भावना के लिए, युद्ध की समस्या का समाधान खोजने के लिए प्रयत्नशील रहा है। उसका विश्वास है कि एक न एक दिन मानव सभ्यता अपनी पाशविक वृत्ति पर निश्चय ही विजय प्राप्त करेगी। समस्त विश्व, मानव-धर्म के ध्वज के नीचे, सुख-शान्ति की दिशा में अग्रसर होगा। कुरुक्षेत्र के पंचम सर्ग की इति पर लिखे गये उद्गार भविष्य की सुनहरी आशा को सींच रहे हैं—

नर संस्कृति की रण-छिन्न-लता पर,
शान्ति सुधा फल दिव्य फलेगा।

× × ×

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की,
मानव ऊपर और चलेगा।
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नव-धर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।[1]

उसका हृदय धरती पर धर्म और दया का दीप जलाना चाहता है। जली सूखी धरा के प्राणों को अभिषिक्त करने की उसकी उदात्त भावना 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में एक नया चित्र बना रही है। यह चित्र विज्ञान के श्रृंग पर चढ़कर जीवन के वास्तविक मूल्यों को विस्मृत करने वाले मानव के उज्ज्वल भविष्य के लिए, बुद्धि से कहीं अधिक हृदय की ओर आकृष्ट कर रहा है। बुद्धि और हृदय का सामंजस्य, धर्म और विज्ञान का सन्तुलन ही उसके सुन्दर भविष्य में रंग भर रहा है। समस्त मानव जाति को मानव धर्म के रथ पर आरूढ़ करने का यह अन्तरराष्ट्रीय स्वर वर्तमान समस्याओं का एक सुन्दर समाधान प्रस्तुत करता है। दिनकर की राष्ट्रीयता सदैव अन्तरराष्ट्रीय भावनाओं की ओर अनायास ही बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। 'कुरुक्षेत्र' का चिन्तन भू-भाग की सीमित रेखाओं में आबद्ध नहीं है किन्तु वह समस्त मानव जाति की चिरन्तन समस्याओं को लेकर विकसित हो रहा है—

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास।
चरणतल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश।
किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष।
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार।
प्राण में करते दुःखी हो देवता चीत्कार।[2]

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० १०७।
[2] वही, पृ० ११२।

विज्ञान के विकास को, मनुष्य की शक्ति सम्पन्नता को मानते हुए भी, मनुष्य के आन्तरिक विकास को आवश्यक मानता है। विकास की दुन्दुभी बजाने वाला यह मनुष्य अभी हीन दुष्प्रवृत्तियों से भरा हुआ है। विज्ञान का लक्ष्य संहार नहीं, निर्माण है। पर आज विश्व-संहारक-विज्ञान में होड़ मची है। यदि यही हाल रहा तो मानवता का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। लक्ष्य-भ्रष्ट मानव को लक्ष्य की ओर इंगित करते हुए कवि वर्तमान की भयावह परिस्थितियों से उपर उठाकर एक भयहीन सृष्टि की कल्पना करता है।

लक्ष्यभ्रमित मानव किस तरह प्रकृति का दास बनकर स्वयं को प्रकृति का स्वामी घोषित कर रहा है। विज्ञान की उन्नति द्वारा मानवता के मौलिक उद्देश्यों की अवहेलना कर वह भौतिकता में सुख खोज रहा है। मरुभूमि के तृषित युग का सा आत्मप्रवंचन किस प्रकार उसे छल रहा है, कवि के लिए यह स्थिति असह्य हो उठी है—

हाय रे मानव, नियति के दास।
हाय रे मनुपुत्र, अपना आप ही उपहास।
प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत।
सिन्धु से आकाश तक सब को किये भयभीत।
जा रहा तू किस दिशा की ओर निरूपाय।
लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ।[1]

आज के वैज्ञानिक आविष्कारों को शिवत्व की भावना से संयुक्त कर उसे विश्व के श्रेय के लिए प्रयुक्त करने की आवश्यकता है। विज्ञान रूपी सत्यं को, धर्म रूपी शिवं और कला रूपी सुन्दरं के साथ-साथ आगे बढ़ना होगा, तभी वह लोकमंगल विधायक हो सकता है, अन्यथा विज्ञान का यह शुष्क सत्य मानव को अपने लक्ष्य की ओर नहीं पहुँचा सकता। उसके अन्तरराष्ट्रीय स्वर में वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना बोल रही है।

वह मानवता के भविष्य को न्याय और समता के दो आधारभूत स्तम्भों पर स्थापित करने को उत्सुक है। मनुष्यमात्र में परस्पर एक नये विश्वास को जन्म देकर विश्व परिवार के एक नये इतिहास का निर्माण करने के लिए 'कुरुक्षेत्र' का कवि समुद्यत है—

श्रेय होगा मनुज का यह समता विधायक ज्ञान।
स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० ११२।

एक नर में अन्य का निःशंक दृढ़ विश्वास।
धर्म दीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास।[1]

भविष्य के मानव का इतिहास समर, शोषण और ह्रास से सर्वथा दूर एक ऐसा सुधा-मय कोष होगा जिससे मानवता स्वयं सन्तुष्ट हो सकेगी। इसी मानवीय धरातल पर कवि की अन्तरराष्ट्रीयता भविष्य की स्वर्णिम कल्पनाओं में विचर रही है। जब तक मनुष्य मानवीय सिद्धान्तों पर नहीं चलेगा, तब तक युद्ध की ज्वर-भीति से मुक्त नहीं हो पायेगा। कवि दिनकर, उस दिन की प्रतीक्षा करते हैं जबकि भय-मुक्त मानव, धर्म के श्रेयस्कर मार्ग पर चलकर, विश्व को एक नये आलोक से आलोकित करेगा—

युद्ध की ज्वर भीति से हो मुक्त।
जबकि होगी सत्य ही, वसुधा सुधा से युक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुष्य का वह काल।
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध।
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध।[2]

तभी रस के सूखे प्राण शान्तिरस से अभिसिक्त होंगे, जब मानव जाति में समता के आदर्श जगेंगे। विज्ञान और धर्म, हृदय और मस्तिष्क एक साथ आगे बढ़ते हुए, विश्व को एक सूत्र में आबद्ध कर, भविष्य में एक नया आदर्श स्थापित करेंगे। आध्यात्मिक मूल्यों के सिद्धान्तों पर पनपने वाला उसका साम्यवाद ऐसा साम्यवाद है जिसमें भौतिकता के साथ आध्यात्मिक मूल्यों का भी स्थान होगा।

भविष्य की सुनहरी रश्मि बिखेरते हुए कवि की यह अन्तरराष्ट्रीय आभा से युक्त भावना सुन्दर रूप में मुखरित हो रही है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी कब खिलेगी विश्व में भगवान्।
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त,
हो सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण ?[3]

साम्य के सिद्धान्त पर अचल श्रद्धा रखता हुआ भी उसकी नास्तिकता का समर्थन नहीं करता। धर्म और श्रद्धा को मानव के विकास में आवश्यक मानता है। आर्थिक जीवन के सन्तुलन द्वारा ही अनेक समस्याओं का अन्त हो सकता है। अशान्ति का मूल कारण है अन्याय और अभाव, यही युद्ध को उत्पन्न करने के साधन भी हैं।

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० ११८।
२ वही, पृ० ११६।
३ वही, पृ० ११६।

मानव का मन जब तक शुद्ध नहीं होता, द्वेष और द्रोह से मुक्त नहीं होगा, तब तक राष्ट्रों के पारस्परिक युद्धों का भी अन्त सम्भव नहीं। विज्ञान भी ऐसे मानव के लिए वरदान नहीं अभिशाप ही सिद्ध होगा—

श्रेय यह विज्ञान का वरदान,
श्रेय यह नर बुद्धि का शिव रूप आविष्कार।
श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान,
स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।[१]

जिस दिन ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार और हिंसा की वृत्ति से मानव मुक्त हो जायेगा उसी दिन धरती पर स्वर्ग छा जायेगा—

होगा पथ उस दिन मुक्त अनुज की जय का।
आरम्भ भीत धरणी के भाग्योदय का।[२]

यदि संसार बुद्ध और ईसा, अशोक और गांधी को केवल पूजता नहीं वरन् उनके पद चिन्हों पर चलता तो आज मानव को अपना इतिहास रक्तबिन्दु से न लिखना पड़ता। कवि चाहता है कि जगत् में ऐसा आलोक फैले, जिससे मनुष्य अपने को पहचान कर, अपना महत्त्व आँक सके। जिस दिन ऐसा आलोक धरती पर उतरेगा, उसी दिन मानवता का अन्धकारमय भविष्य उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो सकेगा।

कवि दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में आशावाद का ज्वलन्त सन्देश दिया है, आशा की सुकुमार किरण की सुनहरी डोर पकड़कर मानव अश्रु स्वेद-रक्त से लथपथ जमीन पर पाँव आगे बढ़ाता है। आज नहीं तो कल जरूर दुःख दूर होंगे। इसी एक आशा पर दग्ध मानव जी रहा है। आशा में अविश्वास होते ही वह छिन्न-भिन्न हो जाता है। 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने इस आशा का दर्शन मानव के पश्चात्ताप में युधिष्ठिर के आँसुओं में किया।[३]

मानवतावादी कवि कभी निराशा को पास फटकने नहीं देता। उसे मानव समाज के विकास का दृढ़ विश्वास होता है। मनुष्य के मानवीय गुणों पर अपनी दृढ़ आस्था प्रकट करते हुए कवि ने 'कुरुक्षेत्र' के भरत वाक्य में यह सन्देश दिया है—

आशा के प्रदीप जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त रण-रीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
संचित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।

---

१ कुरुक्षेत्र, पृ० १११।
२ वही।
३ प्रा० शिवबालक राय, दिनकर।

हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी,
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से ।
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती बनेगी स्वर्ग प्रीति से ।[1]

संकीर्णता से दूर

महाकवि दिनकर का अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप 'राष्ट्र देवता का विसर्जन' कविता में विशुद्ध रूप से सर्जित हुआ है । भौगोलिक सीमाओं को लाँघकर भारत का भावात्मक दृष्टिकोण, मानवमात्र की कल्याणमयी भावना से प्रेरित होकर अन्तरराष्ट्रीयता की ओर मुड़ता हुआ स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

स्वतन्त्रता से पूर्व कवि की काव्यचेतना प्रमुख रूप से देश की स्वतन्त्रता के लिए तड़प रही थी । किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में उसकी वही राष्ट्रीय सरिता अन्तरराष्ट्रीय सागर में नीलकुसुम के समान भावराशि को सुशोभित कर रही है । कवि का स्वतन्त्र भारत केवल वह भारत नहीं है जो भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध है, अपितु आज का उसका भारत मानवमात्र के हितचिन्तन का वह भावात्मक स्वरूप हैं जो उसकी संस्कृति में प्रारम्भ से ही चला आ रहा है—

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत स्वर तेरा है ।
धर्म दीप हो जिसके भी कर में, वह नर तेरा है ।
तेरा है वह वीर सत्य पर, जो अड़ने जाता है ।
किसी न्याय के लिए प्राण, अर्पित करने जाता है ।
मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मैं ।
किस को नमन करूँ मैं भारत किस को नमन करूँ मैं ?[2]

मानवतावादी दृष्टिकोण सदा से ही विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक सम्पूर्ण मानव समाज की सुख-शान्ति और समृद्धि का पक्षपाती रहा है । एक ओर सीमाओं में बँधी हुई राष्ट्रीयता, जहाँ जाति में साहस, उत्साह तथा शक्ति की भावना को जन्म देती है, वहाँ इसी राष्ट्रवाद की जड़ में एक ऐसा अहंकार उपजता है जो समाज के दृष्टिकोण को कहीं अधिक संकुचित तथा स्वार्थपूर्ण पक्षपात का पाठ पढ़ाता है । ऐसे संकुचित राष्ट्रवाद से ऊपर उठाकर कवि समस्त भारतीय समाज को मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा देता है, जो दृष्टिकोण उसकी अपनी संस्कृति का ही एक उदात्त तथा विशाल रूप है । आज उसका लक्ष्य अन्तरराष्ट्रीयता के रूप में अपनी समस्त काव्य चेतना को विकसित करने के लिए उद्यत है—

---

[1] कुरुक्षेत्र, पृ० १८१ ।
[2] नीलकुसुम, पृ० ८३ ।

खण्ड प्रलय हो चुका राष्ट्र देवता सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रदाह जग का धोने दो।
महानाग फरण तोड़ अमृत के पास झुकेगा,
विष-धर पर आसीन विष्णु, नर को होने दो।[१]

नर को विष्णु के प्रजापालक के रूप में परिवर्तित कर कवि का विश्वास और अधिक आशावादी रूप ग्रहण कर रहा है। तभी तो लोहे के पेड़ों को हरा करने की उसकी भावी कल्पना सशक्त स्वर में प्रस्फुटित हुई है। जबकि सारा संसार घृणा और द्वेष की वीभत्स विभीषिकाओं में से गुजर रहा है ऐसे समय एकमात्र मानवतावाद ही मनुष्य के हृदय में हिंस्र पशु सी रक्त तृषा को स्नेह, दया तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना में बदलने की क्षमता रखता है। कवि का यह विश्वास है कि अन्ततोगत्वा विश्व में मानवतावादी स्वर ही एक ऐसा है जो लोहे के पेड़ों को भी हरा कर सकता है।

घृणा और द्वेष की ज्वाला में झुलसते हुए वे समाज और राष्ट्र, मनुष्य के पारस्परिक स्नेह तथा औदार्य से ही शान्ति की सुशीतल छाया को प्राप्त कर सकेंगे। इसी राह को प्राप्त करने के सुख-स्वप्नों में कवि ने आशा प्रकट की है—

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम का गाता चल।
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसाता चल।
धरती के भाग हरे होंगे, भारती अमृत बरसायेगी।
दिन की कराल दाहकता पर चाँदनी सुशीतल छायेगी।
ज्वालामुखियों के कंठों में कल-कंठी का आसन होगा।
जलदों से लदा गगन होगा फूलों से भरा भुवन होगा।[२]

'रेणुका' में हिमालय कविता से बहने वाली राष्ट्रीयता की विचारधारा भारत की जिस भौगोलिक परिधि के अन्दर गंगा के रूप में बह रही थी, 'नीलकुसुम' तक पहुंचते-पहुँचते हिमालय के सन्देश में उसकी धारा एक अन्तरराष्ट्रीय विचारधारा में परिवर्तित हो गयी है। कवि दिनकर की अन्तरराष्ट्रीयता का सुन्दर प्रतीक हिमालय का सन्देश है जिस सन्देश में समस्त विश्व की भावनाएँ भाव-नाट्य के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। राष्ट्रीयता की भावना को तराश कर उसे अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप देने का सुन्दर कार्य कवि ने किया है। हिमालय के सन्देश में भविष्य की कल्पना सुख और शान्ति प्राप्त करने की, धर्म और श्रद्धा को धारण करने की, एक ऐसी स्वर्णिम कल्पना है जिसका वास्तविक स्वरूप भविष्य के गर्भ में निहित है।

---

१ नीलकुसुम, पृ० ८८।
२ वही, पृ० ९१।

वह भारत का अमर पुजारी अवश्य है, पर उसका भारत मानव की सांस्कृतिक सीमाओं का भारत है। भारतीय संस्कृति के शील को वह विश्व के इस छोर से उस छोर तक फैलाने के लिए उत्सुक है। इसीलिए राष्ट्रकवि के ये उद्गार द्रष्टव्य हैं—

किसी एक को नहीं, बदलना होगा साथ सभी को।
करना होगा ग्रहण शील, भारत का निखिल मही को।
तब उतरेगी शान्ति मनुज का, मन जब कोमल होगा।
जहाँ आज है गरल वहाँ, शीतल गंगा-जल होगा।
देश देश में जाग उठेंगे, जिस दिन नर नारी।
साधना इस व्रत का भारी।[1]

उज्ज्वल भविष्य

इस प्रकार राष्ट्रकवि दिनकर की राष्ट्रीयता का भविष्य एक महान् उद्देश्य को लेकर अन्तरराष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत होकर आगे बढ़ रहा है। स्वयं कवि के सुन्दर शब्दों में राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता के भेद की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

"धरती अपनी धुरी पर भी घूमती है और वह सूर्य के भी चारों ओर घूमती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की भी दो गतियाँ होनी चाहिए। एक तो अपनी निजी वैयक्तिकता की धुरी पर घूमने के लिए और दूसरी उस आदर्श के चारों ओर जिसमें समस्त मानव समाज समाहित है।"[2]

दिनकर ने स्वस्थ एवं पूर्ण राष्ट्रीय भावनाओं को सांस्कृतिक धरातल पर विकसित किया है। जिस प्रकार कवि जाति, वर्ग से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानव समाज के जीवन को नई भाव प्रेरणा प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार एक स्वस्थ राष्ट्रीयता, राष्ट्र की सीमाओं से आगे बढ़कर विश्व शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं को जन्म देती है। जन्मभूमि का प्रेम विकसित होकर जिस प्रकार सम्पूर्ण धरा को यात्री मानने की प्रेरणा देता है, उसी तरह राष्ट्रीयता का क्रमिक विकास ही अन्तरराष्ट्रीयता की सुन्दर व पूर्ण परिणति है।

कवि की भावनाएं मानव मात्र की हितचिन्तक तथा मानव मात्र में स्वस्थ भावनाओं की उद्बोधक बन गयी हैं। कवि की भावी कल्पना विश्व-परिवार की ऐसी पूर्ण कल्पना है, जिसमें समस्त मानव समाज समता, न्याय तथा सुख-शान्ति को प्राप्त कर सकेगा। जिस प्रकार देश के भीतर रहते हुए भी प्रत्येक प्रान्त की एक भौगोलिक

---

१ नीलकुसुम, पृ० ९१।
२ रेती के फूल, पृ० ८९।

सीमा होती है, अन्तरराष्ट्रीयता में राष्ट्रीय सीमाओं का मात्र इतना ही भौगोलिक महत्त्व शेष रहेगा—

हिलती वसुंधरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी।
अपने में सिमटी हुई पलित,
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।
छिलके उठते जा रहे नया अंकुर मुख दिखलाने को है।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा आकाश नया आने को है।

कवि केवल भारत का ही कवि नहीं है वरन् उसका काव्य उसे विश्व-कवि का गौरव प्रदान करने की क्षमता रखता है। मानव मात्र में अन्तःप्रेरणा फूँकने वाला कवि दिनकर वास्तव में दिनकर के समान ही समस्त विश्व को आलोकित करने की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील है। वह आशावादी कवि है। उसे विश्वास है कि वर्तमान में फैली हुई अन्धकार की घटाओं को विदीर्ण कर भविष्य का भोर नवीन आभा लिये आयेगा।

सप्तम किरण

दिनकर—एक मूल्यांकन

दिनकर—एक मूल्यांकन

एक दुस्तर कार्य

महाकवि दिनकर की काव्यगत राष्ट्रीय भावनाओं को कुछ पढ़ने, कुछ समझने तथा कुछ खोजने के उपरान्त कवि का जो भावात्मक स्वरूप हमारे हृदय में बन चुका है, उस स्वरूप को विद्वान् आलोचक व साहित्यिकों के परिप्रेक्ष्य में रख, उसका वास्तविक मूल्यांकन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। किसी कवि का वास्तविक मूल्यांकन कोई सहज कार्य नहीं है, उसमें भी समकालीन कवि का मूल्यांकन तो बहुत ही दुस्तर होता है। यही कारण है कि अनेक प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक दिनकर के सम्बन्ध में अभी खुलकर अपने विचार प्रकट नहीं कर पाते, फिर भी इस दिशा में अनेक आलोचकों का मौन भंग हुआ है। उसी सीमित तथा अपर्याप्त सामग्री को लेकर किया गया हमारा यह प्रयास अपूर्ण ही कहा जायेगा।

कवि का कार्य काल की सीमा से परे होता है। काल की दूरी के साथ-साथ विचारों का महत्त्व बढ़ता चला जाता है। चिरन्तनता की यही कसौटी है। स्थायी साहित्य जितना प्राचीन होगा, उतना ही अधिक प्रिय एवं मूल्यवान् होगा। साहित्य के इतिहास में अनेक विद्वान् लेखक, साहित्यकार और कवि ऐसे हो गये हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी के चमत्कार व प्रभाव को अपने जीवनकाल में बढ़ता हुआ नहीं देखा, अपनी प्रशंसा को अपने कानों से नहीं सुना, परन्तु समय के साथ-साथ उनका मूल्य आँका गया।

क्योंकि जिस तरह अति निकट से आँखें किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भलीभाँति नहीं देख पातीं उसी प्रकार समकालीन महाकवियों का गौरव-गान समय की कुछ सीमा के बाद निश्चय ही कहीं अधिक मुखरित होता है। महाकवि दिनकर का मूल्यांकन हम स्वाभाविक रूप से उतना नहीं कर सकेंगे, जितना कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ करेंगी।

उदय और परिस्थिति

काव्यक्षेत्र में आते-आते दिनकर जिस विशेष काव्य प्रतिभा, ओजस्वी शब्द-राशि तथा रुचिंकर शैली को लेकर आगे बढ़े, उसमें एक नया चमत्कार और जादू भरा था। यही कारण था कि उस नवोदित कवि का, जिसके पैर न तो वर्तमान में जमे थे और न जिसका कल्पनात्मक भविष्य बन पाया था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने अमर हिन्दी साहित्य के इतिहास में उल्लेख करने का लोभ सँवरण न

कर सके। उदय के साथ इतिहास की कड़ी में जुड़ जाना दिनकर के इसी जादू का परिणाम था। उनके उदय के साथ हिन्दी कविता के युग को एक नया मोड़ मिला, समाज को नये भाव मिले, और मिली राष्ट्र को एक नई चेतना, जिसका कुछ उपहार भी हम प्राप्त कर चुके हैं। प्रसिद्ध आलोचक मन्मथनाथ गुप्त के शब्दों में—

"हिन्दी साहित्याकाश में दिनकर का उदय एक असाधारण घटना है। वे हमारे युग के सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि हैं। एक कवि के नाते उन्होंने हुंकारमयी वाणी से एक बार समस्त हिन्दी-भाषी जनता और साहित्यिक जगत को झकझोर दिया। दिनकर की कविता में सामाजिक उत्पीड़न, बेबसी और वेदना का क्रन्दन नहीं बल्कि उनके विरुद्ध गर्जन भी सुनाई देता है। उसमें भारत के गौरवपूर्ण अतीत की झाँकी, राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक वैषम्य, अनैतिकता के प्रति विद्रोह, प्रकृति का भावुकतापूर्ण आख्यान तथा प्रेम और शृंगार का मादक रूप, सभी विद्यमान है।"[1]

दिनकर के आते-आते साहित्य में एक नया आलोक आया, जो दिनकर में दिनकर की सार्थकता को स्पष्ट घोषित कर रहा था। जिस प्रकार दिनकर की प्रभात किरणों के आलोक से रज-कण, स्वर्ग-कण तुल्य चमकने लगता है, उसी प्रकार कवि की लेखनी रूपी किरणों के मंगल स्पर्श द्वारा पृथ्वी से स्वर्ग तक की प्रत्येक वस्तु कंचन की तरह चमक उठी। युग की प्रेरणा और पुकार को वहन करने वाली वाणी ही युग का मंगल कर सकती है। काव्याकाश में प्रखर तेज के साथ उनका उदय हुआ। सरस्वती के मन्दिर में अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ दृढ़ पद रखते हुए कवि ने प्रवेश किया है और उसने देवी की पूजा में जो काव्य कुसुमांजलि अर्पित की, उसकी मधुमय सुरभि से हमारा काव्योपवन सुवासित हो उठा।

दिनकर के उदित होते ही उषा सी एक सुनहरी आभा सर्वत्र छिटक गयी। समाज में नवजीवन का संचार हुआ। प्रकाश के अभाव में मुरझाते हुए भाव फिर से लहलहाने लगे। दिनकर के उदय का समय एक ऐसे नवल प्रभात का समय था, जिसमें युग को एक नये पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी, एक नये आलोक की आकांक्षा थी। दिनकर इसी गुण-गरिमा को लेकर बीसवीं शती के प्रतिनिधि कवि के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुए।

दिनकर बीसवीं सती के प्रथम चरण के बाद हिन्दी काव्य जगत में अवतीर्ण हुआ, जब हमारी सुप्त, मूर्च्छित और सामाजिक राजनीतिक चेतना ने अँगड़ाई ली थी और जन-गण का हृदय उज्ज्वल भविष्य की कल्पना से आलोकित हो उठा था। वह युग प्राचीन और नवीन युग की सन्धि-वेला को पीछे छोड़ आया था और उसके अन्तर में नवचेतना, नूतन आकांक्षा, नवीन स्फूर्ति और नई अभिलाषा थिरक रही

---

[1] आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि रामधारीसिंह दिनकर।

थी। वह नवयुग का नवल निर्मल प्रभात था। दिनकर ने युग के स्वर में स्वर मिलाकर राग अलापा। उसके काव्य में बन्धन से मुक्ति पाने की आकुलता, युग वैषम्य के प्रति तीव्र असन्तोष और अतीत की गौरव-गरिमा का गर्व व्याप्त है। अतीत गौरव की सुनहरी पृष्ठभूमि पर वर्तमान की दयनीयता का चित्र, जिसे कवि ने अपने भावों के रंग और शब्दों की तूलिका से खींचा हैं, एक अभिनव निखार ले चमक उठा है।[1]

जिस समय काव्य के क्षेत्र में दिनकर उदित हुए, हिन्दी साहित्य की तत्कालीन परिस्थितियाँ यथार्थ से आँखें मूँदकर कल्पना के लोक में विहर रही थीं। छायावाद की शीतल काल्पनिक छाया में कवि-मंडल कविता की नई सृष्टि में भटक रहा था। ऐसे समय समाज के लिए दिनकर एक वरदान बनकर आये। राष्ट्र में छायी हुई निराशा की घनघोर मेघराशि को चीरकर, जिन परिस्थितियों में दिनकर आये, उस परिस्थिति का भावपूर्ण वर्णन एक आलोचक के शब्दों में—

"साहित्यिक दृष्टि से दिनकर का उदय एक गहरी निराशा के युग में हुआ था। उस युग में जो कुछ मिलती थी, वह थी गहरी अस्पष्टता, गहरा धुँधलापन और प्रत्येक वस्तु को एक नई दृष्टि से देखने का गहरा मोह। वैयक्तिकता को प्रधानता दी जा रही थी। समाज उपेक्षित पड़ा था। अन्तर्जगत की प्रहेलिकाओं में कवि उलझता जा रहा था। वहिर्जगत की समस्याओं को सुलझाने का कोई नाम तक न लेता था। सारा साहित्य व्यक्तिगत निराशा, व्यक्तिगत वेदना और व्यक्तिगत वास्तविकता की दुरूह एवं कल्पनात्मक अभिव्यक्तियों से भरता जा रहा था। इन कवियों ने सूक्ष्म को पकड़ा, पर उसे स्थूल रूप न देकर इतना वायवी बना दिया कि वहिश्चक्षु क्या, अन्तश्चक्षु भी उसका पता न पा सके। इनका निवास अन्तरिक्ष में था, पैर आकाश में थे। कल्पना ही की प्यास इन्हें सताती थी। कल्पना लोक के इन जीवों को कल्पना की ही भूख लगती थी। आकाश की खेती से उत्पन्न काल्पनिक खाद्यान्न लेकर कल्पना के ही चूल्हे पर काल्पनिक खिचड़ी तैयार की जा रही थी।"[2]

कला का धनी, भावों का जादूगर

दिनकर के पूर्व का अधिकांश हिन्दी-काव्य मात्र कुछ बुद्धिजीवी साहित्यिकों के मनोरंजन व चिन्तन का साधन था, किन्तु जैसे ही क्षितिज के उस पार से दिनकर की राष्ट्रीय भाव रश्मियाँ फूटीं वैसे ही साहित्य का सम्बन्ध मानो जनसाधारण से जुड़ गया। द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता दिनकर के माध्यम से, एक सुनिश्चित उद्देश्य को लेकर अधिक परिष्कृत रूप में कला और भावों के नये मूल्यों को लेकर जन-जन

---

[1] प्रताप साहित्यालंकार, रश्मिरथी समीक्षा।
[2] कामेश्वर शर्मा, दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि।

में नये ओज और तेज के साथ राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने का कारण बनी। प्रसिद्ध विद्वान् साहित्यकार एवं आलोचक श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु के शब्दों में "दिनकरजी जब काव्य के क्षेत्र में आये, उस समय हिन्दी कविता की दो धाराएँ स्पष्ट थीं। एक धारा छायावादी काव्य की, जिस पर यह आक्षेप था कि वह वास्तविकता से दूर है, दूसरी धारा राष्ट्रीय कविताओं की, जो वास्तविकता की अत्यधिक आराधना करने के कारण कला की सूक्ष्म भंगिमाओं को अपनाने में असमर्थ थी। दिनकर के काव्य ने पाठकों का ध्यान विशेष रूप से इसलिए आकृष्ट किया कि उन्होंने कला को वास्तविकता के समीप ला दिया, अथवा यों कहें कि राष्ट्रीय धारा की कविताओं में उन्होंने कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भंगिमाएँ उत्पन्न कर दीं। दिनकरजी में शक्ति और सौन्दर्य का जो मरिग-कांचन संयोग दिखाई पड़ा वही उनकी कीर्ति का आधार बना।"[1]

नवोदित कवियों का काव्य छन्द, भाव और भाषा की दृष्टि से प्रारम्भ में प्रायः अपरिमार्जित तथा क्षीण होता है, किन्तु दिनकर का हृदय कवि बना नहीं, वह कवि रूप में ही उत्पन्न हुआ। उनकी कविता शब्द-जाल-मात्र नहीं, अपितु उनकी कविता का प्रत्येक शब्द हृदय से प्रस्फुटित वह उद्गार है जो अनायास ही सुनने वाले को प्रभावित किये बगैर नहीं रहता। कला और भाव का यह सामंजस्य बहुत कम कवियों में दृष्टिगत होता है। राष्ट्रीयता को कला और भावों के जिन आभूषणों से कवि ने सुसज्जित किया है, सम्भवतः तूलिका का धनी चित्रकार भी उसे इतना अलंकृत नहीं कर सकता। कला का धनी और भावों का जादूगर दिनकर से बढ़कर चमत्कार कोई नहीं दिखा सकता। दिनकर का प्रत्येक शब्द स्वयं ज्योतिर्मान है। आशा, साहस और उत्साह को जगाने वाला प्रत्येक शब्द उसके काव्य में सहज रूप से प्रयुक्त हुआ है। उसकी भाषा सशक्त है। भाषा में ओज तथा भावों में गम्भीरता सर्वत्र झलकती है।

"भाषा की दृष्टि से दिनकर का अपना एक स्थान है सम्भवतः हिन्दी साहित्य में अनुपम, अन्यतम। भाषा का वह ओज (जो भूषण से भिन्न है), वह प्रसाद (जो गुप्त, पंत से भिन्न है), उसकी वह सरलता (जो बच्चन से भिन्न है) हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। सम्भवतः दिनकर ही एकमात्र प्रयाग है, जहाँ यह त्रिवेणी-संगम दृष्टिगोचर होता है। गति के साथ मन दौड़ने लगता है। भावना के साथ भुजाएँ फड़क उठती हैं। भाषा फिसलती हुई चलती है, बरबस जिह्वा पर बस जाती है। दिनकर की भाषा की यह रवानी और यह ओज हिन्दी में चिराग लेकर ही खोजने पर कहीं मिल सकते हैं। भाषा में अन्तर को छू देने वाली शक्ति, लहू को गर्म कर देने वाली वही उष्णता

---

[1] आलोचना, जून १९६५।

ग्रौर चित्र पर चित्र उपस्थित कर देने वाला वही कौशल दिनकर में मिलता है। उसमें पुरोधा की शंख ध्वनि का उद्घोष है, अग्निहोत्री का मंत्रोच्चार है।[1]

दिनकर की राष्ट्रीय भावनाएँ विश्व साहित्य के इतिहास में अपना अनुपम स्थान रखती हैं। राष्ट्र के लिए भरी गयी उनकी हुंकार किसी भी नरपुंगव कवि की हुंकार से अधिक सशक्त है। रेणुका के कण-कण से उठनेवाला कम्पन अणुशक्ति से भी कहीं अधिक धरती को कँपाने का साहस रखता है। निराशा की भंयकर से भंयकर परिस्थितियों में आशा के भावों का इतना धन सम्भवतः कुबेर भी नहीं बिखेर सकता। दासता की जंजीरों में बँधे हुए शासन-चक्र के अधीनस्थ, उपजीविका का वहन करते हुए दिनकर के हृदय से निकली हुई चिनगारियाँ बन्दीगृह में बन्द किसी भी क्रान्तिकारी के उद्गारों से कुछ कम नहीं हैं। किन्तु दिनकर का कवि कोरा भावुक नहीं है। उसमें विचार व चिन्तन की मात्रा भी अत्यधिक है। उसका काव्य युग की आवश्यकताओं का कल्पवृक्ष बनकर हिन्दी की गोद को हरा-भरा कर रहा है। उसने हिन्दी की राष्ट्रीय कविता में वह अमृतत्व भरा है, जिससे उसका साहित्य युगों-युगों तक अमर रहेगा। माखनलाल चतुर्वेदी के हृदय से निकला हुआ आशीष उन पर अक्षरशः चरितार्थ हुआ और दिनकर का काव्य, समय के पृष्ठ पर स्थायी रूप में अंकित हो गया है—"दिनकरजी की पंक्तियों को मैंने पढ़ा है और उनकी कविता में प्रतिविम्बित होने वाली मनोदशा को पढ़कर मैं कह सकता हूँ कि उनमें एक अत्यन्त मीठा कवि अपने हृदय के मस्ताने वैभव को लेकर छुपा बैठा है। हिमालय को पढ़कर कौन ऐसा सहृदय है, जिसके हृदय में पथरीले और बर्फीले हिमालय के लिए आत्माभिमान और आत्मगौरव के स्वाद का अनुभव नहीं होता? हिमालय की ख्याति उसकी मार्मिकता का सबसे पुष्ट प्रमाणपत्र है। कवि ने हिमालय के जीवन को हमारे राष्ट्र के वर्तमान के साथ इस प्रकार अभिन्न रूप से संयुक्त कर दिया कि वह हमारी जननी का हिम-किरीट हमारे लिए अमर बन गया। संस्कृति के गहने और सूझ के वस्त्रों को पहनकर ऐसा ही दिनकर किसी दिन वर्तमान में उथल-पुथल मचाती सी, भविष्य में संकेत बनकर जाती सी और वर्षों के पश्चात् भी भूतकाल में सुनाई देती-सी हमारी हिन्दी के अंचलों में समय की ध्वनि बन सके। यही माँग मैं अपने प्रभु से करता हूँ। दिनकर के साथ मेरी हिमायत है। समय के पृष्ठ पर उन्हें यह लिखना है कि मेरी यह हिमायत, मोह है या उनके नगपति की तरह कोई स्थायी वस्तु है।"[2]

राष्ट्रीय चेतना का अग्रदूत

दिनकर के हृदय से निकले हुए उद्गार अपेक्षित रूप से कहीं अधिक परि-

---

१ कामेश्वर शर्मा, दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि।
२ रेणुका, भूमिका।

मार्जित, सशक्त तथा अपार ओज और तेज को लेकर प्रस्फुटित हुए। कवि की यह जन्मजात प्रतिभा नये निखार तथा यथार्थवादी आदर्शों की नई चेतना लेकर जनता के सामने प्रस्तुत हुई। साहित्य और समाज का सम्बन्ध कहीं और अधिक गहरा हो गया। मैथिलीशरण गुप्त के बाद जन-जन का सहज दुलार दिनकर को मिला और दिनकर नये युग के राष्ट्रीय प्रतिनिधि कवि के रूप में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपार विचार और चिन्तन की भावाम्बुधि को लेकर प्रकट हुए।

इतिहास के पृष्ठों में महाभारत की ऐतिहासिक घटना उससे भी अधिक प्रचण्ड भावी युद्धों से धूमिल पड़ सकती है किन्तु दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' युद्ध-पिपासु मानव के मस्तिष्क में बने प्रश्नवाचक चिन्ह का सदैव सुन्दर समाधान प्रस्तुत करता रहेगा। उसके 'रश्मिरथी' का सामाजिक दर्शन सदैव समाज की दुर्बलता को झकझोर कर उसे नई स्फूर्ति व तेज प्रदान करता रहेगा। उसकी 'परशुराम की प्रतीक्षा' किसी भी दुर्बल राष्ट्र को सशक्त बनाने की क्षमता रखती है।

बुझती हुई शिखा को ज्वाला में परिणत कर देना, दुर्बलता को सबलता में बदल देना, दबी उमंगों को नया साहस और उत्साह देना, नसों में मंद गति से बहने वाले रुधिर के प्रवाह में नई गति भर देना, कल्पना के आकाश में उड़ने वाले पक्षी को उसी वेग से धरती पर दौड़ने की क्षमता देना दिनकर की अपनी स्वाभाविक विशेषता है।

"दिनकर का राष्ट्रीय दर्शन व चिन्तन किसी भी दार्शनिक के चिन्तन से कम महत्त्व नहीं रखता। दिनकर के काव्य में अतीत के आदर्श, वर्तमान की करुणा तथा भविष्य की सुनहरी आशाएँ स्पष्ट रूप से झाँकती हैं। उनका काव्य अपने आप में एक इतिहास है, एक दर्शन है तथा राष्ट्र का एक सशक्त मनोविज्ञान है। राष्ट्र की समग्र शक्तियाँ दिनकर के काव्य में अन्तर्निहित हैं। उसका काव्य अतीत की शक्ति को लेकर नव निर्माण के लिए उत्सुक है। उसके काव्य की आत्मा अतीत की है, श्वास वर्तमान के हैं।

"दिनकर जाग्रत पौरुष का गायक है। उसने हृदयमान धरती के अग्नि गीत से अपने काव्य का शृंगार किया है, उसने युग को नया आलोक, नई प्रेरणा दी है, उसने जीवित मृतकों को भैरव हुंकार से जगाया है। उसे वर्तमान की ऊष्मा ने विकल बनाया है तो अतीत की वेदना ने करुण, कोमल। वह कभी शोषित पीड़ित की आर्त्त पुकार को सुनकर विष वमन करता है तो कभी विषमता के सुदृढ़ दुर्ग को देख विपथगा को आमन्त्रण देता है।"[1]

सामयिक नहीं, चिरन्तन

वर्तमान के धरातल पर अतीत की तूलिका से भविष्य का चित्र खींचने वाला

---

[1] शिवचन्द्र शर्मा, दिनकर और उनकी काव्य-प्रवृत्तियाँ।

चतुर चितेरा सामयिक साहित्यकार की लांछना से कदापि लांछित नहीं हो सकता। वह सदैव सामयिक समस्याओं के साथ-साथ चिरन्तन समस्याओं को लेकर आगे बढ़ा है। उनकी समस्याएँ मानव के समक्ष बार-बार रूप बदल कर उपस्थित होने वाली, वह शाश्वत समस्याएँ हैं, जिनका स्थायी समाधान दिनकर के साहित्य में उपलब्ध होता है! उन समस्याओं का सम्बन्ध जितना अतीत से रहा है, वर्तमान से है, उतना ही भविष्य से भी रहेगा।

दिनकर के साहित्य को अस्थायी या सामयिक कहकर उपेक्षा करने वाले आलोचकों ने उनके काव्य का या तो सम्यक् अनुशीलन नहीं किया या वे पक्षपात या पूर्वाग्रह के शिकार रहे हैं। अपने जन्मस्थान की छोटी सी परिधि से ऊपर उठकर दिनकर के कवि ने विश्व के कण-कण का स्पर्श किया है। वह जितना संकुचित व सूक्ष्म है उतना ही विशाल और महान् है। गंगा से बोल्गा तक उसकी विचारधारा बहना जानती है। हिमालय का उत्तुंग शिखर स्वयं उसकी वैचारिक उत्तुंगता को नाप रहा है। हमारा राष्ट्रकवि वही हो सकता है जो कमल और कुठार का समन्वय स्थापित करे, जिसकी जिह्वा में हिमालय की ऊँचाई और गंगा की पवित्रता का निवास हो तथा जो शाप और शर दोनों की सार्थकता सिद्ध करे। दिनकर के काव्य की गति इसी दिशा की ओर है और वे अपने हृदय की सबसे बड़ी भक्ति इसी भावना के प्रति अर्पित करते हैं। राष्ट्र कोई वह मूर्ति नहीं है, जिसका निर्माण सामयिकता के हाथों होता है, वरन् वह तो हमारे अर्जित संस्कारों का नाम है। दिनकर राष्ट्रकवि इसलिए हैं कि वे राष्ट्रीयता के इस मूल रूप के प्रति भक्तिमान् हैं। उनके काव्य में जीवन के प्रति श्रद्धा, कर्म के प्रति उत्साह, राष्ट्र के प्रति भक्ति में समस्त राष्ट्रीय गुणसम्पन्नता भरी है।

सामयिकता का जो अंश भूत और भविष्य, दोनों से सम्बद्ध है, वह नहीं मरता। दिनकर की सामयिक रचनाओं में भी जिनका सम्बन्ध भारतीय नहीं, बल्कि सभी मनुष्यों की स्वतन्त्रता से है, जिन कविताओं की प्रेरणा मनुष्य के मौलिक अधिकारों की पवित्रता से आयी है, जहाँ वे मनुष्य की उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिस शक्ति से वह अन्याय का विरोध और अत्याचार का सामना करता है। वे रचनाएँ तब तक जियेंगी जब तक मनुष्य के समाज में स्वाधीनता और स्वत्व-रक्षा के लिए संघर्ष जारी है।[1]

यदि गम्भीरतापूर्वक हम दिनकर के सम्पूर्ण काव्य-कलेवर पर सूक्ष्म दृष्टिपात करें तो हमें निश्चय ही ऐसी समस्याओं के समाधान उनमें मिलेंगे, जिनका स्थायी मूल्य स्वीकार करना ही होगा। उनके काव्य में प्रायः उन्हीं चिरन्तन सम-

---

1 शिवचन्द्र शर्मा, दिनकर और उनकी काव्य-प्रवृत्तियाँ।

स्याओं का मौलिक समाधान प्रस्तुत किया गया है, जिन गुणों की आवश्यकता समाज को सदा से रही है और रहेगी। यही कारण है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में शरणार्थी समस्या या इसी तरह की सामयिक किन्तु अस्थायी समस्या पर उनकी लेखनी नहीं चली। उनके साहित्य में स्वतन्त्रता, सामाजिक विषमता, आर्थिक समानता, युद्ध और शान्ति, मानवता और बढ़ती हुई भौतिकता पर ही सशक्त विचार यत्र-तत्र मिलते हैं।

दिग्भ्रमित नहीं दिग्द्योतक

साहित्य के क्षेत्र में जलने वाली प्रत्येक दीप-शिखा की ज्योति को दिनकर ने आत्मसात् किया है। भावों का विभिन्न प्रकार का सौन्दर्य, कला के विविध रंग, दिनकर के काव्य में सहज सुलभ हैं। वह एक पूर्ण कवि है। इसीलिए पूर्ण राष्ट्रीय कवि होते हुए भी कवि ने उर्वशी के रूप में नर-नारी के सहज स्नेह के दर्शन भी हमें कराये हैं। परन्तु वह इसमें लिप्त नहीं है। वह अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य से विमुख नहीं हो सकता। उसे दिग्भ्रमित कहने वाले स्वयं ही दिग्भ्रमित हो चुके हैं। ऐसे आलोचकों की आशंकाएँ 'परशुराम की प्रतीक्षा' के प्रकाशन के बाद स्वयं ही पश्चात्ताप करती प्रतीत होती हैं। कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण सजग दिनकर प्रत्येक प्रकार की भावनाओं, रीतियों, मर्यादाओं, वादों, विचारों और छन्दों का एक सुन्दर समन्वयात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। वह प्रगतिवादी है, किन्तु छायावाद की आभा नहीं छोड़ सका। वह प्रगतिवादी है किन्तु प्रयोगवाद का प्रशंसक, समर्थक तथा अनुगामी भी है। इस तरह दिनकर समग्र शक्ति, तेज और प्रकाश का वह परम पुंज है, जो आने वाली पीढ़ी को सही दिशा का ज्ञान करा सकता है। स्वयं ऐसी आपत्ति करने वाले आलोचक ने भी दिनकर के काव्य की आत्मा को पहचान कर कई जगह उसका उत्तम मूल्यांकन किया है।

भारत नाम से जो भी आस्तिकता, आध्यात्मिकता, तपस्या, बलिदान, शक्ति और शूरता तथा परमार्थ और पुरुषार्थ की व्यंजना होती है, दिनकर-काव्य के वे ही आधार हैं। दिनकर ने छायावाद से वैयक्तिकता, रोमाण्टिसिज्म तथा अभिव्यक्ति शैली के कुछ अंश लिये। प्रगतिवाद से कोलाहल, गति और सामयिकता के कुछ अंश ग्रहण किये। दिनकर की कविता में दोनों का मिश्रण दिखाई देता है। दिनकर की कला, सीपी से निकले हुए मोती की तरह, समाज की मिट्टी से उद्भूत एक सुन्दर लता के सदृश है, जिसने शून्य में विकास पाया है। दिनकर के काव्य में, सामाजिक तत्त्व निहित हैं। उसमें मिट्टी की सी गंध व्याप्त है, लोक जीवन की बांसुरी है।[1]

दिनकर काल बंधन से मुक्त है। वह अजेय है, उसके हृदय का विश्वास सागर

---

[1] कामेश्वर शर्मा, दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि।

से भी कहीं अधिक गहरा है। उसके भविष्य की आशा पूर्व से उगने वाली ज्योति से कुछ कम नहीं। उसका समस्त काव्य जागृति; उत्साह, साहस, बल, ओज और तेज को बिखेरता आगे बढ़ता है। उसका सम्बन्ध जन-जीवन से उतना ही घनिष्ठ है, जितना दृश्य जगत से भौतिक दिनकर का। एक आलोचक ने उसके काव्य का मूल्यांकन इस तरह किया है—

उसकी कविताओं का मनुष्य शक्ति-सम्पन्न सामर्थ्यवान् होता है। वह संघर्षों से घबराता नहीं, जटिलताओं से ऊबता नहीं, बल्कि संघर्षों से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। उसमें पुष्टि आती है। दिनकर हिन्दी के नये युग के प्रथम कवि हैं, जिन्होंने मनुष्य में सदैव आशा की ज्योति भरी और देखी है। निराशा के अंधकार को पास नहीं आने दिया। उन्होंने मनुष्य का ईमानदारी पूर्वक एक सबल युगस्रष्टा की भाँति अध्ययन किया है। उनकी कमजोरियों का नब्ज टटोला है। सबलताओं की पहचान की है, उसके सच्चे विकास का अंदाज देखा है और प्रगति के बोझिल पग देखे हैं, साथ ही प्रगति का अहं परखा है। दिनकर की कविता में भक्ति काल का विश्वास, रीतिकाल का विकास और आधुनिक काल का विकास निहित है।[1]

दिनकर के सम दिनकर हैं

दिनकर का उपनाम स्वयं में कवि की सुन्दर व्याख्या है। यह शब्द स्वयं ही कवि के काव्य का परिचायक है। उनका प्रकाश, तेज सभी दिनकर की प्रखरता को लिये हुए है—

दैदीप्यमान प्रभापुंज जाज्वल्यमान ज्योतिष्पिण्ड का नाम दिनकर है। दिनकर भारत की राष्ट्रीय साधना का मूर्तिमान् विग्रह हैं। समय की करवट और उसकी अंगड़ाइयों का भूचाल और ववंडर के ख्वाबों से भरी हुई तरुणाई का नाम दिनकर है।[2]

डॉ॰ सावित्री सिन्हा ने अपने 'युगचारण दिनकर' में दिनकर का मूल्यांकन सभी दृष्टिकोणों से नये मानदण्डों के आधार पर किया है। उनका आलोच्य विषय विस्तृत है, फिर भी उसमें दिनकर के काव्य की आत्मा को समझने का स्तुत्य प्रयास है। दिनकर के व्यक्तित्व का आकलन उनके सुन्दर शब्दों में—

दिनकर के व्यक्तित्व में धरती पुत्र का आत्मविश्वास और दृढ़ता, साहित्यकार की अनुभव-प्रवणता, दार्शनिक का तत्त्व-चिन्तन तथा राजपुरुष का ओज और तेज है। दूसरे शब्दों में, उनके जीवन की कहानी हल, हंसिया, लेखनी और पार्लियामेण्ट की बैठकों की कहानी है। उनके बाह्य व्यक्तित्व में भी क्षत्रिय का तेज, ब्राह्मण का अहं, परशुराम का गर्जन और कालिदास की कलात्मकता है।

---

१ प्रो॰ शिवबालक राय, दिनकर।
२ भुवनेश्वरनाथ मिश्र, दिनकर, भूमिका।

अपनी संस्कृति, अपने आदर्श

ऊपर की पंक्तियों में दिनकर के मूल्यांकन का मापदण्ड अन्य आलोचक तथा प्रमुख साहित्यकार रहे हैं, किन्तु दिनकर का मूल्यांकन तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि हम स्वयं दिनकर द्वारा निर्धारित मापदण्ड पर भी स्वयं उनको ही न कसें। नीचे दिनकर के मूल्यों पर ही दिनकर-काव्य का मूल्यांकन किया जायेगा।

दिनकर चाहे राष्ट्रीय हों चाहे अन्तरराष्ट्रीय, उनकी आत्मा भारतीय संस्कृति से सर्वथा अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति और महाकवि दिनकर का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा सूर्य और पूर्व दिशा का। पौर्वात्य संस्कृति के महान् साधक कवि के रूप में दिनकर की कीर्ति सदैव अमर रहेगी। जहाँ उनके काव्य में संस्कृति बोलती है, वहाँ उनमें मानवता का श्रम भी स्पष्ट रूप से बोलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह श्रम उनकी क्रियाशीलता का परिचायक है। वह रुकना नहीं जानता, निरन्तर संस्कृति के प्रकाश को लेकर आगे बढ़ना जानता है। दिनकर अन्तरराष्ट्रीय कवि भी हैं किन्तु सबसे पहले वे पूर्ण राष्ट्रीय हैं। इसलिए उनके काव्य में अपनी मानव संस्कृति प्रतिभासित होती है। अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग, अपनी धरती की मिट्टी के प्रति उनका प्रेम, अपने गाँवों के प्रति उनकी करुणा यत्र-तत्र बिखरी हुई दृष्टिगोचर होती है। वह आँख मूँदकर औरों के पीछे चलने की बात कभी नहीं सोच सकते। विदेशी संस्कृति और सभ्यता के भौतिक आदर्श उन्हें रंचमात्र भी मोह नहीं सकते। अन्य संस्कृति की उदात्त भावना उनकी भारतीय संस्कृति में पूर्व से विद्यमान है। यदि उनकी संस्कृति में किसी वस्तु का अभाव है तो वह है पाश्चात्य संस्कृति के भौतिक मूल्यों का, जो आध्यात्मिक मूल्यों से पूर्णतः विमुख तथा वर्ग विशेष से स्नेह और वर्ग विशेष से घृणा का पाठ पढ़ाती है। इसीलिए भारत के समस्त कवियों का ध्यान अपनी संस्कृति की ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से लिखे गये दिनकर के ये विचार प्रेरणादायक हैं, साथ ही दिनकर के अपने विचारों का वास्तविक मूल्य हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं—

"भारत की मिट्टी कहती है कवि! तुम्हारा जन्म मेरी कोख से हुआ है। चाहिए तो यह था कि तुम पहले मेरा पात्र भरते। मेरे पात्र से उफन कर जो रस बाहर को बह जाता, वह दुनिया का होता। लेकिन हाल ठीक उल्टा है। तुम पहले विश्व का पात्र भर रहे हो, और उससे छिटक कर गिरा हुआ रस मुझे दे रहे हो।

"विश्व के मंच पर तुम जिनका प्रतिनिधित्व करने जा रहे हो, उन्हें साथ ले लेने को लौटो मेरे कवि! गाँवों के बीच की अन्तराल भूमि कुछ कहना चाहती है। बहुत दिनों से एक गाँव दूसरे गाँव की ओर टुकुर-टुकुर देख रहा है, उनके हृदय की

व्यथाओं को देखो। बैलों को लेकर खेत से लौटने वाला किसान धीरे-धीरे क्यों चल रहा है? बागों में सावन के झूले क्यों नहीं पड़ते? बेटियाँ होली के दिन भी पुराने कपड़े क्यों पहने हुई हैं? दीवाली के दिन सुबरन के घर के चिराग शाम को ही क्यों बुझ गये? लगती हुई भैंस को मनोहर दीवाली के मौके पर भी कौड़ियों की माला क्यों नहीं पिन्हा सका? कुछ सोचते हो कवि? तुलसी चौरे पर शाम को जो दीप जला करता है, उसमें गृहिणी की कौनसी कामना बलती है? वह सुनो मंदिर में घंटे का नाद और आरती की मंगल ध्वनि भारत की शाश्वत अमरता का संदेश अन्धकार में बिखेर रही है। आरती और अजान क्या इनसे भी विलक्षण काव्य-द्रव्य कहीं और है?

"प्रवासी कवि! तुम्हारे गीत कालर, टाई और धुले कपड़े के गीत हैं। उनमें इत्र और फुलेल की खुशबू है। सोंधी मिट्टी की महक नहीं। धान के नये कोमल पत्तों की हरीतिमा नहीं। गाँव की मिट्टी तुम्हें बुलाती है।"[1]

महान् प्रेरक

दिनकर का काव्य एक महान् उद्देश्य को लेकर लिखा गया वह उपयोगी काव्य है, जिससे धरती, समाज और राष्ट्र एक सुनहरे पथ पर चलकर सुख और शान्ति का आगार बन सकता है। दिनकर का काव्य समाज के लिए एक प्रेरणा-स्रोत है, जो मनुष्य को मनुष्य बनाने की क्षमता रखता है। दिनकर का काव्य पुरुष में पुरुषोचित गरिमा को भरने का अपूर्व साहस सँजोये है। स्वान्तः सुखाय कल्पना के सागर में गोते लगाने वाला काव्य अपने आप में भले ही कितना ही सुन्दर क्यों न हो पर जीवन में उसका क्या महत्त्व है? दिनकर का काव्य कल्पना का काव्य नहीं है। उसकी कल्पना जीवन बनाने की कल्पना है। उसके भाव यौवन में यौवन भरने के लिए मचलते हैं। उसका चिन्तन मेधा को भी नई मेधा प्रदान करता है।

काव्य का वास्तविक मूल्यांकन कला और भावों के साथ उसके उद्देश्य से बहुत अधिक सम्बन्धित होता है। निरुद्देश्य काव्य सामाजिक जीवन में मनोरंजन से अधिक कोई महत्त्व नहीं रखता। किन्तु दिनकर के काव्य की प्रत्येक भावना एक उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ी है। सोद्देश्य कला के महत्त्व को दिनकर के ही शब्दों में समझने का प्रयास उचित होगा। इसी कसौटी पर कवि के काव्य का मूल्यांकन भी हो जायेगा।

"जिसने ऊँचा चढ़कर जीवन की छाया तटी का एक दृष्टि में पर्यवेक्षण किया है। जिसने जन्म के पूर्व और मरण के पश्चात् की रहस्य-लीलाओं पर कल्पना दौड़ाई है। जिसने उदय और अस्त में जन्म और यवनिका-पतन का रूपक देखा है।

---

[1] 'तुम घर कब आओगे कवि?'—मिट्टी की ओर, पृ० २०१।

जिसके सामने नये अध्याय खुले और पुराने बंद हुए हैं उसकी वृत्तियाँ इतनी हल्की नहीं हो सकतीं कि वह मेघों सा निरुद्देश्य मँडराता फिरे। फूलों और पक्षियों के साथ अलस-क्रीड़ा में मग्न रहे। जिसने अधिक से अधिक सहानुभूतियाँ प्राप्त की हैं, अपने को अधिक समीप से पहचाना है वह अधिक से अधिक बलवान् कवि है। उसके लिए कविता केवल जीवन की समीक्षा नहीं रह जाती प्रत्युत गम्भीर अनुभूतियों के प्रभाव से वह संसार के अर्थों की टीका, जिन्दगी की उलझनों की तस्वीर और उसकी समस्याओं का हल भी बन जाती है। सच्चा काव्य जाग्रत पौरुष का निनाद है। सच पूछिये तो प्रेरणा और भावुकता के आलोक में जगमगाने वाली दार्शनिक अनुभूतियाँ महान् काव्य का मेरुदंड है। साहित्य के समग्र इतिहास में भी वही कवि विजयी हुआ, जिसकी कृतियों में मनुष्य की संस्कृति के लिए अधिक से अधिक स्पष्ट संदेश था। काव्य की सबसे बड़ी मर्यादा इसमें है कि वह राष्ट्र की आधिभौतिक उन्नति और विकास तथा उसके स्थूल इतिहास के ऊपर कोमल और पवित्र आकाश बनकर फैलता रहे। किसी दूरस्थ शंक की भाँति ध्वनित होकर हमारी वृत्तियों को जो गगनोन्मुख किये रहे। जाग्रत युग के स्वप्न फूलों से नहीं, चिनगारियों से सजाये जाते हैं।"

समझौता नहीं, संघर्ष

चिनगारी भरे भावों से खेलने की अपेक्षा जीवन के शृंगार भरे भाव किसी भी कवि के लिए कहीं अधिक सुखद होते हैं। राष्ट्रीय कवियों का जीवन जिनके उग्र भावों के कारण कभी-कभी बहुत अधिक खतरे में पड़ सकता है। दिनकर के समक्ष भी विदेशी शासक की कोप दृष्टि का यह खतरा सदैव बना रहा। कल्पना के आलोक में उड़कर सहज में कवि बनने की गौरव-गरिमा प्राप्त करना उनके लिए अधिक सुलभ था, किन्तु कला के महानतम उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ने वाला कवि क्योंकर इस जटिल मार्ग पर उद्यत हुआ![1]

इसका कारण स्वयं कवि के शब्दों में बहुत अधिक स्पष्ट है। किसी भी काव्य का मूल्यांकन करते समय तत्कालीन परिस्थितियों की उपेक्षा करना कवि के साथ अन्याय होगा। तत्कालीन जटिल परिस्थितियों के मध्य कवि का मूल्यांकन, सोने में सुगन्ध का कार्य करता है। इस प्रकार कवि की कर्त्तव्य-निष्ठा ही उसका वास्तविक मूल्य हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है।

साधना या संघर्ष का मार्ग साहित्य का सबसे उन्नत अत: कठोर मार्ग है। कवि के लिए कोमल कल्पना की आराधना ही पर्याप्त नहीं होती, उसे संघर्षशील जीवन के बीच प्रविष्ट होकर मनुष्य की अधिक मनोदशाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मेरा आग्रह यह नहीं कि कवि अपने हाथ की बांसुरी फैंककर तलवार या

---

१ 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न'—मिट्टी की ओर।

राजनीति की पताका उठा ले। साहित्य न तो केवल मिट्टी है, न आकाश। वह ऐसा ईथर है जो धरती के ऊपर छाया रहता है। कवि अगर अपने युग में आदर पाना चाहता है तो उसे अपने आस-पास की घटनाओं का ख्याल करना ही पड़ेगा।[1]

युगों के दर्पण में कविता कामिनी का अपार्थिव रूप देखकर शून्य में पंख खोलकर उड़ने की इच्छा जरूर हुई, परन्तु इसे देश की अपमानित मिट्टी का प्रभाव कहिये या मेरा अपना भाग्य दोष कि कल्पना के नन्दन कानन में भी मिट्टी की गंध मेरा पीछा नहीं छोड़ सकी। देश माता का सस्य श्यामल आंचल सिर्फ इसीलिए सुन्दर नहीं लगा चूँकि उसमें प्राकृतिक सुषमा निखर रही है, वरन् इसलिए भी कि उसके साथ भारतीय किसानों का श्रम, उनकी आशा और अभिलाषाएँ लिपटी हुई हैं।[2]

राष्ट्रीयता के कर्णधार

दिनकर का कवि स्वप्न के आलोक में भटकना नहीं जानता, न वह कल्पना के लोक में ही विचरण कर सकता है। उसका कवि परिस्थितियों से आँख मूँदकर चल ही नहीं सकता। वह तो भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी मार्ग खोजता है। कवि युग का मार्गदृष्टा है। वह जन-जन के हृदय का खिवैया है। राष्ट्र की नौका को परिस्थितियों के तूफानी सागर से खींचकर सुनिश्चित दिशा की ओर ले जाने की क्षमता रखता है। कवि दिनकर सदैव राष्ट्र के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। राष्ट्रीय नौका को तूफानों के बीच खेने का प्रयास सदैव उन्होंने किया है। उनके हृदय में अतीत की गौरवमयी स्मृतियाँ, वर्तमान के कर्त्तव्य की पुकार तथा भविष्य की सुनहरी आशाएँ रही हैं। दिनकर के शब्दों में कवि की जो पूर्ण और सुन्दर परिभाषा है, दिनकर पर्णतः उसके अनुरूप ही हैं।

"कविता ने संसार की बड़ी सेवा की है। वह दुःख में आँसू, सुख में हँसी और समर में तलवार बनकर मनुष्यों के साथ रही है। मनुष्य की चेतना को ऊर्ध्व-मुखी रखने में कविता का प्रबल हाथ रहा है। स्वयं कवि ही पारिजात का वह पुष्प है, जो स्वर्ग का सन्देश बन पृथ्वी पर उतरा है। कवि जड़ विश्व को अपने स्वप्न सें रँगने वाला चित्रकार है। संसार उसकी कल्पना में अलौकिकता प्राप्त करता है। सफल कवि दृश्य और अदृश्य के बीच का सेतु है, जो मानवता को देवत्व की ओर ले जाता है। कवि ! तुम अतीत की स्मृति, भविष्य की आशा और युगधर्म की पुकार हो।"[3]

कवि-कुल-भूषण

कवि दिनकर के राष्ट्रीय भावों का वास्तविक मूल्यांकन करने के उद्देश्य से

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ० १०२।
[2] वही, पृ० १६२।
[3] वही, दृश्य और अदृश्य का सेतु, पृ० ५४।

हमने विश्व साहित्य की प्रमुख भाषाओं तथा भारत की इतर प्रान्तीय भाषाओं के काव्य का परिचय प्राप्त किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभी भाषाओं के राष्ट्रीय साहित्य में जो राष्ट्रीय भावनाएँ यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं उनमें कोई भी भावना ऐसी नहीं है, जिसे महाकवि दिनकर ने न छुआ हो।

निज भाषा के अहं के लांछन से बचने मात्र के उद्देश्य से यदि हम कवि दिनकर को समस्त राष्ट्र-कवियों में सर्वश्रेष्ठ न भी कहें तो भी यह निश्चित है कि दिनकर समस्त भाषाओं के परम श्रेष्ठ राष्ट्रकवियों में से एक हैं, जिन्हें किसी भी भाषा के श्रेष्ठ राष्ट्रकवि के समकक्ष रखा जा सकता है। माँ भारती के लिए यह परम गौरव की बात है।

उपसंहार

दिनकर का काव्य स्वयं में राष्ट्रीयता की एक सुन्दर परिभाषा है। राष्ट्र की परिस्थितियों तथा दुर्बलताओं की जो प्रतिक्रिया दिनकर के हृदय पर हुई, उसी प्रतिक्रिया की प्रतिध्वनि दिनकर के काव्य में फूट पड़ी है। प्राचीन भारत का गौरव-मय इतिहास अपनी सूक्ष्म गरिमा को लेकर दिनकर की वाणी से मुखरित हुआ है। दिनकर समाज के परम चिकित्सक बनकर जनता के सम्मुख प्रस्तुत हुए हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सभी क्षेत्रों में समाज के जर्जर शरीर में दिनकर ने नया स्वास्थ्य एवं नव-यौवन भरने का महान् प्रयास किया है। कवि ने विस्फारित नयनों से जो कुछ देखा और अपने कानों से जो कुछ सुना, उसी दृष्टि से उन परिस्थितियों में एक यथार्थवादी मार्ग को खोजने का प्रयास किया।

कवि के सामने एक परम पुनीत संस्कृति का अपार भण्डार पड़ा था। हिमालय की कन्दराओं में, गंगा-यमुना के पावन जल में तथा गण्डकी की तरंगों में, ऐतिहासिक खण्डहरों में भारत की संस्कृति उन्हें सदा से प्रेरणा देती रही है। यही प्रेरणा उन्हें आदर्शों की ओर आकृष्ट करती चली आयी है।

दासता की शृंखला में आबद्ध देश की व्याकुलता को उसने वाणी दी और दी एक ऐसी स्फूर्ति जो स्वातन्त्र्य संग्राम को सशक्त बनाने में सहायक हुई। विदेशी सत्ता को चुनौती देने वाले भारत माँ के सपूतों को उसके काव्य से प्रेरणा मिली।

स्वतन्त्रता के बाद भी उसका कवि अपने कर्त्तव्य की ओर पूर्ण सजग है। राष्ट्र को तेजस्वी व मनस्वी बनाने की एक कल्पना उसके हृदय में है और उस कल्पना को साकार किये बिना वह चैन नहीं लेगा।

वर्तमान के यथार्थ धरातल पर अतीत के आदर्शों से भविष्य की सुनहरी सृष्टि का निर्माण उनकी कविता का मुख्य ध्येय रहा है। दिनकर का कवि न तो किसी की प्रशस्ति गाने वाला चाटुकार कवि है, न स्वान्तःसुखाय कल्पना के व्योम में विहरने वाले कोरे काल्पनिक कवि का अनुमोदक है, वरन् वह जिस समाज और राष्ट्र का

अविच्छिन्न अंग है उन्हीं के दुःख-दर्दों की तस्वीर खींचने वाला एक शाब्दिक चतुर चित्रकार है, जो यथार्थ की तूलिका से भावनाओं का रेखाचित्र खींचकर उनमें आदर्शों का सुनहरा रंग भरना चाहता है। दिनकर का काव्य मनोरंजन के कुछ क्षणों में किया गया सृजन नहीं है, किन्तु वह कवि से कठोर जीवन की साधना का सुन्दर फल है। कवि की भाषा और शब्द चयन राष्ट्रीयता का एक सुन्दर शब्द-कोष है। उनके काव्य में वीरता, शौर्य, पराक्रम, साहस, उत्साह तथा उमंगों से भरा हुआ एक ऐसा अमृत है, जिसका पान कर कोई भी राष्ट्र अमृतत्व के गौरव को प्राप्त कर सकता है। दिनकर के काव्य दर्पण में प्रत्येक राष्ट्र अपनी दुर्बलता को और मनुष्य अपनी विषमता को स्पष्ट रूप से देख सकता है। किन्तु उसका काव्य कोरा प्रति-बिम्बात्मक दर्पण मात्र नहीं है। उसमें एक ऐसी तस्वीर भी अंकित है, जिसे देखकर राष्ट्र और समाज दोनों ही अपने को सँवार सकते हैं।

ग्रीष्म-काल की भरी दुपहरी में, मरुभूमि पर उठता हुआ झंझावात दिनकर की 'रेणुका' में स्पष्ट चित्रित है। पूर्णिमा की चन्द्रिका में उफनते सागर का दृश्य 'हुंकार' में अनायास ही दिखाई देता है। घनघोर घटा के बीच चमचमाती दामिनी के दर्शन 'सामधेनी' की यज्ञ-शिखा में स्पष्ट रूप से हो जाते हैं। धरती को सँवारने के लिए तथा उसमें नई शक्ति का निर्माण करने के उद्देश्य से आने वाले भूकम्प और बाढ़ का रूप 'कुरुक्षेत्र' में स्वत्व रक्षा के लिए की गयी युद्ध घोषणा में स्पष्ट झलकता है। दीर्घावधि तक मेघाच्छन्न भास्कर बादलों को चीरकर अपनी तीव्र प्रचण्डता से जिस प्रकार धरती के कीटाणुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, सामाजिक दोषापहरण के लिए 'रश्मिरथी' का यही रूप सामने आता है। तूफानी वर्षा के उपरान्त गगन मण्डल में अपनी सप्तरंगी छटा छिटकाती हुई मनमोहिनी इन्द्रधनुषी आभा 'उर्वशी' की रेखाओं में बरबस बस गयी है। किन्तु 'हुंकार' सा गर्जन, 'रेणुका' सा प्रभंजन, 'सामधेनी' का सा दीपन, 'कुरुक्षेत्र' का सा कम्पन आदि समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत कर वह प्रचण्ड दिनकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' में सम्पूर्ण ओज और तेज को लेकर अपनी ऊष्मा से समाज और राष्ट्र की समस्त दुर्बलताओं और विषमताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर धरती पर नये स्वर्ग की सृष्टि करने के लिए मचल रहा है।

यही कुछ दिनकर का राष्ट्रीय काव्य है। हिन्दी साहित्य को सुसम्पन्न करने में दिनकर किसी भी महान् कवि से पीछे नहीं कहे जा सकते। हिन्दी साहित्य का इतिहास महाकवि दिनकर का सदैव ऋणी रहेगा।

आधार ग्रन्थों की सूची

१.	रेणुका	श्री दिनकर
२.	हुंकार	"
३.	सामधेनी	"
४.	कुरुक्षेत्र	"
५.	रश्मिरथी	"
६.	नीलकुसुम	"
७.	धूप और धुआँ	"
८.	बापू	"
९.	चक्रवाल	"
१०.	नीम के पत्ते	"
११.	रसवन्ती	"
१२.	द्वन्द्वगीत	"
१३.	उर्वशी	"
१४.	नये सुभाषित	"
१५.	कोयला और कवित्व	"
१६.	परशुराम की प्रतीक्षा	"
१७.	मिट्टी की ओर	"
१८.	संस्कृति के चार अध्याय	"
१९.	अर्द्ध नारीश्वर	"
२०.	रेती के फूल	"
२१.	विश्व साहित्य की रूपरेखा	श्री भगवतशरण उपाध्याय
२२.	विश्व साहित्य	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
२३.	विश्व काव्य-शैली	श्री यतीन्द्रनाथ, एम० ए०
२४.	प्रगतिवाद—एक समीक्षा	डॉ० धर्मवीर भारती
२५.	आज का भारतीय साहित्य	साहित्य अकादमी
२६	भारतीय भाषाओं का आधुनिक साहित्य	डॉ० राजकिशोरजी पाण्डे
२७.	मराठी साहित्य का इतिहास	श्री नारायण वासुदेव गोड़ बोले
२८.	गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी
२९.	तेलुगु और उसका साहित्य	श्री हनुमच्छास्त्री

३०.	विश्व काव्य की रूपरेखा	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
३१.	आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि— रामधारी सिंह दिनकर	श्री मन्मथनाथ गुप्त
३२.	आधुनिक कवियों की काव्य साधना	श्री राजेन्द्रसिंह गौड़
३३.	उर्दू साहित्य का इतिहास	सैयद एहतिशाम हुसैन
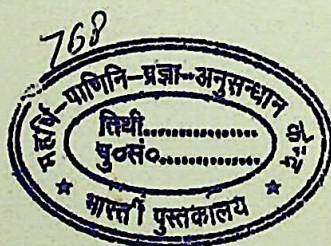
सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

क्रम	ग्रन्थ	लेखक
१.	वेद	
२.	मनुस्मृति	
३.	हिन्दी कविता में युगान्तर	डॉ० सुधीन्द्र
४.	आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ	डॉ० नगेन्द्र
५.	निबंधनिचय	श्री व्रजकिशोर मिश्र
६.	स्वाधीनता को चुनौती	श्री शान्तिप्रसाद वर्मा
७.	हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास	डॉ० शम्भुनाथ सिंह
८.	काव्य कला तथा अन्य निबन्ध	श्री जयशंकर प्रसाद
९.	साहित्य और संस्कृति	डॉ० रामविलास शर्मा
१०.	काव्य धारा	श्री शिवदान सिंह चौहान
११.	प्रगतिवाद की रूपरेखा	श्री मन्मथनाथ गुप्त
१२.	दिनकर	प्रा० शिवबालक राय
१३.	दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि	प्रा० कामेश्वर शर्मा
१४.	दिनकर की काव्य प्रवृत्तियाँ	श्री शिवचन्द्र शर्मा
१५.	दिनकर की काव्य साधना	श्री मुरलीधर त्रिपाठी
१६.	युगचारण दिनकर	डॉ० सावित्री सिन्हा
१७.	जनकवि दिनकर	डॉ० सत्यकाम वर्मा
१८.	आलोचना	
१९.	साप्ताहिक हिन्दुस्तान	
२०.	धर्मयुग	